विषय-सूची

प्रकाशक की ओर से

मानव जीवन के समुत्कर्ष तथा विकास के लिए साहित्य एक पवित्र एवं प्रभावकर साधन है। साहित्य के अनेक प्रकारों में प्रवचन और भाषण भी एक महत्त्व-पूर्ण अंग है।

प्रस्तुत पुस्तक 'साधना के मूल मन्त्र' एक प्रवचन पुस्तक है। इसमें उपाध्याय कविरत्न श्रद्धेय अमरचन्द्रजी महाराज के प्रवचनों का संकलन एवं सम्पादन है। पुस्तक का नाम यद्यपि प्रवचन कला का परिचायक नहीं है, तथापि यह पुस्तक मानव की आचार साधना में अत्यन्त महत्त्व पूर्ण योग-दान करेगी, इसमें तनिक भी शंका को अवकाश नहीं है।

कुचेरा चातुर्मास में दिए गए प्रवचनों का संकलन और सम्पादन ही प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। कुचेरा वर्षा-वास की कहानी भी अपने आप में सरस और सुन्दर है। भीनासर सम्मेलन में ही अजमेर का वर्षा-वास स्वीकृत हो चुका था। एतदर्थ उपाध्याय श्री जी अजमेर के लिए चल भी पड़े थे। परन्तु वयोवृद्ध मन्त्री श्री हजारीलाल जी म० का स्नेह भरा आग्रह रहा, कि आप अजमेर जाते हुए कुचेरा अवश्य ही पधारें। उपाध्याय श्री जी मन्त्री श्री जी के प्रेममय आदेश को मानकर कुचेरा पधार गए। श्रद्धेय हजारीलाल जी म० तथा स्थविर फतहचंद्र जी महाराज भी नागौर से कुचेरा तक साथ में रहे। सम्मेलन से लौटने वाले सन्त भी अधिकतर कुचेरा होकर ही पधारे। अतः कुचेरा उन दिनों सन्तों का एक स्नेह-मधुर संगम स्थल-सा ही बन गया था।

कुचेरा में एक सप्ताह ठहर कर अजमेर जाने का विचार था। परन्तु उपाध्याय श्री जी का स्वास्थ्य, जो वर्षों से गिरता आ रहा था, और अधिक खराब हो गया। अतः हिचकी और हृदय-रोग के कारण

वर्षा-वास कुचेरा में ही हुआ। श्रीयुत सेठ जवरचन्द जी गैलड़ा की प्रेरणा से देशनोक के प्रसिद्ध वैद्य भँवरलाल जी सुराणा की चिकित्सा प्रारम्भ हो गई। गैलड़ा जी की धर्म-सेवा और वैद्य जी के सत्प्रयत्न के फलस्वरूप जिस उद्देश्य से कुचेरा चातुर्मास किया गया, उसमें पूर्णतः सफलता मिली। वर्षों का बिगड़ा स्वास्थ्य कुचेरा में ठीक हुआ, यह एक एक महान् लाभ था, जिसका श्रेय कुचेरा श्री-संघ को है।

श्रद्धेय पण्डित श्रीमल्ल (सिरेमल) जी महाराज और मुनि श्री आईदान जी भी कुचेरा वर्षावास में, श्रमण संघ के महान् शास्ता श्रद्धेय उपाचार्य श्री जी की आज्ञा से, उपाध्याय श्री जी की सेवा में थे। यह एक प्रकार से स्वर्ण में सुगन्ध जैसा योग था। पण्डित जी महाराज ने उपाध्याय श्री जी के तत्त्वावधान में जो विराट स्वाध्याय तप किया वह अभूत पूर्व था। पंचाध्यायी जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ, बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य जैसे महान् आकर ग्रन्थ, सब मिलाकर लाख से ऊपर श्लोकों तथा गाथाओं का प्रातः और मध्याह्न काल में सतत चलने वाला स्वाध्याय प्रवाह अपने आप में एक अद्भुत ज्ञान-यज्ञ था। वयोवृद्ध होते हुए भी विचार दृष्टि से सर्वथा तरुण, साथ ही शास्त्रज्ञ श्री प्रेमराज जी बोहरा और श्री जवरचन्द जी साहब, प्रायः निरन्तर ही इस स्वाध्याय में रस पूर्वक भाग लेते रहे। श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी की भाषा में—स्वास्थ्य, स्वाध्याय और शान्ति की दृष्टि से कुचेरा चातुर्मास बहुत ही शानदार रहा।

पं० मुनि श्री आईदान जी एक उत्साही एवं अभ्यासी मुनि हैं। शीघ्र लिखने की कला में तो मुनि श्री जी वस्तुतः सिद्ध हस्त कलाकार हैं। उनकी इस अद्भुत कला का मूर्त रूप ही यह प्रस्तुत पुस्तक पाठकों की सेवा में उपस्थित हो रही है। मुनि श्री ने प्रायः प्रत्येक रविवार एवं पर्व दिन पर होने वाले प्रवचनों का लेखन, संकलन एवं सम्पादन किया है, एतदर्थ ज्ञानपीठ मुनि श्री का हृदय से आभारी है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में कुचेरा श्री संघ की ओर से ज्ञानपीठ को ७००) जैसी एक बड़ी रकम का सहयोग मिला है। तदर्थ ज्ञानपीठ

की ओर से कुचेरा श्री संघ शतशः धन्यवाद का पात्र है। प्रान्तीय सीमाओं को भेदकर भी कुचेरा श्रीसंघ के कितने ही मान्य सदस्य—इतनी दूर पर रहे ज्ञानपीठ के सदस्य हैं, यह हमारे और उनके लिए वस्तुतः एक स्नेहसूचक गौरव की बात है।

विजयसिंह दूगड़
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

साधना के मूल मंत्र

....

उपाध्याय, अमर मुनि

साधना है साधक का प्राण,
साधना विना न होती सिद्धि।
क्षुद्र में वन्द अनन्त असीम,
करो विकसित, हो अमित समृद्धि ॥

—: १ :—

तत्त्वमसि

जैन दर्शन आस्तिक दर्शन है। वह हर इन्सान की विराट चेतना को स्वीकार करता है, हर विन्दु में लहराता—ठाठें मारता सागर देखने का आदी है और हर स्फुलिंग के विराट ज्योतिर्पिण्ड बनने की क्षमता को स्वीकार करके चलता है। हर साधक की साधना का यही साध्य रहता है। उसके हर यम-नियम में, हर व्रत-उपवास में विराट बनने की बलवती कामना के स्वर मुखरित हैं। उसके अन्तर्मन में नित्य निरन्तर शुद्ध, बुद्ध ईश्वर बनने की भावना अँगड़ाई लेती है। भक्त, भगवान बनना चाहता है।

कुछ दार्शनिकों की यह चिन्तन-पद्धति रही है कि भक्त और भगवान् का विभेद शाश्वत विभेद है। दुनिया की कोई भी ताकत इस द्वैत को मिटा नहीं सकती। भक्त, भक्त ही रहेगा; वह भगवान् नहीं बन सकता। उसके जप, तप और साधना में वह शक्ति नहीं है कि उसे भक्त से भगवान् बना दे। वह मालाएँ फेरे या भूखों मरे, एक जन्म नहीं, अनन्त-अनन्त जन्मों तक ! फिर भी वह भक्त की श्रेणी में ही रहेगा, उस पंक्ति से एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ सकता।

तो फिर वह माला क्यों जपेगा ? हाँ, यदि किसी का दिमाग सही सलामत नहीं है, वह भले ही रटता रहे। जिसे ज्ञान की रोशनी प्राप्त है, जिसका दिमाग सोचने-समझने की कुछ भी क्षमता रखता है, उसे यह कदापि स्वीकार न होगा कि एक तो ईश्वरत्व के अचल सिंहासन पर सदा सर्वदा विराजित रहे और दूसरा अनन्त-अनन्त युगों तक भूलुण्ठित दशा में पड़ा रहे। यह गलत कल्पना उसके अन्तर्मन को छू नहीं सकती। कोई ईश्वरत्व के आसन पर विराजित रहे, इसमें हमें आपत्ति न होगी। परन्तु धरती पर खड़ा मानव अनन्त-अनन्त युग तक वहीं खड़ा रहे—इस तरह उसका ईश्वर बनने का अधिकार छीन लेना, बहुत बड़ा अन्याय होगा। हजार-हजार वर्ष की कठोर साधना करने वाला साधक अपनी स्टेज से एक इञ्च भी ऊपर न उठे, ऐसी व्यवस्था देने वाले दर्शन के मानस से पूँजीवाद की बू आती है। वास्तव में यह एकाधिपत्य साम्राज्यवाद का धार्मिक संस्करण है।

उक्त तथाकथित दर्शन ने इन्सान की अँगड़ाई लेती हुई भावना को दबोचा है, विचारों के विकास में बीच की दीवार बनने का काम किया है, मानव को आगे बढ़ने की प्रेरणा न देकर उसे पीछे की ओर ढकेला है। उसके विकास के स्रोत को अवरुद्ध कर उसे रोता और कलपता ही रखा गया है।

जैन दर्शन का चिन्तन सर्वथा विलक्षण है। उसका स्पष्ट आघोष है—"मानव, तू 'तू' नहीं, 'वह' है। आज जिस स्थिति से तू गुजर रहा है, दुःख और आपत्तियों की बाढ़ में जिस असहाय रूप से अपने हाथ-पैर छटपटा रहा है; वह तेरी अपनी स्थायी अवस्था नहीं है। तू अपने आप को भूल चुका है। अज्ञान में भटक गया है। और जब तक तू अपने को पहचान न लेगा तब तक 'तू' 'तू' है। किन्तु ज्यों ही आत्म-स्वरूप का ज्ञान हुआ कि, 'तू' 'तू' न रहकर 'वह' (परमात्मा) बन जायगा।"

पर्युषण पर्व उसी सुषुप्त चेतना को सजग करता है। आत्म-निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा छुपे विकारों को दूर करने का संदेश देता है। मानव, तू अपनी ताकत को पहचान; आत्म-दर्पण को माँज कर उसे निखार। उस शुद्ध स्वच्छ दर्पण में तेरा निज रूप प्रतिबिम्बित हो उठेगा। उसमें तू देख पाएगा—तू बाहिरी आकार-प्रकार में जैसा दिखलाई दे रहा है, वैसा नहीं है। तू तो, तू से अलग, वह है। और वह शक्ति कहीं बाहर नहीं, तेरे भीतर ही अन्तर्निहित है। ईश्वरत्व का विराट सागर तेरे अन्तर में लहरा रहा है।

भगवान् महावीर का यह अनुभव की आंच में पका जीवन-तथ्य यकायक तत्कालीन जन-मानस के अन्तस्तल में पैठ न सका। उसका अविकसित दिमाग यहाँ तक पहुँचने का साहस ही न कर सका। उसे सहसा विश्वास ही न हो सका कि हम में इतनी विराट शक्ति हो सकती है कि हम भी ईश्वर बन सकें। उन्होंने भगवान् महावीर को गालियाँ दी। अपमान भरे शब्दों से उन्हें अपमानित किया। पर वह धैर्य की अचल प्रतिमा एक क्षण भी विचलित न हो सकी। कांटों के राही ने कांटों का अनादर कब किया? उन्होंने कहा—इनका कोई दोष नहीं है। युगों के तिरस्कार, शोषण व उत्पीड़न से जीवन के अणु-अणु में दुर्बलता घुस गई है। अनन्त काल से गुलामी ने दिमाग में डेरा डाल रखा है। किसी रास्ते चलते भिखारी से कहा जाय कि चल तुझे राजा बनाएँ। भिखारी उसकी बात पर खिल-खिला उठेगा। उसे विश्वास ही न होगा कि दर दर भटक कर बेटे पोतों की दुआएँ देने के बाद रूखे-सूखे टुकड़े पाने वाला भिखारी राजा बन सकता है? वह यही सोचेगा-कहने वाला मेरी मजाक बना रहा है।

यही हीन मनोवृत्ति हमारी भी रही है। अनन्त काल से भिखारी बने आ रहे हैं। देव बने, स्वर्गीय सिंहासनों का वैभव-विलास पाया। तब भी भिखारीपन नहीं मिटा। सम्राट् बन के स्वर्णिम सिंहासन पर बैठे, फिर भी मन के भिखारीपन से पीछा न छुड़ा सके। नरक और

तिर्यञ्च में भी यह भिखारीपन साथ ही रहा। अब यह जीवन के अणु-अणु में इस बुरी तरह घुल मिल गया है कि महत्ता की ओर देख भी नहीं सकते।

क्षुद्र पोखर विराट सागर की कल्पना भी कैसे कर सकता है? यदि छोटे पोखर से कहा जाए कि अनन्त जल-राशि का विशाल लहराता सागर ठाठें मार रहा है तो वह उसे मजाक ही समझेगा। अग्नि के स्फुलिंग को ज्योतिर्पिण्ड की कहानी सुनाना, पागल बनना है। जुगनू के लिए प्रकाश पुंज की कल्पना केवल कल्पना है, इसके अतिरिक्त उसका कोई मूल्य नहीं है, इन सब के लिये विराट कल्पना करने वाला केवल बढ़ा-चढ़ाकर बातें करने वाला बातूनी है, गप्पी है।

क्षुद्र अपने क्षुद्रता के घेरे को तोड़ कर आगे बढ़ने का साहस ही नहीं कर सकता। किसी भी विराट रूप की कल्पना उसके लिये महज एक सिर दुखावा है। जो तुच्छता में बन्द हैं, तंग दायरे में कैद हैं, यदि वे विराट तथ्य को न समझ सकें या अपने से विशाल के अस्तित्व को संदेह की नजरों से तोलें तो कोई आश्चर्य न होगा। जातिवाद, वर्गवाद और पन्थवाद की तंग दीवारों में जीने वाले के लिये अखिल मानव-सृष्टि में एकत्व के दर्शन पाना, असंभव नहीं तो अशक्य अवश्य है। महावीर ने मानव की मूल चेतना को झकझोरते हुए कहा है—"आत्मा एक विराट तत्त्व है। उसे विराट रूप में सोचने की आदत डालना होगा। इस चिन्तन और एकत्व दर्शन के अभाव में मैं भी एक दिन तुम जैसा ही था। वासना की गन्दी मोरियों में गल-सड़ रहा था। शूकर कूकर के रूप में अपने आपको पहचानने का आदी था। किन्तु जिस क्षण मैंने मैं और मेरे के घेरे को तोड़ कर आत्मा को केवल आत्म-रूप में पहचानने की दृष्टि पाई; उसी क्षण अन्तर में ईश्वरत्व को पा लिया। तुम सब ईश्वर की सजीव मूर्तियाँ हो। तुम सब में वह विराट चेतना जल रही है। किन्तु उस आग पर भस्म पड़ी है। उसकी ज्वाला बुझी नहीं है, दब गई है। आवश्यकता है—भस्म को दूर करने की।

राग द्वेष के कूड़े कर्कट को दूर करो, तुम स्वयं ही ईश्वर हो। पर, रेत के उस छोटे टीले को सुमेरु की विराटता के दर्शन ही कैसे कराए जायँ। जो छोटे कुटुम्ब के दायरे में बन्द रहते आये हैं, वे एक विराट कुटुम्ब की कल्पना ही कैसे कर सकते हैं। जब तक क्षत्रिय क्षत्रिय के घेरे में बन्द रहेंगे, ब्राह्मण ब्राह्मण की सीमा में अवरुद्ध रहेंगे, और अन्य वर्ग भी अपनी जात-पांत की दीवारों को चीन की सुदृढ़ दीवार मानकर चलते रहेंगे; तब तक वे कैद में हैं। यह दीवारों की नहीं, विचारों की कैद है।

मानव उस क्षुद्रता की कैद से इतना चिपट गया है कि जात-पांत के क्षुद्र घेरों से ऊपर उठकर सोचने समझने की ताकत ही उसमें नहीं रही है। जिस क्षेत्र में जाता है, वहाँ भी उस कैद को साथ लिये जाता है। ब्राह्मण अपने नाम के पीछे शर्मा लगाना कभी न भूलेगा। वैश्य अपने नाम के पीछे गुप्ता लगाना उतना ही आवश्यक समझता है, जितना रोटी खाने के बाद हाथ धोना। उसकी यह क्षुद्र घेरे में जीने की आदत सहअस्तित्व की सबसे बड़ी बाधक चट्टान है। सेवा के क्षेत्र में भी जाति-पांति की दीवारें उसे तंग कर रही हैं। सामाजिक जीवन की स्वतंत्रता में ये दीवारें रुकावट डाल रही हैं।

मेरी समाज या मेरे परिवार का व्यक्ति है तो मैं सेवा करूँ, अन्यथा सेवा के दायित्व से मैं परे हूँ—ये घिनौने कीटाणु, मानव के दिमाग को सड़ा रहे हैं। यहाँ धर्म तो क्या, मानवता ही जीवित नहीं रह पाती। साधु के बीमार पड़ने पर आप सोचें—यह किस संप्रदाय का है ? अपनी संप्रदाय का है तो सेवा आवश्यक समझें, अन्यथा नहीं। उसे छोटे बड़े के गज से मापें। बड़ों के स्वास्थ्य की चिन्ता करें। छोटों को उपेक्षणीय समझें। ये विचारों की छोटी डिबिया हैं, जिनमें मानव अपनी बुद्धि को बन्द करके रख देता है। और सेवा के पुनीत अवसर पर भी उसी क्षुद्र बुद्धि से सेवा कार्य को मापता है।

यही क्षुद्रता जीवन को दूषित बनाने वाली गंदगी है। तेरे-मेरे के द्वन्द्व से मुक्त मानव ही महामानव है। विराट चेता भक्त ही भगवान् है, दोनों में अद्वैत है।

दिनांक १२-८-५६ कुचेरा (राजस्थान)

—: २ :—

मन और मस्तिष्क का मिलन

जैनधर्म ज्ञान और क्रिया का मार्ग है। ज्ञान से जीवन में आलोक का स्वर्णिम प्रभात प्रस्फुटित होता है, विवेक दीप प्रज्वलित होता है और उससे साधना का, क्रिया काण्ड का पथ प्रशस्त होता है। क्रिया से जीवन को गति मिलती है, ज्ञान को विकसित होने का अवसर मिलता है। ज्ञान, साधना-पथ को देखने के लिए आँख देता है तो क्रिया, साधना पथ पर गति करके रास्ता तय करने के लिए पैर प्रदान करती है। अर्थ यह हुआ कि ज्ञान से जीवन में विवेक जगता है तो क्रिया से जीवन में चमक आती है। ज्ञान क्रिया को विशुद्ध बनाता है तो क्रिया ज्ञान को चमकाती है। इधर पत्र, पुष्प एवं फलों से लदी शाखा-प्रशाखाएँ वृक्ष की शोभा को बढ़ाती हैं, तो उधर वृक्ष भी उन्हें जीवन रस प्रदान करता है, उनकी शोभा में अभिवृद्धि करता है। जल से कमल पल्लवित होता है; तो कमल से जल और जलाशय शोभित होता है। इसी प्रकार ज्ञान से क्रिया प्राणवान बनती है, तो क्रिया से ज्ञान गतिमान् बनता है।

परन्तु जब तक साधक ज्ञान और क्रिया का उचित समन्वय नहीं कर पाता है, तब तक उसके ज्ञान में सम्यक् गति नहीं आ सकती और

साधना में विवेक नहीं जग सकता। फलतः वह साधक अंधेरी गलियों में भटक जाता है और उसके इस प्रकार भटक जाने का असर परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र पर दूर-दूर तक पड़ता है। अथवा यों कहिए कि व्यक्ति के भटकने पर परिवार भटक जाता है, समाज भटक जाता है, और कभी-कभी राष्ट्र भी भटक जाता है। आप देख ही चुके हैं—एक हिटलर के भटकने पर पूरा-का-पूरा जर्मन राष्ट्र किस तरह भटक गया।

आप देखते हैं—आज भी मन्दिरों में पूजा पाठ एवं उपासना की धूम-धाम है, उपाश्रय एवं धर्मस्थानकों में सामायिक-संवर की भरमार है, दया-पौषध आदि धार्मिक क्रिया-काण्ड की भी काफी चहल-पहल बनी रहती है। फिर भी क्या कारण है कि जीवन की मरु भूमि में हरियाली अंकुरित नहीं हो पाती ? यह जीवन का महत्वपूर्ण प्रश्न आज समाधान मांगता है। इसे नजरन्दाज नहीं किया जा सकता ! यों ही अँधेरे कोने में नहीं ढकेला जा सकता।

वास्तविक सत्य यह है कि एक दिन भारतीय साधक ने हृदय को बुद्धि से और बुद्धि को हृदय से बांध रखा था। उसका दिल दिमाग से और दिमाग दिल से संवद्ध था। अथवा शास्त्रीय भाषा में यों कहिए कि उसके जीवन में ज्ञान और क्रिया का समन्वय था। उस युग का पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक जन-जीवन विकास के ऊँचे-से-ऊँचे शिखरों पर पहुँचा हुआ था।

परन्तु वर्तमान युग की स्थिति कुछ और है। भावनाशील साधक क्रिया काण्ड कर रहा है, उसकी साधना का प्रवाह प्रवहमान है, उसका हृदय गतिशील है; परन्तु उसके मस्तिष्क एवं बुद्धि के—चिन्तन एवं मनन के द्वार प्रायः बन्द हैं; फलस्वरूप उसको साधना का स्वत्व हस्तगत नहीं हो रहा है। वह व्यर्थ ही क्रिया काण्ड की हवा में लक्ष्य शून्य होकर भूल रहा है। ऐसा मालूम होता है, मानो, साधक जहाँ-का-तहाँ

खड़ा है, या इधर-उधर भटक रहा है। उसके कदम लक्ष्य की दिशा में ठीक-ठीक अग्रसर नहीं हो पा रहे हैं।

दूसरी ओर दिमाग की दौड़ लग रही है। मनुष्य आकाश में उड़ा जा रहा है। स्वर्ग-नरक को फीता डाल-डाल कर नापा जा रहा है, सूर्य लोक एवं चन्द्र लोक को खोजा जा रहा है। विश्व की पैमायश शुरू हो गई है और ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि ब्रह्माण्ड का एक अणु जितना हिस्सा भी अनदेखा न रहे। यह सब कुछ हो रहा है, बुद्धि का विस्तार बढ़ता जा रहा है; परन्तु मस्तिष्क के साथ हृदय सम्बद्ध नहीं है, दिल दिमाग के साथ जुड़ा नहीं है। फल स्वरूप जीवन के अन्तस्तल में त्याग, तप, संयम एवं साधना का मधुर रस भर नहीं रहा है। अकेले मस्तिष्क की उड़ान का जो कुछ परिणाम ऊपर उभर कर आया है, वह घृणा, द्वेष, रक्तपात, कलह, अहंकार आदि मनोविकारों के रूप में आप सबके समक्ष है।

हाँ तो, एक तरफ दिल दौड़ा; परन्तु विवेक शून्य होकर। बिना देखे, बिना सोचे-समझे अँधेरे में भागता रहा, तो परिणाम क्या आया ? यही, कि क्रिया काण्ड चलते रहे, साधना चालू रही, पूजा की घंटियाँ बजती रहीं, स्तोत्रों की ध्वनि वायुमण्डल में गूंजती रही, परन्तु उसमें प्राण नहीं जगे, चेतना नहीं विकसित हुई, प्रकाश नहीं चमका। केवल तेली के बैल की तरह चक्कर लगाते रहे। तेली, बैल की आँखों पर पट्टी बांधकर उसे घानी के चारों ओर फिराता है। वह बेचारा दिन भर चक्कर लगाता है, चलते-चलते परेशान हो जाता है, सारा शरीर थक कर चूर-चूर हो जाता है। वह मन में सोचता है कि आज मैंने बहुत लंबा रास्ता नाप लिया है; परन्तु जब आँख की पट्टी खुली, तो वह यह देखकर खिन्न हो जाता है कि मैं तो अपने उसी स्थान पर खड़ा हूँ, जहाँ चलने से पहले खड़ा था। दिन भर चक्कर काटता रहा परन्तु एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ा। आज के साधकों का भी यही हाल है। तीस-तीस, चालीस-चालीस वर्ष से साधना कर रहे हैं, क्रियाकाण्ड में उलझ रहे

हैं, फिर भी उनका जीवन स्तर उसी अक्षांश रेखा पर खड़ा है। विकारों की अक्षांश रेखा से जरा भी आगे नहीं बढ़ पाया है। जीवन में संप्रदायों के झगड़े, परंपराओं के संघर्ष उसी रूप में बने हुए हैं। आपसी तू-तू, मैं-मैं, ऊँच-नीच आदि की जघन्य भावनाएँ ज्यों-को-त्यों सुरक्षित हैं।

आपको कई वर्ष सामायिक करते हो गए, फिर भी आपकी मनोवृत्ति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। जीवन में कषायों की, वासनाओं की ज्वालाएँ आज भी ज्यों-की-त्यों जल रही हैं। घर में जरा सी बात हुई कि एकदम पत्नी पर बरस पड़े। पड़ौस के बच्चे के साथ आपका बच्चा लड़ पड़ा, तो उसके माँ-बाप से लड़ने लगे। जिन बच्चों की बात को लेकर आप लड़ रहे थे, वे बच्चे तो दूसरे ही क्षण परस्पर हिल-मिल गए, एक दूसरे के साथ प्यार से खेलने लगे। परन्तु इधर सामायिक के साधक लट्ठ उठाए खड़े हैं, एक दूसरे पर अभद्र गालियों की बौछार कर रहे हैं। जीवन का यह विकृत रूप स्पष्ट बता रहा है, कि आप अभी तक दिल और दिमाग का सम्बन्ध अच्छी तरह जोड़ नहीं पाए हैं। यही कारण है कि धर्म के नाम पर बहुत कुछ अधर्म हो रहा है। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में बहुत-सी विकृतियाँ बढ़ रही हैं।

पर्युषण लग गए हैं। धार्मिक जीवन में एक नई हलचल शुरू हो गई है। आठ दिन के लिए हलवाई की भट्टियाँ बन्द कराई जा रही हैं, भड़भूँजे के भाड़ भी बन्द कराये जा रहे हैं, इसलिए कि धर्मार्जन का महापर्व प्रारंभ हो गया है। इस तरह पर्व के पवित्र दिनों में आरंभ का कार्य बन्द कराने की परंपरा-सी हो गई है। इधर घरों में, पर्युषण लगने के दस-पन्द्रह दिन पहले से ही, धड़ाधड़ आटा पीसना शुरू हो जाता है। कारण ? महापर्व के दिनों में चक्की चलाने में पाप होता है, फिर भले ही वह बहुत दिनों का आटा सड़ता रहे, उसमें जीव-जन्तु पैदा होते रहें, उसकी चिन्ता नहीं। यह है, एक तरफा अहिंसा की और आरंभ से बचने की दृष्टि।

उधर उपाश्रय में दया होती है और दया वालों के लिए रात भर भट्टियाँ जलाई जाती हैं। दया वालों की फौज, जो साधना के मोर्चे पर खड़ी है, तो उसके लिए राशन का भी प्रबन्ध होना चाहिए। और वह भी साधारण राशन नहीं, किन्तु खीर-मालपूवे या बादाम-पिश्ते की चक्कियाँ अथवा अन्य कितने ही तरह के मिष्टान्न। यह सब सामग्री रात को तैयार की जाती है। उसमें अनगिनत मच्छर तथा छोटे-मोटे अन्य जीव-जन्तु गिरते हैं, बहुत बड़ी संख्या में जीवों का घमाशान होता है। फिर भी यह सब धड़ल्ले से चलता है। कुछ लोगों की दृष्टि में यह सब धर्म ही है, अधर्म नहीं। पता नहीं, यहाँ वह दया धर्म की विराट दृष्टि कहाँ छिप जाती है। भड़भूंजे के भाड़, हलवाई की भट्टियाँ आदि बन्द कराने की जितनी चिन्ता है, उतनी ही चिन्ता दया-पौषध वालों के लिए पर्युषण-काल में चल रही भट्टियाँ बन्द रखने की क्यों नहीं होती? बल्कि यहाँ तो खास तौर से पाबन्दी लगाने की आवश्यकता है। क्योंकि धर्म के नाम पर इस प्रकार से हिंसा-चक्र चलाना कथमपि न्याय-संगत नहीं है।

बात इतनी ही है कि आज विवेक की आँख बन्द है। यदि आज चतुर्दशी है तो बहनें घर में बुहारी देने का, कचरा साफ करने का त्याग करती हैं, क्योंकि चतुर्दशी को बुहारी देना पाप समझा जाता है। पर वे अपने मस्तिष्क से इतना भी नहीं सोच पाती कि यदि आज बुहारी नहीं दी तो घर में कचरा जमा होगा, जीव जन्तुओं की उत्पत्ति बढ़ेगी और फिर आने वाले कल के दिन उन सब जीवों का संहार करना होगा। यदि बहनों की इतनी तैयारी हो चुकी है कि यह घर, घर में एकत्रित कूड़े-करकट से उत्पन्न होने वाले कीड़े-मकोड़ों के हवाले करके सदा के लिए अनगार संयम के पथ पर गति करेंगी, तब तो बात अलग है। ऐसी स्थिति में भले ही घर में बुहारी देने का त्याग किया जा सकता है। परन्तु जब घर में ही रहना है तो गन्दगी की अधिकता के कारण निरन्तर जीवों की उत्पत्ति बढ़ने पर एक दिन उनका सर्व-संहार

करने की अपेक्षा; यह अधिक अच्छा है कि जीवों की उत्पत्ति के कारण को ही बढ़ने न दें। अहिंसा आप से यह नहीं कहती कि आप कूड़े-करकट को साफ न करें, गन्दी नालियों को न धोएँ। वह तो कहती है कि घर में कचरा एकत्रित न होने दो, नालियों को गन्दी न बनाओ, जिससे जीवों की उत्पत्ति बढ़े और फिर आपको उनका संहार करना पड़े। अस्तु, निवृत्ति के नाम पर गन्दगी बढ़ाना, आटे आदि पदार्थों को सड़ा-गलाकर खाना धर्म नहीं है। धर्म का सम्बन्ध मूलतः बाह्याचार की निवृत्ति-प्रवृत्ति से उतना नहीं, जितना कि विवेक से है।

आज के जन-जीवन में दिल और दिमाग की एक रूपता नहीं है। नगर निवासी मनुष्यों के पास दिमाग है, सोचने-समझने की शक्ति है, तो उनके पास दिल की कमी है। और उधर ग्रामवासियों के पास दिल है, भावुकता है, श्रद्धा-भक्ति है, तो विवेक की, सोचने-समझने की कमी है। उनका हृदय खुला है, पर मस्तिष्क के द्वार बन्द हैं। पढ़े-लिखे बुद्धिवादी कोरे दिमाग को लेकर बरबाद हो जाते हैं, तो साधारण व्यक्ति केवल भावना के प्रवाह में बहकर अपना सब कुछ खो रहे हैं। उनके जीवन-दीप में भावना, भक्ति, त्याग-विराग एवं तप की बाती है परन्तु ज्ञान की ज्योति के अभाव में वह बुझी हुई सी है; इसलिए वह जीवन के किसी भी कोने में प्रकाश नहीं फैला सकती। अस्तु, जीवन में ज्ञान और क्रिया का समन्वय करके चलें तो जीवन के कण-कण में प्रकाश की रजत रश्मियाँ चमकने लगेंगी।

दिनांक
२५, ८, ५६

कुचेरा (राजस्थान)

—: ३ :—

विराट बनिए

आज जीवन में अशान्ति है, कलह है, घृणा है, द्वेष है। सब ओर एक भयंकर दावानल जल रहा है और उसमें हमारी मानवता, हमारी धर्म-चेतना, हमारी संस्कृति और हमारी सभ्यता सब कुछ जलकर खाक हो रही है।

क्या कारण है, इसका? कारण की खोज करने के लिए हमें चिन्तन-सागर के अन्तस्तल में गहरी डुबकी लगानी पड़ेगी। ऊपर-ऊपर तैरते रहने से समस्या का ठीक हल नहीं मिल सकता—अशान्ति का दावानल बुझाया नहीं जा सकता।

आज का मनुष्य अपने आप में बन्द है, सीमित है। कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो अपने शरीर की नन्हीं-सी काल कोठरी में कैद हैं। वे प्राप्त शरीर से वाहर झाँककर अपने आस-पास कुछ देख ही नहीं सकते। उन्हें चिन्ता है—अपनी ही भूख की, अपनी ही प्यास की। उन्हें चिन्ता है—अपने ही आमोद-प्रमोद की, अपने ही भोग-विलास की। उन्हें चिन्ता है—अपने ही अभाव को पूरा करने की, अपने ही रिक्त कोष को भरने की। उन्हें चिन्ता है—अपने ही सुखों की, अपने ही दुःखों की। वे शरीर के संकरे घेरे में बन्द पड़े हुए सड़ रहे हैं, गल रहे हैं। और तो क्या, वे अपने

परिवार तथा अपने बाल-बच्चों तक के दुःख-सुख की ओर यथोचित ध्यान नहीं दे पाते।

कुछ मनुष्य ऐसे हैं—जो परिवार के संकीर्ण घेरे में बन्द हैं, कैद हैं। वे अपने परिवार की सुख-सुविधा के लिए झूठ बोलते हैं, काला बाजार करते हैं। उसके लिए अन्याय करते हैं, दूसरों पर अत्याचार करते हैं। उसकी सुख-सुविधा के लिए गरीबों का शोषण करते हैं, उनका खून चूसते हैं। उन्हें अपने पारिवारिक हितों का ही ध्यान है, उनके ही मौज-शौक का खयाल है। वे अपने परिवार की अंधेरी गली में ही टक्करें खा रहे हैं। उससे ऊपर उठकर पास-पड़ोस के जीवन की ओर झांककर नहीं देखते कि उनका जीवन किस विकट एवं दुःखद परिस्थिति में से गुजर रहा है। उनके घर में कितना अभाव है, कितना दुःख-दैन्य है, कितने कष्ट हैं और वे किस तरह दुःखों की तप्त दोपहरिया में जलते-भुनते जीवन के क्षण बिता रहे हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं—जो जाति तथा समाज के सीमित दायरे में बन्द हैं। ब्राह्मण, ब्राह्मण जाति के घेरे में बन्द हैं। क्षत्रिय, क्षत्रिय जाति के दायरे में बन्द हैं। वैश्य, वैश्य जाति की कोठरी में बन्द हैं। शूद्र, शूद्र जाति की चहार दीवारी में कैद हैं। उनमें भी अनेकानेक उपजातियों का आविर्भाव हुआ; फलतः मनुष्य सिमट-सिमटकर उपजातियों के अधिकाधिक अंधेरे कोनों में बन्द होने लगा। ब्राह्मणों में कई उपजातियों ने जन्म लिया है, और उन्होंने एक-दूसरी जाति के ब्राह्मण के हाथ का भोजन करने में, पानी पीने में भी परहेज किया, एक दूसरी उपजाति के साथ विवाह सम्बन्ध करने से इन्कार किया। क्षत्रिय भी अपनी एक उपजाति से दूसरी उपजाति में रोटी-बेटी का व्यवहार करने में हीनता महसूस करने लगे। वैश्यों में भी ओसवाल, पोरवाल, पल्लीवाल, खण्डेलवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी आदि अनेक उपजातियाँ हुई और उन उपजातियों में भी अनेक उपजातियों के विष-अंकुर फूटते रहे। जैसे ओसवालों में बीसे, दसे, पाँचे, ढइये और भी न मालूम कितने भेद-उपभेद

है; जिनमें रोटी-बेटी व्यवहार नहीं होता है। श्रेष्ठता का अहंकार रखने वाली इन जाति-उपजातियों की तो बात क्या, शूद्र माने जाने वाले भी इस ऊँच-नीच के क्षय रोग से अछूते नहीं रह पाए हैं। उनमें भी कई उपजातियाँ बन गई हैं, और वे भी अपनी ही कुछ उपजातियों को अस्पृश्य मानते हैं और उनके साथ अछूत-सा व्यवहार करते हैं।

मनुष्य जातिवाद की कारा में कैद है। ब्राह्मण धर्मशाला बनाता है, तो ब्राह्मण के ठहरने के लिए या अमुक श्रेष्ठ जाति के लोगों के विश्राम के लिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य में से कोई मन्दिर बनवाता है, तो अपनी जाति-विशेष के लिए। उस धर्म स्थान में, परमपिता परमेश्वर के स्थान में, वीतराग प्रभु के दरबार में अमुक परिकल्पित श्रेष्ठ जाति वाला तो जा सकता है परन्तु अमुक जाति-विशेष से सम्बन्ध रखने वाला शूद्र या अतिशूद्र नहीं जा सकता। श्रेष्ठ मानी जाने वाली जातियाँ कुँआ खुदवाने में, तालाब बंधवाने में भी, छुआछूत के मर्ज से अलग नहीं हो पाती। वहाँ शूद्र पानी नहीं भर सकते। इस तरह मनुष्य चमगादड़ों की तरह जातिवाद की अँधेरी गुहा में ही आनन्द की अनुभूति करता है। गन्दगी के कीड़े की तरह उस दुर्गन्ध को ही सुख की सुवास मानता है। परन्तु वह अपनी जाति से ऊपर उठकर अन्य जातियों के विकास का, उनकी सुख-सुविधा का खयाल नहीं करता।

कुछ लोग ऐसे हैं—जो प्रान्तवाद के घेरे में बन्द हैं। उन्हें अपने प्रान्त की उन्नति की चिन्ता है, उसके विकास की फिक्र है। वे जो कुछ करेंगे, अपने ही प्रान्त के हित को आगे रखकर करेंगे। उनके संकीर्ण मस्तिष्क में, प्रान्तवाद का जहर इतना असर कर गया है कि वे प्रान्तीय स्वार्थ साधन में, देश हित को भुला बैठे हैं। समीपवर्ती प्रान्त के भाइयों की मैत्री-भावना को धूलि-धूसरित करके उनके जीवन-शत्रु बन गए हैं। प्रान्तवाद के दुष्परिणामों को भारतीय जनता गुजरात और महाराष्ट्र के हाल ही में हुए दंगों के रूप में बहुत कुछ देख चुकी है। प्रान्तीय स्वार्थों

में बन्द व्यक्ति, दूसरे प्रान्तों के हितों की रक्षा नहीं कर पाता और देश के तथा सीमावर्ती प्रान्तीय भाइयों की मित्रता एवं सौजन्य का सही-सही मूल्यांकन नहीं कर सकता।

कुछ आदमी ऐसे हैं—जो धर्म के नाम से पंथ, मत तथा संप्रदाय के अंधेरे तहखानों में बन्द हैं। वे धर्म के नाम पर एक-दूसरे पंथ से लड़ते-झगड़ते हैं। यहूदी और ईसाइयों के धार्मिक इतिहास के पन्ने खून से रंगे मिलेंगे। पंथ-विस्तार के लिए मुसलमानों ने कितने युद्ध किये, कितनी ही खून की नदियाँ बहाईं। एक-दूसरे पंथ के धर्म-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया, देव मूर्तियों को तोड़ा, उनके पूज्य पुरुषों को मौत के घाट उतारा और उनके धार्मिक साहित्य को जलाकर उसकी आग से रसोई पकाई। पंथ की सुरक्षा के हेतु भारत में कई बार हिन्दू-मुसलिम दंगे हुए। इस तरह मनुष्य ने मतान्ध बनकर कई बार अपने हाथों को अपने ही बन्धुओं के खून से रंगा है। पंथ के मद में उन्मत्त बने हुए ब्राह्मणों ने जैनों एवं बौद्धों को निर्मूल करने का संकल्प किया। कुछ ने राज्य शक्ति का सहारा लेकर दक्षिण और मद्रास प्रान्त में हजारों, लाखों जैन श्रमणों व बौद्ध भिक्षुओं को तलवार के घाट उतारा। पंथ के ठेकेदारों ने ही सन् १९३२ में हरिजन आन्दोलन के लिए भ्रमण करते हुए महात्मा गाँधी पर पूना में भयानक बम फेंका और अन्त में उन पंथ भक्तों ने ही विश्व-विभूति बापू की हत्या का वातावरण तैयार किया और वे उस षड्यंत्र में सफल भी हुए। इन स्वार्थी पंथ भक्तों के हाथों ही मानवता का खून हुआ, सत्य का गला घोंटा गया, और धर्म की निर्मम हत्या हुई।

पंथ अपने आप में सिमटता रहा है और धर्म विराट एवं व्यापक बनता रहा है। पंथ दूसरों के अधिकारों का अपहरण करता है, जबकि धर्म हर प्राणी के अधिकारों की सुरक्षा चाहता है। पंथ मनुष्य को पंगु और गुलाम बनाता है और धर्म मानव को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाता है, उसे सशक्त एवं स्वतन्त्र बनाता है। धर्म मानव के

जीवन में ज्ञान की, विवेक की ज्योति जगाता है; प्रेम, स्नेह, करुणा, दया-क्षमा की रस धार बहाता है; और पंथ अज्ञान का अन्धेरा फैला कर, फूट, तिरस्कार एवं घृणा के बीज बपन करता है; अन्याय, अत्याचार एवं मारकाट करने के लिये प्रेरणा देता है। धर्म के नाम पर चलने वाला पंथवाद सत्य को आधार मानकर गति नहीं करता, अपितु तथाकथित कल्पित जड़ परंपराओं एवं निष्प्राण रूढ़ियों के बल पर ही गति करता है। वह अपनी मिथ्या टेक, झूठी पकड़ एवं हठवादिता को छोड़ नहीं पाता।

इतने गहरे चिन्तन-मनन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि संकीर्ण मनोवृत्ति ही अशान्ति का मूल कारण है। मनुष्य जितना ही घेरेबन्दी के तंग दायरे में सिमटता गया, अशान्ति की ज्वाला उतनी ही अधिक प्रज्वलित होती गई। यह आँखों देखा सत्य है कि विराट धारा में प्रवहमान सरिता का निर्मल प्रवाह जब किसी एक क्षुद्र गड्ढे में बन्द हो जाता है, तो वह सड़ने लगता है, उसमें कीड़े कुलबुलाने लगते हैं। वह निर्मल नीर स्वयं सड़ता है और दूर-दूर तक के विशुद्ध वायुमण्डल को विषाक्त बना देता है, अनेक रोगों को जन्म देता है।

छोटी-सी तंग एवं बन्द कोठरी में, जिसमें प्रकाश, ताप एवं विशुद्ध हवा आने के लिए एक भी खिड़की नहीं है, मनुष्य एक दिन भी स्वस्थ नहीं रह सकता। ऐसे अंधेरे कमरे में उसका दम घुटने लगेगा, उसका शरीर क्षय के कीटाणुओं का घर बन जाएगा। बन्द मकान में मानव के प्राण सुरक्षित नहीं रह सकते।

संकीर्ण घेरे में मानवता प्राणवन्त नहीं रह सकती। अकेली बूँद अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने में सफल नहीं हो सकती। यदि बूँद को अपना अस्तित्व कायम रखना है और दूसरों की सेवा करना है, तो उसे विराट सागर बनना होगा। विराट बनकर ही वह अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकती है।

अशान्ति की दावाग्नि को बुझाने के लिए आपको व्यक्तिवाद, जाति-

वाद, पंथवाद, प्रान्तवाद के क्षुद्र घेरों की दुर्गन्ध से परिपूर्ण छोटे-छोटे गड्ढों एवं अंधेरी काल कोठरियों के व्यामोह को छोड़कर विराट बनना होगा। बूँद के समान नन्हे-से हृदय को विशाल सागर के रूप में परिवर्तित करना होगा। वस्तुतः आप अपने जीवन को विराट एवं व्यापक बनाकर ही अपने अस्तित्व को बनाए रख सकेंगे और अपने अन्य साथियों को सहारा देकर उनकी लड़खड़ाती जिन्दगियों को प्रकाश-मान बना सकेंगे। अतः आप अपने जीवन को विराट बनाएँ और इतना विराट कि आप प्रेम, स्नेह, करुणा, दया, सेवा, सद्भावना के रूप में जन-जन के मन-मन में समा जाएँ।

आप पूछ सकते हैं कि भारतीय दर्शन तो हमें अपने आप में सिमटने की बात कहता है और आप अपने को फैलाने की, विराट बनने की बात कह रहे हैं। क्या यह भारतीय दर्शन परंपरा के विरुद्ध नहीं है ? नहीं, कदापि नहीं। भारतीय दर्शन ने सिमटने की बात कही है, पर किससे ? वह, घृणा, द्वेष, अहंकार, तृष्णा, स्वार्थ, संकीर्णता आदि से सिमटने को कहता है। वह कहता है—अपने आपको अशुभ से समेटें, क्षुद्रता से समेटें, परदोष-गवेषणा की वृत्ति से समेटें। जैन-धर्म प्रेम, दया, विनम्रता, सहृदयता, सेवा, एवं उदारता से सिमटने की बात नहीं कहता, वह शुभ विचारों से सिमटने की बात नहीं कहता है। भारत की समग्र चिन्तन-धारा ने वैराग्य, संयम एवं नियंत्रण की भाषा में एक ही बात कही है कि "मनुष्य ! तू अपने आपको विकारों से, वासनाओं से, दुर्भावनाओं से समेट कर रख।"

परन्तु आज मनुष्य विपरीत दिशा में गतिशील है। वह प्रेम, स्नेह, सद्भावना, आदि सद्गुणों से अपने आपको समेट रहा है और घृणा, द्वेष, कलह, दंभ एवं संकीर्णता के मनोविकारों में अपने आपको फैला रहा है। वह अपने आपको समेटता भी है और फैलाता भी है, परन्तु उल्टी दिशा में।

अस्तु, भारतीय चिन्तकों ने कहा है कि मनुष्य है तो शरीर के छोटे-से दायरे में सीमित, परन्तु यदि वह अपने सद्विचारों की प्रभा को चतुर्दिक् फैलाता रहे, दीपक की तरह अपना ज्ञान प्रकाश दूर-दूर तक प्रसारित करता रहे, तो विराट बन सकता है। दीपक की लौ एक मिट्टी के छोटे से घेरे में सीमित रहती है, फिर भी उसका उजेला चतुर्दिक् में दूर-दूर तक फैल जाता है।

मनुष्य भी शरीर के छोटे से घरोंदे में रहने वाला एक प्रकाश कण है, परन्तु वह अपने प्रभास्वर आलोक से चारों तरफ फैला रहता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपनी प्रतिभा से सारे परिवार में फैल जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं कि वे सारे गाँव, समाज एवं राष्ट्र के जन-समूह के साथ घुल-मिल जाते है, अपने सौजन्य का प्रकाश सर्वत्र फैला देते हैं। कुछ मानव इतने विराट प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं कि वे विश्व के कण-कण में एक रस हो जाते हैं। वे जन-जन के जीवन में अपनी दया का, क्षमा का, वात्सल्य का, स्नेह का निर्मल झरना बहा देते हैं। तो भारतीय दर्शन ने अपने आपको विकारों से, दुष्प्रवृत्तियों से समेटने की बात भी कही है, और सद्गुणों की रोशनी को फैलाने की प्रेरणा भी दी है। एक महान् आचार्य ने कहा है—

"अहंता-ममता-त्यागः, कर्तुम् यदि न शक्यते,
अहंता-ममता-भावः, सर्वत्रैव विधीयताम्।"

हे वत्स ! तू अपने अहंकार एवं ममकार का त्याग कर दे। मैं और मेरेपन को समाप्त करदे। यदि तेरी इतनी तैयारी नहीं है तो शरीर और परिवार के घेरे में सिमटे हुए अपने अहंत्व एवं ममत्व को विस्तृत कर दे, सारे गाँव में—सारे समाज में—सारे देश में—और सारे विश्व में फैला दे।

हाँ तो, जैन-धर्म ने कहा कि या तो तू अपने आपको इतना समेट ले कि तुझे अपने में और मेरेपन का भान ही न रहे, या फिर अपनेपन को विश्वपन में परिवर्तित कर दे। परन्तु किसी एक किनारे पर रहना

सीख। यह गलत है कि न इस किनारे पर रहे और न उस किनारे पर, त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटकता रहे।

त्रिशंकु के सम्बन्ध में एक पौराणिक कहानी है। उसने एक बार यह निश्चय किया कि मैं स्वर्ग में चलूँ। उसका आचरण तो स्वर्ग के योग्य नहीं था। फिर भी उसने स्वर्ग जाने की ठानी और महर्षि विश्वामित्र के सहयोग से वह ऊपर को उठा, ऊर्ध्व लोक की ओर बढ़ने लगा, तारालोक तक तहुँच भी गया। परन्तु उधर देवों में कुहराम मच गया। यदि यह दुष्ट स्वर्ग में आ गया तो सर्वनाश कर देगा, अपने कृत्यों से स्वर्ग को नरक बना देगा। अस्तु, देवों ने उसे नीचे की ओर ढकेला और वह चिल्लाता हुआ नीचे गिरने लगा, तो बीच में ही रोकते हुए विश्वामित्र ने कहा, ठहरो! और कहा जाता है कि विश्वामित्र के तपोबल से वह वहीं ठहर गया और तब से वहीं अधर में लटक रहा है। इसे ऐतिहासिक कहानी के रूप में न मानकर, एक रूपक के तौर पर स्वीकार किया जाए, तो आज भी हजारों, लाखों त्रिशंकु मिल जाएंगे।

आपको ऐसे हजारों व्यक्ति मिलेंगे, जो न तो परिवार में रहकर अपने दायित्व को निभाते हैं और न उनसे अलग ही होते हैं। जो व्यक्ति जहाँ उपयुक्त नहीं है, उसे वहाँ रहने का क्या हक है? यदि आप परिवार में रहकर उसकी सेवा करते हो, किसी का पसीना बहता हो वहाँ अपना खून बहाते हो तो आप अपने गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए वहाँ रह सकते हैं। यदि आप अपने नन्हे-मुन्ने की शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकते, अपनी सन्तति की ठीक तरह परवरिश नहीं कर सकते, उसका ठीक तरह पालन-पोषण एवं संवर्द्धन नहीं कर सकते, तो आपको पिता बनने का क्या अधिकार है? भारतीय दर्शन तो यहाँ तक कहते हैं कि मनुज की तो क्या, यदि गृह स्थित पशु-पक्षी के खाने-पीने की व्यवस्था न हुई, घर का पालित कुत्ता भी बुभुक्षित है, तो गृह-स्वामी को भोजन करने का हक नहीं है। यदि कोई निर्दय भाव से

घर के पशु-पक्षियों को भूखे रखकर स्वयं अपना पेट भर लेता है, तो दर्शन की भाषा में वह व्यक्ति अन्न नहीं, पाप खा रहा है।

मैं कह रहा था, यदि आप परिवार में रहते हैं तो पारिवारिक दायित्व निभाना आपका कर्त्तव्य है। संभव है, आप अपने दायित्व को ईमानदारी-पूर्वक निभाने के कारण कभी भगवान् की माला न फेर सकें, गुरु सेवा में न पहुँच सकें, अमुक तरह का रूढ़ धार्मिक क्रिया-काण्ड भी न कर सकें। फिर भी यदि आपका जीवन सेवा में लग रहा है, तो वह भगवान् की उपासना ही है। कल्पना कीजिए, वृद्ध सास बीमार है, उसकी सेवा करने वाला दूसरा कोई नहीं है। चतुर्दशी का दिन है। बहू कहती है कि मैं दया पालने जा रही हूँ, तो मैं पूछता हूँ कि उस वृद्धा की सेवा करना दया पालना है या वह क्रिया-विशेष करना दया पालना है? स्पष्ट ही है—आपका सबसे पहला धर्म है, प्रतिदायित्व को ठीक तरह निभाना।

इसी तरह आप जिस समाज में, जिस गाँव में, जिस देश में रहते हैं, उसके कार्यों में सहयोग देना भी आपका कर्त्तव्य है। यदि समाज में कोई व्यक्ति गिर रहा है तो आप उसे सहारा देकर उठाएँ। उसके सुख-दुःख में सहयोगी बनें। यदि कोई वैभव-संपन्न बन रहा है तो उसे देखकर जलें नहीं, अपितु यह सोचकर प्रसन्नता अनुभव करें कि मेरा भाई बढ़ रहा है तो खूब बढ़े, अच्छी तरह पल्लवित हो। यदि यह पल्लवित-पुष्पित होगा तो कभी समय पर हमें भी उसकी शीतल सुवासित छाया में विश्राम करने का अवसर मिलेगा।

एक समय की बात है—हम कुछ सन्त विहार कर रहे थे। गर्मी के दिन थे, पसीने से सारा शरीर सराबोर हो रहा था, चलना कठिन-तर हो रहा था। एक वृद्ध सन्त आगे चल रहे थे। उनके कुछ दूर आगे निकलने के बाद यकायक आकाश में घटा उमड़ आई। उनके साथ चलने वाले शिष्य ने कहा—"गुरुदेव, आपकी कृपा से यह घटा उमड़ आई। परन्तु इसकी सुखद छाया का लाभ तो पीछे आने वाले सन्त भी

उठाएँगे।" गुरु ने सहज भाव से कहा—"वत्स! कोई बात नहीं, वे भी तो अपने ही हैं।"

गुरु वास्तव में गुरु ही थे। उन्होंने ऊँचाई की बात कही कि कोई चिन्ता की बात नहीं, वे भी तो अपने ही हैं, अतः उनका सुख भी अपना ही सुख है। जीवन के क्षेत्र में इतनी ऊँचाई होनी चाहिए। पड़ौसी उन्नति कर रहा है तो उसके विकास को देखकर दुःखी मत बनो। यह बात अपने विचार, उच्चार एवं आचार में मत आने दो कि "कल तक तो यह भुक्खड़ था, अन्न के दाने के लिए तरसता था। मैंने कई बार उसके घर अनाज की बोरियाँ डलवाई हैं और आज यह धन्ना सेठ बन रहा है।" इस तरह डाह करोगे तो निरन्तर अन्दर-ही-अन्दर जलते रहोगे और पहले सेवा से जो पुण्य उपार्जित किया है, उस पूँजीभूत पुण्य को भी ईर्ष्या की, दुर्भावना की आग में जलाकर भस्म कर दोगे। अस्तु, किसी के सुख से जलो मत और किसी के दुःख से आनन्दित मत होओ। प्राणी-जगत् के दुःख-सुख को अपना समझो, और जो मेरापन शरीर की काल कोठरी में बन्द है, उसे यथाशक्ति परिवार, समाज, संघ, गाँव, प्रान्त एवं राष्ट्र में विस्तृत करते रहो और उसे एक दिन सारे विश्व में फैला दो। जब आपका 'मैं' विश्व-व्यापी बन जाएगा तो फिर आप स्वयं परमात्मा बन जायँगे।

भगवान् महावीर से पूछा गया कि—"भगवन्! आपके समान कैसे बना जा सकता है?

भगवान् ने कहा—"वेयावच्चेणं तित्थयर नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ।"

उस महामानव ने दर्शन-शास्त्र की ऊँची उड़ानें नहीं बताईं, घोर तप का उपदेश नहीं दिया, क्रिया-काण्ड एवं कठोर साधना का पथ भी नहीं बताया, पर उस परमयोगी ने एक बात कही—"वैयावृत्य करके, सेवा भक्ति करके, तड़पते हुए प्राणी की दया करके, रोते हुए के आँसू पोंछकर हर कोई मनुष्य मेरे-तुल्य बन सकता है।" जब आपकी सेवा वृत्ति छोटे-

बड़े, अपने-पराये, मत-पंथ आदि के भेद-भाव को भुलाकर सबके लिए समान रूप से कार्यान्वित होने लगेगी, विश्व के कण-कण में फैल जाएगी, तब आप महावीर बन जाओगे।

अस्तु, पूर्ण शान्ति पाने का मार्ग है—सेवा-निष्ठा, एक-दूसरे के दुःख-सुख में सहयोगी बनना, गिरते हुए प्राणी को ऊपर उठाना तथा अपने अपनत्व को, अपने अहम् को, अपने ममत्व को विश्व-व्यापी बना देना।

दिनांक
२५, ८, ५६ कुचेरा (राजस्थान)

—: ४ :—

रक्षा-बन्धन : स्नेह सूत्र का प्रतीक

दुनिया के इतिहास में एक शब्द बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। संसार के सब धर्मशास्त्र उसे अपना केन्द्र बिन्दु मानकर, उसके इर्द-गिर्द घूमते रहे हैं। जैसे सूर्य और चन्द्र के चारों ओर तमाम नक्षत्र मण्डल परिक्रमा देता है, वैसे ही वह एक शब्द इतना विराट है कि अनन्त-अनन्त काल से महापुरुष उसकी साधना के लिए अपने जीवन एवं अपनी शक्ति को लगाते आ रहे हैं। अतीत के सभी धर्मशास्त्र उसके गुण गाते रहे हैं, वर्तमान के धर्मशास्त्र उसी एक शब्द को केन्द्र मानकर लिखे जा रहे हैं और अनागत काल में लिखे जाने वाले धर्म-शास्त्र उसी ज्योतिर्मान् शब्द को अपना आधार बनाकर चलने वाले हैं। अस्तु—अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल के धर्मशास्त्रों का केन्द्र बिन्दु है वह एक शब्द।

अब मैं आपको अधिक देर तक भुलावे में न रखकर बता देना चाहता हूँ कि वह शब्द कौन-सा है। वह शब्द है 'रक्षा'। वह मानव जीवन का प्राण है, जीवन का सत्त्व है, जीवन की शक्ति है और जीवन का प्रकाश है; जिसे केन्द्र मानकर दुनिया के अनन्त-अनन्त महापुरुष प्रति पद प्रेरणा पाते रहे हैं। अभिप्राय यह हुआ कि रक्षा, दया, अहिंसा

आत्मा का निज गुण है। वह मानव-हृदय की अद्भुत कोमलता है। वह मानव-मानस से प्रवाहित होने वाला शान्ति का निर्मल और शीतल निर्भर है। वह अपने आप में किसी तरह का द्वन्द्व नहीं है, परिताप नहीं है; अपितु वह दूसरों के परिताप को, दुःख-दैन्य को मिटा देने के लिए अपने जीवन को अर्पण करने की विशुद्धतम भावना है। इस तरह रक्षा, दया सदा सर्वत्र मानवता की, श्रावकत्व की एवं साधुता की उज्ज्वल प्रतीक है।

आर्य जम्बू ने आचार्य सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—"भगवन्! जब कि भगवान् महावीर राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर चुके, अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बना चुके; फिर वे निरन्तर पाद-विहार क्यों करते रहे? एक देश से, दूसरे देश में क्यों घूमते फिरे?" यह प्रश्न, प्रश्न-व्याकरण सूत्र में आया है। और आज भी यह प्रश्न मानव-मस्तिष्क में चक्कर काट रहा है कि भगवान् वीतराग एवं सर्वज्ञ बनने के बाद क्यों विचरण करते रहे? एक जगह ध्यान मुद्रा में न रहकर भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भूख-प्यास आदि अनेकानेक परिषहों को सहते हुए क्यों घूम-घूमकर जनता को उपदेश देते रहे?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य सुधर्मा ने एक ही शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा—भगवान् का विहार, भगवान् का उपदेश, प्राणी-जगत् की रक्षा एवं दया के हेतु हुआ था। मानव अपनी मानवता को विसरा चुका था। वह अपने स्वार्थ साधने में संलग्न था। वह अपने ऐश-आराम में अन्य मनुष्यों के अधिकारों का हरण कर रहा था, उन्हें उत्पीड़ित करता था, गुलाम बना रहा था। इस तरह शोषण-चक्र चल रहा था। धर्म के नाम पर पशु-पक्षी एवं मनुष्य तक यज्ञ कुण्ड में झोंक दिये जाते थे। धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड को समाप्त करके प्राणी-जगत को अभयदान देने के लिए, मानव जीवन में मानवता का संचार करने के लिए, करुणासागर भगवान् महावीर की वाग्धारा प्रवहमान हुई।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुनिया में मनुष्य; मनुष्य से अधिक भयभीत रहा है। उसे अधिकतर कष्ट मनुष्य की ओर से ही मिलता रहा है। प्रकृति की ओर से मिलने वाले कष्टों की संख्या नगण्य-सी रही है। और यदि मानव को मानव का यथावसर उचित सहयोग प्राप्त होता रहे तो मानव उन प्रकृति-जन्य कष्टों को भी सुगमता से शान्ति के रूप में परिवर्तित कर सकता है। आज से नहीं, सदा से मनुष्य प्रायः मनुष्य के उत्पीड़न से ही संत्रस्त है।

पारिवारिक जीवन को देखिए, वहाँ भय का वातावरण बना हुआ है। परिवार का हर सदस्य एक दूसरे से आतंकित है, सशंक है। हर सदस्य की अपनी शिकायतें हैं।

परिवार में सास को सदा से यह शिकायत रही है—"बहू बहुत बुरी है। वह आज्ञा का पालन नहीं करती, विनय नहीं रखती, सदा लड़ती-झगड़ती है, मुँहतोड़ जवाब देती है और मेरे विनीत एवं सेवा-निष्ठ लड़के को मेरे विरुद्ध बहकाती है।"

हजारों वर्षों से दुःख-दर्द के आँसुओं से बहू की भीगी आँखें, सास के प्रति शिकायत करती रही हैं कि—उसने एक क्षण भी सुख से नहीं रहने दिया। कभी भी प्रेम एवं स्नेह की रसधार नहीं बहाई। वह निरन्तर दबाती रही, व्यंग कसती रही, उल-जलूल बातें बकती रही और मेरे माता-पिता को भी भला बुरा कहती रही।"

इसी तरह पिता, पुत्र की शिकायत करता है और पुत्र, पिता की। छोटा भाई बड़े भाई की शिकायत करता है; बड़ा भाई छोटे की। हाँ, तो परिवार के हर सदस्य की हर सदस्य के प्रति शिकायत बराबर बनी रही है।

सामाजिक क्षेत्र भी इस रोग से अछूता नहीं रहा है। पुरानी पीढ़ी को नई पौध से हमेशा शिकायत रही है—वह उसे सदा घृणा एवं उपेक्षा की निगाह से देखती है। पुराने दिमाग जब कभी भी मिलते हैं तो उन्हीं जीर्ण-शीर्ण बही-खातों के पन्ने उलटने लगते हैं और अंध-

विश्वासों, और निष्प्राण रूढ़ परंपराओं से पूरित अतीत का चित्रण करते कहते हैं—"वह स्वर्णिम युग था, जब कि, लोग पुराने रीति-रिवाजों का निष्ठा से पालन करते थे। परन्तु आज के पढ़े लिखे छोकरे उन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देखते, उनको निष्प्राण बताते हैं। इस तरह पाश्चात्य संस्कारों की टकसाल में ढले हुए आज के शिक्षित युवक अनार्य एवं नास्तिक बनते जा रहे हैं।"

नई पौध की यह शिकायत है कि—"बुजुर्ग हमें प्रगति नहीं करने देते। वे हमारे विचारों पर, स्वतंत्र चिन्तन-मनन एवं लेखन पर रोक लगाना चाहते हैं। वे अड़ियल दिमाग हमारे चिन्तनशील मस्तिष्क को सड़ी-गली परंपराओं से जकड़ कर रखना चाहते हैं। वे स्वयं दकियानूसी विचारों के जाल में आबद्ध हैं और हमें भी उससे ऊपर उठकर सोचने समझने का अवसर नहीं देते। उन्हें क्या मालूम कि युग कितनी क्षिप्र-गति से बदल रहा है।"

राजनीति के कण-कण में भी विषाक्त कीटाणु घुल-मिल गये हैं। प्रजातंत्र का युग है। जनता सरकार की आलोचना करती है कि—"सत्तारूढ़ शासक दल ईमानदारी से दायित्व को नहीं निभा रहा है। वह अपना घर भरने का प्रयत्न करता है, अपने स्वार्थों को पूरा करने में संलग्न है; परन्तु जनता के दुःखों को दूर करने की ओर उसका ध्यान नहीं है।"

और शासक दल का सदा यही स्वर रहा है कि जनता हमें सहयोग नहीं देती। इसी तरह ग्राहक की दुकानदार से, और दुकानदार की ग्राहक से शिकायत है। मजदूर की मालिक से, और मालिक की मजदूर से शिकायत है। मुनीम की सेठ से, और सेठ की मुनीम से शिकायत है। छात्र की शिक्षक से, और शिक्षक की छात्र से शिकायत है। शिष्य की गुरु से, और गुरु की शिष्य से शिकायत है। एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के प्रति शिकायत है। एक पंथ, सम्प्रदाय या मत की दूसरे पंथ, सम्प्रदाय एवं मत के प्रति शिकायत है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को मनुष्य के प्रति बहुत बड़ी शिकायत है, प्रकृति से बहुत थोड़ी। अस्तु, यदि मनुष्य अपने सुख-दुःख के साथ दूसरों के सुख-दुःख को महत्त्व देने लगे, जन-जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास करे तथा सबके साथ भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित करके चले, तो मनुष्य के आधे से अधिक दुःख दर्द तत्काल ही दूर हो जायें। थोड़े से प्राकृतिक कष्ट रह जाते हैं, वे भी पारस्परिक सहयोग से दूर हो सकते हैं और फिर मानव लोक में सर्वत्र शान्ति तथा आनन्द का सागर ठाठें मारता दिखाई दे सकता है।

भगवान् की धर्म-देशना का अधिकारी श्रोता मानव ही है। उस प्रबुद्ध पुरुष की उपदेश गंगा मानव जीवन को सरसब्ज बनाने के लिए प्रवाहित हुई और इसी कारण उनके सारे प्रवचन मनुष्य की बोल-चाल की भाषा में ही हुए। उन्हें तो मानव जीवन को संस्कारित बनाना था, भूले भटके मनुष्य को पुनः मनुष्यता की पगडंडी पर गतिशील करना था और उसकी सुषुप्त ज्ञान-चेतना को जागृत करना था। कारण कि मनुष्य, जीवन के सही तथ्य को समझे और उसे आचरण का रूप देकर सत्य, अहिंसा एवं शान्ति की पगडंडी पर चलने लगे तो परिवार, समाज, एवं राष्ट्र में सर्वत्र शान्ति स्थापित हो सकती है। मनुष्य जब भूलें करने लगता है, स्वार्थ की ओर फिसलने लगता है, मनुष्यता की राह से भटक जाता है, तो वह इतना नीचे गिरता है कि खूंखार जानवर की भूमिका से भी नीचे पहुँच जाता है, उसके जीवन में अशान्ति का दावानल प्रज्वलित हो उठता है; उसमें वह स्वयं जलता है और परिवार, समाज, और राष्ट्र में जहाँ भी जाता है, जिसके साथ सम्पर्क साधता है, उसे भी जलाता है, संतप्त करता है।

अतः मानव-जाति के हित के लिए तथा सारे जीव-जगत की रक्षा व दया के लिए भगवान् ने प्रवचन दिया और दुनिया के हित, कल्याण एवं रक्षा के लिए ही अनन्त-अनन्त तीर्थङ्करों की वाणी प्रस्फुटित हुई। प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

"सव्व-जग जीव-रक्खरण दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं"

इतिहास बता रहा है कि रक्षा के लिए निरन्तर सात्विक संघर्ष होते रहे हैं। रक्षा का अर्थ है—प्रेम, दया, सहानुभूति तथा सहयोग। रक्षा का अर्थ, कटु जीवन को मधुरता में बदलना भी है, जिसके द्वारा अखिल विश्व में भाईचारे का मधुर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। जब मनुष्य अपने अधिकारों को बढ़ाने के लिए दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने लगता है, अपनी शक्ति से आस-पास के दुर्बल व्यक्तियों को कुचलने लगता है, प्रभुता का दुरुपयोग करता है, और इस प्रकार शक्ति ही संसार में गूंजने लगती है; तब महापुरुष रक्षा की पवित्र दैवी शक्ति से जनता के संकट को दूर करते हैं।

यह समस्या तब पैदा होती है, जबकि, मनुष्य में तमोगुण बढ़ने लगता है। वह प्रेम, सहकारिता एवं सहानुभूति की अपेक्षा पैशाचिक शक्ति पर अधिक भरोसा करने लगता है। मुगल युग की एक घटना है। दिल्ली का बादशाह हार गया और कोहनूर हीरा विजेता के हाथ में जा पहुँचा।

विजेता ने पूछा—"कोहेनूर हीरे की कीमत क्या है ?"

पराजित बादशाह ने प्रश्न को दोहराते हुए कहा—"कोहनूर की कीमत ?" और फिर धीरे से उत्तर देते हुए कहा—"एक जूता।"

विजेता इसके गूढ़ार्थ को समझ नहीं सका। उसने साश्चर्य पूछा—"इसका क्या मतलब ?"

पराजित बादशाह ने व्यंग की भाषा में कहा—"इसका अर्थ स्पष्ट है—"जिसका जूता, उसका हीरा।" एक दिन मेरे पूर्वजों ने क्षत्रिय राजाओं के हाथ से इसे जूते के बल पर छीना था। आज मेरे जूते से तुम्हारे जूते में अधिक ताकत है, इसलिए यह हीरा तुम्हारे हाथ में है। और जब तुम्हारे जूते से भी अधिक ताकतवर कोई दूसरा जूता आएगा, तो उस समय यह हीरा उसके हाथ में होगा।"

इस उत्तर में एक करारा व्यंग है, जो पाशविक शक्ति को चुनौती दे रहा है।

तात्पर्य यह है—जब लाठी, जूता या डंडा आवश्यकता से अधिक बल पकड़ता है, तब महापुरुष रक्षा का आदर्श लेकर अवतरित होते हैं। राम और कृष्ण भी रक्षा का महत्त्व लेकर आए थे। वे रजोगुण प्रकृति के थे, अतः अत्याचारों से त्रस्त मानव की रक्षा करने के लिए कृष्ण का सुदर्शन चक्र घूमा, राम का धनुष सामने आया। सुना है, किसी भारतीय पुरातत्व संग्रह में आज भी एक तलवार सुरक्षित रखी है और उस पर यह अभिलेख खुदा हुआ है—"यह तलवार गरीबों की रक्षा के लिए है।"

तलवार हिंसा का प्रतीक माना जाता है; परन्तु इस तलवार का मुद्रा लेख संसार भर के सम्राटों, सामन्तों एवं सैनिकों को यह सन्देश दे रहा है कि—"तलवार का जन्म हिंसा के लिए, व्यर्थ की मारकाट एवं लूट-खसोट के लिए तथा कमजोर देशों को परतंत्र एवं गुलाम बनाए रखने के लिए नहीं हुआ है। अपितु तलवार का आविष्कार गरीबों के रक्षण के लिए हुआ है; जिनके हाथों में अपने ऊपर होने वाले अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की शक्ति नहीं है, जो आँसू बहाते हुए उत्पीड़न सह रहे हैं, शोषण की चक्की में पिस रहे हैं, उन्हीं निर्बलों की रक्षा के हेतु तलवार का आविष्कार हुआ है।"

मैं कह रहा था कि 'रक्षा' एक ऐसा शब्द है, जिसके लिए तीर्थङ्करों ने, महापुरुषों ने उपदेश दिया। जिसके लिए कृष्ण का सुदर्शन चक्र चला। जिसके लिए दुनिया में वीरों की तलवारें चमकीं। यह बात अलग है, तलवार का गलत प्रयोग भी किया गया। और वह गलत प्रयोग केवल हथियारों का ही नहीं; अपितु शास्त्रों का, उपदेशों का, ज्ञान का और जप-तप जैसी पवित्र साधना का भी हुआ है और हो रहा है। पर, सिद्धान्त यह है कि 'रक्षा' के लिए ही सारे साधन आए।

आज का दिन रक्षा का प्रतीक है। इस पर्व का वैदिक एवं जैन वाङ्मय में समान रूप से महत्त्व है। जैन साहित्य में इसकी कथा यों है—वलि नाम के मन्त्री ने पद्मनाभ चक्रवर्ती से कुछ दिनों के लिए राज्य प्राप्त किया, और इस थोड़े से समय में ही अन्याय, अत्याचार करना शुरू कर दिया। वह सन्तों को भी सताने लगा। अपने राज्य में रहने का कर माँगने लगा। कर न देने पर प्राणदण्ड की भी घोषणा की।

जब यह खबर एक जंघाचारण मुनि के द्वारा सुमेरु पर्वत पर ध्यानस्थ खड़े मुनि विष्णु कुमार को मिली तो वे विद्या के बल से वहाँ आए और राजा से कहा—"तुम किस तुच्छ भावना के शिकार हो रहे हो ? भिक्षु का पद चक्रवर्ती सम्राट् के पद से भी ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। श्रमण गृहस्थ जीवन के सर्वस्व का त्याग करके प्रव्रजित हुआ है, वह किसी चक्रवर्ती सम्राट् के शासन में नहीं रहता। वह रहता है, एकमात्र धर्म-चक्रवर्ती सम्राट् वीतराग तीर्थंकर के शासन में।"

विष्णु कुमार मुनि के बहुत समझाने पर भी वह अपने दुराग्रह से नहीं हटा, तो मुनि ने अपने ठहरने के लिए मात्र तीन पैर जगह माँगी। चक्रवर्ती का भाई समझकर जब स्वीकृति दी, तो मुनि ने अपने कद को इतना विराट बनाया कि एक पैर में सारे मनुष्य क्षेत्र को नाप लिया। जब दूसरा पैर रखने के लिए जगह माँगी तो राजा का मस्तक चकराने लगा। उसने तुरन्त मुनि के चरणों में गिर कर, अपने अपराधों की क्षमा याचना की। तभी से यह दिन रक्षा महापर्व के नाम से विख्यात हुआ।

वैदिक साहित्य में इसी से मिलती-जुलती बात है। नाम सादृश्य भी है। वलि दैत्य यज्ञ कर रहा था। इन्द्र और देवों की रक्षा के लिए विष्णु वामन अवतार का रूप धारण करके आए और वलि से तीन पैर जगह की याचना की। जगह मिलने पर विराट रूप बनाकर तीन पैर में

तीनों लोक नाप लिए। वैदिक और जैन, दोनों साहित्य में कथा का यह प्रवाह समान रूप से प्रवाहित होता रहा है। व्यक्तियों के नाम में भी विशेष अन्तर नहीं है और भावों का विकास भी प्रायः समान रूप में हुआ है। रक्षा करनी है तो विष्णु बनना होगा। विष्णु बनकर ही रक्षा कर सकोगे।

विष्णु का अर्थ होता है—फैल जाने वाला, व्यापक बन जाने वाला। जब आप विराट बन जाएँगे, प्राणी जगत् के साथ घुल-मिल जाएँगे, सबके साथ एकाकार हो जाएँगे—चाहे वह परिवार का सदस्य हो, समाज का अंग हो, गाँव का आदमी हो, राष्ट्र का व्यक्ति हो या विश्व का व्यक्ति हो—तद्रूप बन जाएँगे, तभी आप वास्तव में संतत प्राणी जगत् की रक्षा कर सकेंगे। जब तक आपके जीवन में विराटता का उदय नहीं होगा, तब तक आपके अन्तर्जीवन में दया एवं रक्षा की भावना उद्बुद्ध नहीं हो सकती। चाहे कभी व्यवहार में भले ही आप किसी को सहयोग देकर बचाने में सफल हो जाएँ, परन्तु आपके अन्तर्मन में रक्षा, करुणा एवं दया का विराट सागर हिलोरें नहीं ले पाएगा। मन में शान्ति की सरिता नहीं बह पाएगी।

विष्णु को ठहरने के लिए तीन कदम जगह मिली। यदि उस समय वह अपने कद को विराट नहीं बनाते तो क्या वह मुनियों की रक्षा करने में सफल हो पाते? नहीं, कदापि नहीं। तो भारतीय-संस्कृति कहानी के माध्यम से यह भाव अभिव्यक्त कर रही है कि तुम बौने मत बनो। शरीर का बौनापन फिर भी इतना हानिप्रद नहीं है, जितना कि विचारों का बौनापन।

एक विदेशी डॉक्टर ने राष्ट्र-पिता महात्मा गांधीजी से बातचीत करते हुए कहा कि—"भारत के लोगों का कद निरन्तर छोटा होता जा रहा है, इसके विपरीत पाश्चात्य देशों का कद लम्बा हो रहा है।"

गांधीजी ने कहा—"आप डॉक्टर हैं, अतः आपकी दृष्टि में शरीर के कद का महत्व हो सकता है, होना भी चाहिए। परन्तु मुझे इसकी

चिन्ता नहीं है कि शरीर का कद छोटा हो रहा है। मुझे चिन्ता इस बात की है कि—मन का, विचारों का कद छोटा न बन जाए।"

परन्तु दुर्भाग्य है, आज मनुष्य के विचारों का, मन का कद इतना छोटा होता जा रहा है कि वह अपने से बाहर झाँक ही नहीं पाता।

एक व्यक्ति है, वह अपने बीबी-बच्चों की जरूरतों को तो पूरा करता है; परन्तु अपने परिवार के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं देता। वह अपने से ऊपर तो जरूर उठा, फिर भी उसका कद अपने चुन्नू-मुन्नू तक ही सीमित रहा। कहीं-कहीं यह कद परिवार तक ऊँचा उठता है; परन्तु नौकरों के साथ भेद-भाव बरता जाता है। कई स्थानों में देखा जाता है, एक ही तबे पर सेठजी के लिए अलग तरह के फुलके बन रहे हैं, तो सेठानी और चुन्नू-मुन्नू के लिए कुछ अन्य ही प्रकार के, और उसी तवे पर नौकरों के लिए जवार या बाजरे की रूखी-सूखी रोटियाँ उतरती हैं। एक ही तबे पर अलग-अलग सृष्टि का निर्माण होता है। यह मानवता का आदर्श नहीं है। भारतीय संस्कृति सब के साथ एक रूपता रखना सिखाती है। भारतीय चिन्तकों ने एक स्वर से आघोष किया कि—तुम्हारे विचार में, तुम्हारे उच्चार में एवं तुम्हारे आचार में बौनापन नहीं होना चाहिए। पहले के उपाध्याय अध्ययन की समाप्ति के बाद गुरुकुल से विदाई देते समय, अपने प्रिय शिष्यों को विदाई संदेश में कहते—

"धर्मे ते धीयतां बुद्धिः, मनस्ते महदस्तु च।"

हे वत्स, अपने धर्म-कर्म से गिरना मत। गुरुकुल में जिन संस्कारों से संस्कारित हुए हो, वैभव की गद्दी पर बैठकर उन्हें भूल मत जाना। इसी तरह गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट होकर व्यापार करो, कृषि कर्म करो, सिपाही बनकर नगर की रक्षा करो, सैनिक बनकर युद्ध में भाग लो, न्यायाधीश बनकर न्याय सिंहासन पर बैठो तो वहाँ मानवता की हमेशा याद रखना, रक्षा के अधिकार को सुरक्षित रखना, अन्याय-अत्याचार को दूर करने का प्रयत्न करना। परिवार में एकरस होकर रहना,

अपने आप में अलग मत भटक जाना। परिवार के दायरे में ही वंधे न रहकर गाँव, नगर एवं देशवासियों के साथ, और फिर क्रम से सारे विश्व के प्राणियों के साथ एक रूप होकर रहना। तभी तुम संतप्त मानव जाति की रक्षा कर सकोगे।

आपके विचारों का कद विराट होना चाहिए। यथाशक्य परिवार समाज, संघ एवं राष्ट्र के व्यक्तियों की विना भेद-बुद्धि के सेवा करें। परिवार में कोई वीमार पड़ा है, तो समभाव से उसकी सेवा में संलग्न हो जाएँ। उस समय वनियापन के विचारों को मस्तिष्क में न घुसने दें कि यह पुत्र अधिक कमाने वाला है, अतः इसका इलाज तो कराया जाए। और यह कम कमाने वाला है या निखट्टू है, अतः इसे यों ही भाग्य के भरोसे पड़ा रहने दिया जाए। आपका काम, जिस समय जो वीमार है उस समय उसकी स्नेह भाव से परिचर्या करना है।

आज रक्षा-वन्धन का दिन उसी स्मृति को ताजा करने के लिए आया है। आज आप अपने हाथ पर सूत का धागा वंधाते है। वह धागा आपसे कह रहा है—मेरी रक्षा का दायित्व अव आप पर आ गया है। आपकी कर्त्तव्य निष्ठा एवं स्नेह-सद्भावना से ही वह सुरक्षित रह सकता है।

धागा तो धागा ही है, धागे के रूप में उसका कोई मूल्य नहीं है। परन्तु राखी के रूप में वंधाने के वाद वह धागा, धागा नहीं रहा, एक स्नेह सूत्र वन गया; अथवा आप धागे से नहीं, प्रेम के तार से वंध गए। राखी वांधने वाले व्यक्ति के जीवन से वंध गए, उसके साथ एकत्व स्थापित कर लिया। या यों ही कहिए उसके जीवन का आप पर दायित्व आ गया और अव आप चन्द चान्दी के टुकड़े देकर उससे छूट नहीं सकते।

वहन से राखी वंधाने के वाद उस वहन की जीवन रक्षा का आप पर नैतिक दायित्व आ गया है। और वह दायित्व एक-दो दिन का, या महिने दो महिने का, या एक-दो वर्ष का नहीं; अपितु जीवन पर्यन्त का

दायित्व है। यदि आप में इतना दायित्व निभाने की ताकत नहीं है तो कम से कम एक वर्ष तक अथवा आगामी रक्षा बन्धन तक तो अपने दायित्व को ईमानदारी के साथ निभाएँ। अर्थात् उसके प्रति सद्भावना रखें, उसके दुःख-दर्द में सहयोगी बनें, उसके जीवन को प्रकाशमान बनाएँ, रूढ़ियों एवं सड़े-गले विचारों से उन्मुक्त बनाएँ। यही आज के पर्व का सन्देश है। यदि इसे आप जीवन में उतार पाए तो आपके पारिवारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष समाप्त हो जायँगे और विश्व में शान्ति का सागर ठाठें मारने लगेगा।

श्रावण पूर्णिमा
विक्रमाब्द, २००१३ कुचेरा (राजस्थान)

—: ५ :—

आत्म-विजय का महापर्व

आज पर्युषण पर्व प्रारम्भ हो रहा है। जैन साहित्य में, जैन ग्रन्थों में, जैन कथाओं में अनेक पर्वों का वर्णन आता है। परन्तु वे पर्व न खाने-पीने के होते हैं, न वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होने के होते हैं, न आमोद-प्रमोद के होते हैं, न राग-रंग या नाच-गान के होते हैं। कारण ? आँखें रूप, नृत्य देखकर आनन्दित होती हैं, उस आनन्द से अहंकार फूटता है और फिर राग-द्वेष की आग भभकती है। इस तरह इन्द्रियों के पोषक साधनों से वासना उभरती है।

जैन धर्म के पर्वों में यह विशेषता रही है, कि वे आपको अपने अन्दर सिमेटने की प्रेरणा देते हैं। वे मनुष्य की अन्तरंग भावना को उद्वेलित करते हैं कि तुम अपने आपको परखो, केवल बाहरी रूप-रंग की चकाचौंध में स्वयं को मत भूलो। अपने अन्दर झाँक कर देखो, कि तुम कौन हो ? क्या यह हड्डियों का ढाँचा ही आत्मा है ? मल, मूत्र, रक्त, माँस से भरा हुआ शरीर ही आत्मा है ? या आत्मा और कुछ है ? क्या जीवन में अंधकार ही अंधकार है ?

चार्वाक ने तो कहा—जो बाहर देखते हैं, वही तो अन्दर है। हड्डी, माँस, रक्त एवं मल-मूत्र आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मा

नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। न तो वह कहीं से आया है और न आगे कहीं जाने वाला है। मरने पर सब कुछ यहीं समाप्त होने वाला है। अस्तु, उन्होंने शरीर को ही केन्द्र माना और यह माना कि उसके नाश होते ही सब कुछ नाश हो जाता है। इसलिए जब तक शरीर जीवित है, तब तक उससे जितना लाभ उठाया जाए, उतना ही अच्छा है। और वह लाभ भी भोग-विलास के रूप में ही है, और कुछ नहीं। यह एक भौतिक सिद्धान्त है। इसे चाहे नास्तिकों का कहिए या चार्वाकों का। जीवन के सम्बन्ध में उनका एक सूत्र है—

"यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥"

इसके प्रथम चरण में कहा गया है,—'जब तक जियो, सुख से जियो' इसमें कोई भी दो मत नहीं है। आँसू बहाते हुए जीना भी कोई जीवन है ? नहीं। हँसते हुए, मुस्कराते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है। प्राणवान् जीवन वही है, कि मनुष्य दुःख में भी हँसता रहे, काँटों की नोंक पर चलते समय भी मुस्कराता रहे और हर परिस्थिति में आनन्द, और उल्लास के साथ जीवन विताए—इसमें किसी भी धर्म का विरोध नहीं है।

परन्तु दूसरे चरण में कहा गया है "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।" अर्थात् ऋण—कर्ज लेकर भी मौज करो। यदि आमोद-प्रमोद एवं भोग विलास के लिए पास में पैसा नहीं है, तो क्या करें ? इसके उत्तर में कहा गया कि पास में पैसा नहीं तो उधार ले लो या चोरी करो, डाका डालो तब भी कोई हर्ज नहीं है। भौतिक सुख-साधन किसी भी तरह से उपलब्ध हों—इसमें कोई दोष नहीं। फिर पूछा गया कि चोरी करते हुए पकड़े गए या ऋण लेने के बाद ऋण-दायक तंग करे, तो क्या करना ? इसके उत्तर में कुछ ऐसा कहा गया कि तुम ताकत पैदा करो और तुम्हारे कार्य में जो भी बाधक बने, उसको मारो-पीटो और समाप्त कर दो। इस पर सवाल उठा कि यहाँ तक का फैसला तो ताकत से हो

जाएगा, परन्तु जब अगले जन्म में दुष्कर्मों का फल भोगना पड़ेगा, तब क्या हालत होगी ? उत्तर मिला—कुछ नहीं। क्योंकि सब कुछ यहीं समाप्त हो जाता है, आगे जाने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता।

पहले चरण तक तो मतभेद की कोई बात नहीं है; परन्तु आगे जब मक्कारी का रूप आया तो विचार-भेद हुआ। इस सिद्धान्त को मानने वाले चाहे पुरातन युग के हों या नूतन युग के, चाहे किसी पंथ के रहे हों या यों ही बिना मत-पंथ के। हमारा मतभेद विगत एवं अनागत काल से तथा पंथों से नहीं है, हमारा मतभेद तो गलत विचारों से है, भले ही वे विचार नूतन युग के हों या पुरातन युग के। हमने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है और हमने अपनी सत्ता को विगत, अनागत एवं वर्तमान—तीनों काल में माना है। जब हमने अपनी सत्ता स्वीकार की, तो हमने पुण्य-पाप आदि भी माने और हमने यह भी माना कि चाहे कोई कितनी भी ताकत पैदा करे, चाहे दुनिया भर के मनुष्यों की लाशें बिछा दे; अन्ततोगत्वा एक दिन उसे भी जाना ही होगा और हँसी, मजाक, अहंकार के वश होकर जो कुछ किया है, उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

जीवन केवल मौज उड़ाने के लिए नहीं है। उसका उद्देश्य कुछ और भी है; परन्तु कुछ लोगों ने मौज करना ही जीवन का ध्येय बना लिया है और उसके लिए पर्वों को भी साधन बनाया गया है। इसी के फल स्वरूप पर्व के दिन कहीं शराब का दौर चलता है, कहीं पशुओं का बलिदान होता है, कहीं वारांगनाओं का नृत्य होता है। पर्व के दिनों में इन सब अकार्यों को जायज माना जाता है। किन्तु भगवान् महावीर ने इन दुष्कृत्यों का विरोध करते हुए कहा कि जो पाप कार्य दूसरे समय में जायज नहीं हैं वे कार्य पर्व के दिन कैसे जायज हो सकते हैं ? जगह या समय बदलने मात्र से कोई भी पाप, धर्म नहीं हो सकता।

इस विराट प्रकाश को फैलाने के फलस्वरूप भगवान् महावीर को बहुत कुछ सहना पड़ा। बात भी ठीक है—जब डाक्टर आँखों पर छाए

जाले को काटता है, तो पीड़ा से तिलमिला जाने वाला भोला मानव, डाक्टर को गालियाँ दे, उसे अपमानित करे, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

हाँ, तो भगवान् महावीर को जनता की ओर के गरल घूंट पीने पड़े। यही इतिहास बुद्ध के साथ भी दुहराया गया। और राम एवं कृष्ण को भी यही सब कुछ सहना पड़ा। ईसा के साथ ऐसा ही वर्ताव किया गया। ये महापुरुष अपने युग में जब रोशनी देने आए तो उस युग की जनता क्रान्ति के महा प्रकाश को सह नहीं सकी। उन्हें जनता की झिड़कियाँ सुननी पड़ीं, ईसा को तो सूली पर चढ़ना पड़ा। सूली की नोंक तो फिर भी ठीक है, परन्तु अपमान एवं तिरस्कार की नोंक सूली की नोंक से भी अधिक दुःखद है। उन अभद्र गालियों के जहर को पीना सर्व सामान्य के वश की बात नहीं है। महापुरुषों का ही हृदय था कि उस गरल घूंट को भी प्रसन्नता के साथ पी सके।

वह महापुरुष सब कुछ सहकर भी प्रकाश की रश्मियाँ देता रहा। उसने स्पष्ट आघोष किया—यदि तुम्हारा कर्म बुरा है तो चाहे किसी देश-विदेश में चले जाओ, बुरा बुरा ही रहेगा। यदि झूठ बुरा है, तो वह घर में बोला जाय तब भी बुरा है और दुकान में बोला जाय तब भी बुरा है, तो वही झूठ तीर्थ स्थान में बोलने पर अच्छा कैसा हो जायगा? इसी तरह अन्य दिनों में बोला जाने वाला झूठ बुरा है तो पर्व के दिन में बोला जाने वाला झूठ भी बुरा ही है। यही सिद्धान्त हिंसा आदि दुष्कृत्यों के लिए भी लागू होता है। बुराई सब काल और सब जगह बुरी है और अच्छाई सर्वत्र अच्छी है।

सत्कर्म, परोपकार, सेवा आदि के कार्य जहाँ-कहीं और जिस-किसी समय किये जाएँ, वे अच्छे ही हैं। इसलिए योग-दर्शन की भाषा में उन्हें महाव्रत कहा गया है। यहाँ महाव्रत शब्द से अभिप्राय साधु के पञ्च महाव्रत नहीं हैं, उसका अभिप्राय है, "जाति देश काल समयान-

वच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।" अर्थात् जो सत्कार्य जाति, देश, काल, समय आदि के बंधन से ऊपर उठकर किए जाते हैं, वे महाव्रत हैं।

सत्कार्य में जाति, देश, काल, समय का भेद करना गलत है। यह नहीं हो सकता कि अमुक जाति में होने वाली अच्छाई, अच्छाई है, पर वही अच्छाई, दूसरी जाति में की जाय तो बुराई है। इसी तरह अमुक देश में अच्छाई है, परन्तु वही अच्छाई दूसरे देश में अच्छाई नहीं रह जाती है। इसी तरह काल एवं समय के अन्तर में भी उससे इन्कार करना धर्म के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझना है।

अच्छाई सर्वत्र अच्छाई है, उसमें जाति, देश, काल एवं समय का कोई वन्धन नहीं है। जहाँ इन्सान है, वहीं अच्छाई है, शुभ कर्म है। मनुष्य चाहे समुद्र में हो, पर्वत पर हो, या जमीन पर हो, आकाश में उड़ रहा हो, या किसी वाहन पर सवार हो, जहाँ अच्छे संकल्प पैदा हुए, राग-द्वेष दूर हटे, वहीं मोक्ष है। मोक्ष पाने के लिए मनुष्य को एक इञ्च भी इधर-उधर हटने की आवश्यकता नहीं है। इससे बड़ा सिद्धान्त और दूसरा क्या हो सकता है। अंग देश की राजधानी चंपा नगरी के एक प्रवचन में भगवान् ने कहा था—

"सुचिन्ना कम्मा सुचिन्ना फला हवन्ति,
दुचिन्ना कम्मा दुचिन्ना फला हवन्ति।"

यह सिद्धान्त की वात है। इसे न आज तक झुठलाया जा सका है और न आगे झुठलाया जा सकेगा। तो भगवान् ने कहा—अरे! तुम भाग क्यों रहे हो, भागने से पाप पुण्य में थोड़े ही वदल जाएगा। तुम्हारा अधिकार तुम्हारे कर्म पर है। तुम अपने कर्म को वदलो, वस सव कुछ वदल जाएगा। अपने आपको हिंसा से अहिंसा में वदल दो, असत्य से सत्य में वदल दो, स्तेय से अस्तेय में वदल दो, अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य में वदल दो, परिग्रह-लोभ-लालसा से अपरिग्रह, समता, संतोष में वदल दो, और घृणा को प्रेम में वदल दो—फिर तुम जहाँ रहोगे वहाँ सदा-सर्वदा शान्ति का सागर ठाठें मारता रहेगा। और यदि तुमने अपने

आपको इन दुष्प्रवृतियों से नहीं वदला, तो तुम चाहे जहाँ जाओ, अशान्ति एवं दुःख-दैन्य तुम्हारे पीछे लगे रहेंगे। किसी व्यक्ति का शरीर तेज बुखार से जल रहा है और वह व्यक्ति बुखार के ताप से वचने के लिए अपनी खाट को लेकर एक कमरे से दूसरे कमरे में कितना ही क्यों न घूमता फिरे, फिर भी उसका ताप कम होने वाला नहीं है। जगह वदलने मात्र से बुखार की समस्या हल नहीं हो सकती है, उसका हल तो रोग के दूर होने पर ही होगा।

अस्तु, जगह वदलने मात्र से अधर्म, धर्म नहीं वनता, पाप, पुण्य रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता। किसी आदमी की अपने घर में स्त्री से, वच्चों से, माता-पिता से नहीं वनती है और इससे घवरा कर वह सोचे कि अपने परिवार में मेरा मन नहीं मिल पाता, अतः मैं अन्य रिस्तेदारों के यहाँ चला जाऊँगा। परन्तु आपको विदित होना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने आपको अपने परिवार में घुला-मिला नहीं सका, वह अन्य रिस्तेदारों के साथ अपने आपको कैसे घुला मिला सकेगा। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि मनोविकारों की जो आग यहाँ जल रही है, वह ज्वाला वहाँ भी जल उठेगी।

इसी तरह कोई व्यक्ति घर-गृहस्थ का या परिवार का दायित्व पूरी तरह न निभा सकने के कारण साधु वनता है, तो वह स्वयं धोखा खाता है और समाज को भी धोखे में डालता है। जो व्यक्ति परिवार के छोटे से दायरे में भी अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा सका—तो वह साधु, जो जाति, देश, वर्ग, वर्ण के वंधनों से ऊपर, एक विराट कुटुम्ब का स्वामी है, उसमें कैसे घुल-मिल सकेगा और उस महान् दायित्व को कैसे निभा सकेगा ?

एतदर्थ, भगवान् महावीर ने कहा—तुम्हें दुःख को सुख में वदलना है, तो अपने जीवन को वदलो। हम वेष वदलने पर विश्वास नहीं करते, वाहर का रहन-सहन एवं स्थान वदलने पर भी विश्वास नहीं करते। हमें अपने जीवन को वदलना है, मन को वदलना है, विचारों

को नया मोड़ देना है, दृष्टिकोण के प्रवाह को नई दिशा में परिवर्तित करना है। बस, जीवन के प्रवाह को बदला कि फिर कुछ भी बदलना शेष नहीं रह जाता। और यदि जीवन को नहीं बदला है, तो फिर आप संसार में रहो तब भी कुछ नहीं, साधु बन गए तब भी कुछ नहीं, पर्युषण पर्व आए तब भी कुछ नहीं। हाँ तो, मनुष्य का अपना जीवन बदला कि फिर सारा परिवार, गाँव, राष्ट्र एवं विश्व बदला हुआ दिखाई देगा। यही बात एक महापुरुष ने कही है—"तू भला तो जग भला और तू बुरा तो जग बुरा।"

बहुत से पर्व ऐसे हैं जिन का इतिहास किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित रहता है। परन्तु पर्युषण पर्व का इतिहास किसी व्यक्ति के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। वह आत्मा से सम्बन्धित है और इसलिए यह महापर्व अनादि अनन्त है। कारण कि व्यक्ति से संबद्ध घटना काल की अमुक सीमा तक ही जीवित रहती है, बाद में नहीं। औरों की बात छोड़िए, तीर्थङ्करों को लीजिए, वे कब तक जीवित रहते हैं? अनन्त-अनन्त काल में अनन्त तीर्थङ्कर हो चुके हैं, परन्तु आपको कितने तीर्थङ्करों के नाम ज्ञात हैं? वर्तमान चौबीसी में आपके जीवन में कितने तीर्थङ्करों की स्मृति है? पं० सुखलाल जी ने चार तीर्थङ्कर पुस्तक लिखी है। चार तीर्थङ्कर ही कैसे? बात यह है कि चार तीर्थङ्करों की जीवन स्मृति स्पष्ट है, शेष की जीवन घटनाएँ हमारे सामने कुछ अस्पष्ट हो चुकी हैं। भावार्थ यह रहा कि कोई भी व्यक्ति अमर नहीं है। व्यक्ति की अमरता में जैन दर्शन को विश्वास नहीं है अतः उससे संबंधित पर्व भी अमर नहीं कहे जा सकते। परन्तु हमारा यह धर्म पर्व तो अनादि से है। कारण? उसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं, आत्मा से है और आत्मा अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त-अनन्त काल तक रहेगा, तो यह आत्म धर्म से ओत-प्रोत महापर्व भी अनादि-अनन्त है।

हाँ तो, आज हमें संघर्ष करना है, लड़ना है। किन्तु व्यक्ति से नहीं अधर्म से, पापों से। हमें जाति के अहंकार को, देश व परिवार के

अहंकार को, समाज एवं राष्ट्र के अहंकार को साथ ही धन के अहंकार को भी खत्म करना है, इनसे संघर्ष करना है। लड़ने का अभिप्राय यह नहीं है कि हमें जातियों से लड़ना-झगड़ना है। हमें न तो मुसलमान के साथ लड़ना है और न हिन्दू के साथ, न क्षत्रिय आदि कौमों से लड़ना है। परन्तु उसके अन्दर निहित अहंभाव से, ऊँच-नीच की घृणित मनोवृत्ति से लड़ना है। इसी तरह परिवार आदि के भी कुछ अभिमान हैं, उनसे भी लड़ना है। भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा—ज्ञान और तप के अहंकार से भी लड़ना है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—तुम तप करो किन्तु उसका अभिमान मत करो। खुद तप करके दूसरों से अहंकार की भाषा में यह न कहो कि मैंने तेले का तप किया है और तुम, तुम खाने पर ऐसे टूट पड़ते हो जैसे झूठे टुकड़े पर कुत्ता टूट पड़ता है। तुम एक दिन का भी उपवास नहीं रख सकते, मैं महीनों उपवासी रह सकता हूँ। इस तरह तप आदि के क्षेत्र में भी अहंकार की वृत्ति जीवन को पतन के गर्त में गिराने वाली है। साधक को इस तरह प्रत्येक दुर्वृत्ति से, दुर्भावना से लड़ना है।

आज का दिन विजय का दिन है। व्यक्ति के जीवन पर नहीं, विकारों पर विजय पाने का तथा अपने अन्तर् जीवन को बदलने का महापर्व है। यह महापर्व बताता है कि तुम अपने आप में झांककर देखो कि तुम क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, द्वेष आदि मनोविकारों को कितना जीत सके हो। अंधकार से आच्छन्न अपनी इस हृदय गुहा के हर कोने में क्षमा, प्रेम, दया, सहिष्णुता, स्नेह और वात्सल्य के कितने दीप जला सके हो।

आज का पर्व ज्योति पर्व है, दीप पर्व है। किन्तु मिट्टी के दीप जलाने का नहीं, ज्ञान दीप प्रदीप्त करने का महापर्व है। यह आत्मा नरक में गया, तब भी अंधेरे में भटकता रहा, पशु योनि में गया तब भी अंधेरे में भटकता रहा। इस अनन्त काल के अन्धकार को दूर हटाने के लिए अन्तर् हृदय में अहिंसा, सत्य, और प्रेम के दीप जलाना है

और इन सद्गुणों के जितने दीप प्रदीप्त कर सकेंगे, उतने ही अंश में आत्मा प्रकाशमान हो उठेगा।

आप देखते हैं, जो वस्त्र बहुत मैला-कुचैला है, उसे पाँच-सात बार साफ करेंगे तो उसका मैल पूर्ण तरह छूट जाएगा। परन्तु उस वस्त्र को जितनी बार साफ करेंगे, उस प्रत्येक बार में उसमें से कुछ अंश में मैल तो दूर होगा ही और जितने-जितने अंश में मैल दूर होगा उतने-उतने अंश में वह वस्त्र उजला होता जायगा।

इसी तरह आत्मा के ऊपर राग-द्वेष एवं कषायों का मैल लगा हुआ है और वह मैल जितने अंश में धुलता जायगा, आत्मा उतने ही अंश में निर्मल, उज्ज्वल, समुज्ज्वल बनता जाएगा। और जब विकार समूलतः नष्ट हो जायँगें, तो आत्मा परमात्मा बन जाएगा। अस्तु, यह पर्व आत्मा से परमात्मा बनने का पर्व है। राक्षसी शक्तियों को समाप्त करके दैवी और ईश्वरीय शक्तियों को उद्बुद्ध करने का महापर्व है।

इस महापर्व के दिनों में अन्तकृत् दशांग सूत्र सुनने की परम्परा चली आ रही है। आप वर्षों से सुनते आ रहे हैं और आज भी उसे सुन रहे हैं। प्रश्न हो सकता है, वह पुराना हो चुका तो फिर उसे सुनने से क्या मतलब? मैं उत्तर में कहूँगा कि—आप लोग प्यास लगने पर पानी पीते हैं, परन्तु उस समय यह नहीं सोचते कि पानी पीते-पीते पचास-बरस हो गए, अब उसी पुरातन पानी को पीने से क्या लाभ? भूख लगने पर रोटी खाते हैं, उसे भी खाते-खाते बहुत दिन बीत चुके, तो पुरानी रोटी खाने से क्या लाभ? नींद का समय पूरा होने पर अँगड़ाई लेकर जाग उठते हैं और इस तरह जागते-जागते वर्ष के वर्ष गुजर गए, तो अब उस पुराने जागने से क्या लाभ? दिन भर के काम से थके हुए शरीर की थकान दूर करने के लिए सोते हैं, परन्तु सोते हुए भी वर्षों बीत गए, तो अब पुराने हुए सोने से क्या लाभ? पैरों से चलते हुए भी कई वर्ष बीत गए तो वह चलना भी पुराना हो गया, अतः क्या अब चलना नहीं है?

क्या कभी ऐसा सोचा, विचारा जाता है ? नहीं। कारण, जब तक मनुष्य प्राणवान है, उसकी जिन्दगी प्रवहमान है, तो कोई चीज पुरानी नहीं हो पाती। भूख प्यास आदि लगती रही तो पानी पीना ही होगा और यदि भूख, प्यास आदि नहीं रही तो फिर पानी आदि की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। इसी तरह शास्त्र भी तभी तक आवश्यक हैं, जब तक आत्मा काम आदि विकारों से आवेष्टित है। निर्विकार बने आत्मा के लिए शास्त्रों की कोई जरूरत नहीं। श्रमण भगवान् महावीर ने कहा कि मुझे अपने एवं पराये किसी भी शास्त्र की आवश्यकता नहीं हैं। जब तक उस सर्वोत्कृष्ट ऊँचाई पर न पहुँच जायँ, तब तक के लिए शास्त्र का संबल आवश्यक है। जब तक आत्मा के कण-कण में पूर्ण प्रकाश की ज्योति न जगे, तब तक रोशनी की जरूरत है और उस सर्च-लाइट की आवश्यकता है, जो उन महापुरुषों के जीवन से मिला करती है।

वे महापुरुष जाति, देश और काल के गुलाम बनकर नहीं आए, परन्तु विराट आत्मा के स्वामी बनकर आए। उनमें से कुछ महलों में रहे हैं, कुछ झोंपड़ियों में भी रहे हैं, कुछ बालक रहे हैं, कुछ नवयुवक रहे हैं, कुछ नारी के रूप में भी रहे थे। महलों में सोने वाले तथा झोंपड़ियों में रहने वाले भी जब जागे तो उनका जीवन ज्योतिर्मय हो उठा। महलों की चहार दीवारी में बंद महारानियाँ भी जागीं तो उन्होंने एक ही झटके में सारे बन्धन तोड़ फेंके और अपने अन्दर परमात्मा को जागृत कर लिया।

हाँ, तो अन्तकृत् दशाङ्ग की छोटी बड़ी सभी जीवन कथाओं से पवित्र प्रेरणा मिलती है कि इस दृश्यमान माँस, हड्डी एवं मल-मूत्र के पुतले में एक भव्य आत्मा का निवास है। वह आत्मा रोने वाली नहीं, पर जिन्दगी को नया मोड़ देने वाली, अभिनव प्रकाश देने वाली सर्वशक्तिमान् विराट आत्मा है। जब वह जाग उठे, तो क्षुद्र से क्षुद्र

व्यक्ति भी महान् बन सकता है, साधारण-सी बूंद के रूप में दीखने वाला भी महासागर के विराट रूप में परिणत हो सकता है। बस, आवश्यकता है, उस महाज्योति को हृदय में जगाने की, जीवन को प्रकाशमान बनाने की।

दिनांक
१-९-५६.

कुचेरा (राजस्थान)

—: ६ :—

शक्ति का मूल स्रोत

भगवान् महावीर आत्मा की चर्चा करते हैं, आत्मा की चैतन्य शक्ति का सम्यग् विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि आत्मा अनन्त गुण वाला है, अनन्त शक्ति-सम्पन्न है। वह एक-दो गुण वाला नहीं, सौ-दो सौ गुण वाला भी नहीं, हजार-दो हजार या लाख-दस लाख गुण वाला भी नहीं, वह अनन्त-अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है। और साथ ही यह भी बताते हैं कि सारे संसार की, सारे ब्रह्माण्ड की भौतिक शक्ति एक ओर है और एक आत्मा की अपनी आध्यात्मिक शक्ति एक ओर है। आत्मा द्रष्टा है और शेष संसार दृश्य है। आत्मा भोक्ता है और शेष संसार भोग्य है। तो इतनी बड़ी बात उन्होंने सुप्त आत्मा को जगाने के लिए कही। यह सन्देश निराशा से अवसन्न आत्माओं के लिए प्रेरणा का प्रकाश देने वाला है, उन्हें अपनी निज शक्ति का भान कराने वाला है।

शक्ति का होना एक बात है और उसका भान होना दूसरी बात है। शक्ति चाहे कितनी बड़ी क्यों न हो, पर जब तक उसका भान नहीं होता, तब तक उसका कोई अर्थ नहीं? महाभारत में एक योद्धा का

वर्णन आता है, वह वीर है, वहादुर है, शस्त्रास्त्र-कला में निपुण है, युद्ध कर सकता है, कौरवों की शक्ति पर विजय पाने को पूरी-पूरी ताक़त रखता है। फिर भी उसे एक ऐसा सजग पथ-प्रदर्शक चाहिए, जो उसे युद्ध भूमि में निरन्तर जगाता रहे, शत्रुओं पर विजय पाने के लिए प्रेरित करता रहे, युद्ध का निर्देश देता रहे। यदि उसे निर्देशक नहीं मिलता है, तो उसकी भावनाएं इतनी चंचल हैं कि वह अपने विजय पथ से दूर जा पड़ता है। उसका मन इतना दुर्बल है कि वह विना प्रेरणा के अकेला कुछ नहीं कर पाता।

रामायण में वर्णन आता है कि हनुमान जी सीता की खोज करते हुए लंका पहुँचे और वहाँ पहुँच कर सीता का पता लगाया। हनुमान, हनुमान ही थे। राक्षसों को अपना परिचय देने के लिए वे अशोक वाटिका की शोभा को नष्ट करने लगे। वन-पालक एवं अन्य वड़े-वड़े वीर भी उससे हार खा गए तव मेघनाद पहुँचता है, और नागपाश के द्वारा उन्हें बाँध लेता है। हनुमान उस समय अपनी शक्ति को भूल रहे थे। वह उस नागपाश में आवद्ध हो गए और यह समझ वैठे कि अव इसे तोड़ा नहीं जा सकता।

मेघनाद, उन्हें रावण की सभा में ले गया। भूतल पर ऐसे पटक दिया, मानों कोई घास का वँधा हुआ पूला हो। और कहा—"महाराज यह है आपका शत्रु।"

रावण ने तिरस्कृत भाव से हनुमान की ओर देखा और कहा—"तुम किधर भटक गए। कई पीढ़ियों से हमारी सेवा करने वाले तुम, जंगली राम के चंगुल में कैसे फँस गए ? वन-वन की खाक छानने वाले राम में तुमने क्या विशेषता देखी कि उसके पीछे पागल हो गए ? क्या तुम्हें मेरी विराट शक्ति का परिचय नहीं रहा ? यदि चाहूँ तो तलवार के एक ही झटके में तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर सकता हूँ। परन्तु इस समय तुम दूत के रूप में आए हो और दूत हमेशा अवध्य होता है।"

रावण ने इस प्रकार हनुमान का अपमान किया और अपने सेवकों

को आज्ञा दी कि इसका मुँह काला करके, गले में जूतों का हार पहनाओ और गधे पर बैठाकर सारे नगर में घुमा-फिरा कर पीछे के रास्ते से बाहर निकाल दो।

उसके जलूस के लिए गधे को तैयार किया जाने लगा। मुँह पर कालिख पोतने के लिए काला रंग घोंटा जाने लगा। जूतों का हार बनाया जाने लगा। और यह सब देखकर हनुमान का अन्तरात्मा जगा, उसकी प्रसुप्त भावनाएँ अँगड़ाइयाँ लेने लगीं। उसने सोचा—मुझे गधे पर नहीं चढ़ाया जा रहा है, परन्तु मेरे रूप में राम को गधे की सवारी कराई जा रही है। मेरा मुँह काला करने का कोई अर्थ नहीं, परन्तु मेरे रूप में राम के मुँह पर कालिख पोती जा रही है। यह जूतों का हार मेरे गले में नहीं, राम के गले में पहनाया जा रहा है। अतः उसकी स्वामी-भक्त आत्मा स्वामी के अपमान को सह नहीं सकी। अपमान का जहरीला घूंट गले के नीचे उतर नहीं सका। अपमान की चोट ने उसकी अन्तःशक्ति को जागृत कर दिया। ज्यों ही हनुमान ने हुंकार की, एक जोर का झटका दिया कि नागपाश के टुकड़े-टुकड़े हो गए।

कमल की नाल से आबद्ध हाथी कब तक बँधा रह सकता है? तब तक, जब तक कि वह उसे बन्धन मानता रहे। कमल की नाल विशाल-काय हाथी को बाँध नहीं सकती है; अपितु हाथी की दुर्बल भावना ही उसे बाँधे रखती है। यही बात हनुमान के सम्बन्ध में हुई। नागपाश उस विराट् शक्ति को कब तक बांधे रख सकता था? वह उसी समय नागपाश को तोड़ सकता था, जब कि उसे बाँधा गया था। बीच में भी तोड़ सकता था; परन्तु तब उसकी शक्ति जागृत नहीं हुई थी। वह यही सोचता रहा—यह अजेय शक्ति है, इसे तोड़ा नहीं जा सकता। इसी दुर्बल मनोभावना के बन्धन से वह बँधा रहा। परन्तु जब उसकी चेतना सजग हुई तो उसे नागपाश को कमल नाल की तरह

तोड़ते जरा भी देर नहीं लगी, एक झटके में तोड़कर वह स्वतंत्र हो गया।

सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करते हैं तो विश्व की तमाम आत्माएँ अनन्त शक्ति-सम्पन्न हैं। परन्तु काम-क्रोध के नागपाश में बँधे हुए सभी कैदी की जिन्दगी विता रहे हैं। चक्रवर्ती वनकर सोने के सिंहासन पर वैठे, स्वर्ग में इन्द्र वनकर इन्द्रासन प्रात किया, फिर भी भगवान् महावीर की भाषा में सत कैदी ही रहे। जन्म-मरण के दुःखों से छटपटा रहे हैं, आँखों से आँसू वहाए जा रहे हैं और आकाश में स्वतंत्र उड़ान भरने वाला गरुड़ अवनि-तल पर कीड़ों की तरह रेंग रहा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम्हारे में शक्ति का अभाव है। तुम्हारे अन्दर इतनी वड़ी ताकत है कि अन्तःस्फुरणा के एक ही झटके में सारे वन्धन तोड़ सकते हो; परन्तु तुम्हारी आत्मा में अभी वह स्फुरणा उद्‌बुद्ध नहीं हुई है। इसी से तुम काम क्रोध के वन्धन में आवद्ध हो। उस महा-पुरुष ने कहा—" हर आत्मा में परमात्मा की ज्योति है, वह अनन्त शक्ति का भण्डार है।" जैन-दर्शन की भाषा में हर आत्मा में भगवान् महावीर छिपा हुआ है, हर आत्मा में मर्यादा पुरुषोत्तम राम सोये हुए हैं, हर आत्मा में कर्मयोगी कृष्ण की छवि है, हर आत्मा में परमात्मा वनने की शक्ति है! सत्ता है! किन्तु आवश्यकता है उसे जगाने की।

आत्मा में दो शक्तियाँ काम कर रही हैं—एक ज्ञान शक्ति, दूसरी कर्तृत्व शक्ति। पहली ज्ञान शक्ति है वस्तु के स्वरूप को समझने की। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान शक्ति गतिशील है। भले ही आत्मा कितने ही गहन अन्धकार में तथा पतन के गर्त में क्यों न हो, उस स्थिति में भी उसका ज्ञान वल नष्ट नहीं होता। ज्ञान की शक्ति दव सकती है, उसका प्रकाश मन्द पड़ सकता है, वह विकृत हो सकती है, परन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। काले कजरारे वादल सूर्य को चारों तरफ से ढक लेते हैं, फिर भी वे सूर्य के प्रकाश को सर्वथा खत्म

नहीं कर सकते। घटाटोप बादलों के छा जाने पर भी सूर्य का प्रकाश छिप नहीं सकता। दिन, रात के रूप में परिणत नहीं हो सकता। दिवाकर की किरणें बादल के पर्दों को भेद कर अवनि-तल पर पड़ती रहती हैं और इस तरह दिन का भान बना रहता है। इसी तरह आत्मा में भी ज्ञान-प्रकाश का कभी भी सर्वथा लोप नहीं होता। एकेन्द्रिय जीवों में; अर्थात्—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं निगोद के जीवों में जहाँ सघन अन्धकार है, वहाँ भी ज्ञान के प्रकाश का अभाव नहीं है।

दूसरी कर्तृत्व शक्ति है। वह भी सब प्राणियों में पाई जाती है। एकन्द्रिय जीवों में भी उसकी हलचल बनी रहती है, जो एक स्थान पर स्थित दिखाई देते है। उनमें स्थूल रूप से न आने की क्रिया होती हैं, न जाने की। उनका बाहरी शरीर काम नहीं करता; परन्तु उनके अन्तर्जीवन में बहुत बड़ी हलचल होती रहती है और वह भी इतनी बड़ी, जितनी कि महासागर में तूफान आने पर होती है।

जैन परिभाषा में सोचते हैं, तो ज्ञान और कर्तृत्व शक्ति जीवमात्र में विद्यमान हैं। अन्य कर्मों का उदय तो होता रहता है, परन्तु ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा उदय नहीं होता। यदि उक्त कर्मों का सर्वथा उदय होता तो जीव, जीव न रहकर अजीव हो जाता, आत्मा अनात्मा बन जाता, चेतना शक्ति जड़त्व में परिणत हो जाती। फिर प्राणी जरा भी हलन-चलन नहीं कर पाता, उसकी गति सर्वथा अवरुद्ध हो जाती। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान एवं कर्तृत्व शक्ति का कभी सर्वथा अभाव नहीं होता।

मनुष्य एवं अन्य जीव योनियों में पाई जाने वाली ज्ञान एवं कर्तृत्व शक्ति में अन्तर अवश्य है, और वह भी बहुत बड़ा। यों तो उभय शक्तियाँ विश्व के हर छोटे बड़े प्राणी में सक्रिय रूप में विद्यमान हैं,

परन्तु मानव जीवन में इन शक्तियों का जितना विकास है, उतना अन्य योनियों में नहीं है।

भौतिक वल की दृष्टि से दूसरे जीव अधिक शक्ति संपन्न मालूम होते हैं। मनुष्य की आँखों में देखने की शक्ति सीमित है, वह थोड़ी दूर तक देख सकता है। परन्तु आकाश में उड़ने वाले गिद्ध की नेत्र-शक्ति मनुष्य की आँखों से कहीं अधिक तेज है। वह सुदूर आकाश में उड़ता हुआ अवनि-तल पर पड़ी छोटी-सी चीज को भी आसानी से देख लेता है। कुत्ता सुप्त अवस्था में भी सजग रहता है। उसकी श्रवण-शक्ति इतनी सूक्ष्म है कि जरा-सी आहट पाते ही जाग उठता है और सुप्त अवस्था में भी वह पैरों की आहट को पहचानने में कम धोखा खाता है। प्रकृति-जन्य ज्ञान भी मानव की अपेक्षा अन्य जीव-जन्तुओं को अधिक होता है। कब वर्षा होने वाली है, तूफान, भूकम्प या वाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोप कब होंगे; इन बातों का अनुमान पशु-पक्षी सहज ही लगा लेते हैं और उस संकट से बचने के लिए वे सुरक्षित स्थान की खोज में चल पड़ते हैं। चींटियों को सुरक्षित स्थान में अन्डे ले जाते देखकर अनुमान लगाया जाता है कि जल्दी ही वर्षा होने वाली है। नाक की शक्ति भी इन जन्तुओं के पास गजब की है। चींटी की घ्राण-शक्ति इतनी तेज है कि मनुष्य को जिस चीज का पता नहीं लगता, उसे ये चींटियाँ खोज निकालती हैं। इस तरह बाहरी ताकत में पशु-पक्षी मनुष्य से बहुत आगे हैं; परन्तु उनके पास एक शक्ति की कमी है। मनन करने की, विचार करने की, भूत-भविष्य को नापने की, स्वपर के जीवन को भौतिक धरातल से ऊपर उठाने की, जीवन का विकास करने की, जीवन को नया मोड़ देने की, दुःखितों के आँसू पोंछने की, उन्हें सहयोग देने की शक्ति उनके पास नहीं है। वह तो मनुष्य के पास ही है। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

"मननात् मनुष्यः"

"जो मनन करता है, वह मनुष्य है।" मानव प्रतिक्षण प्रगति की ओर बढ़ता है, वह निरन्तर विकास के लिए नए-नए साधनों का अन्वेषण करता है। परन्तु पशु-पक्षी में ऐसा नहीं होता। पक्षी लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व जिस तरीके से घौंसला बनाते थे, जिस भाषा का प्रयोग करते थे, आज भी वे उसी रूप में चल रहे हैं। घरौंदे बनाने की कला तथा भाषा की चली आ रही परम्पराओं में वे कोई नया परिवर्तन नहीं ला सके। परन्तु मानव, कला के क्षेत्र में नित्य नई प्रगति करता रहा है। भवन-निर्माण कला में वह सदा परिवर्तन करता रहा, उसमें कुछ-न-कुछ नवीनता लाता रहा। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी उसने काफी प्रगति की है, अपने शब्द-कोष को बहुत विस्तृत बना लिया है। भाषण एवं लेखन शैली में मनुष्य ने अच्छी प्रगति की है। इसी तरह औद्योगिक क्षेत्र भी में वह निरन्तर गति-प्रगति कर रहा है। एक शब्द में कहूँ तो वह हर क्षेत्र में आगे बढ़ा है और हर चालू स्थिति में परिवर्तन लाता रहा है। फलतः एक युग था, जब पगड़ियाँ आईं, फिर साफे आए, फिर टोपियाँ आईं। रहन-सहन में होने वाले अन्य कितने ही परिवर्तन इतिहास में लिपि-बद्ध हैं। इन सब का अभिप्राय यह है कि हर मनुष्य अपने युग में नयापन लाना चाहता है।

वह भी एक युग था, जब मनुष्य पशुवत् रहता था—जैन-भाषा में युगलिया काल मानव जीवन का आदिम युग है। उस युग का मानव कला-कौशल से अनभिज्ञ था। वह खुले आकाश में या वृक्षों की छाया में निवास करता था। कल्पवृक्षों से खान-पान की आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लेता था।

फिर ये महल कहाँ से आए? हजारों तरह के ये भूगोल, खगोल, प्राणी विज्ञान, धर्म-कर्म, शास्त्र कहाँ से आए? जातियाँ कहाँ से आईं? परिवार कहाँ से आए? संसार का ऐश्वर्य कहाँ से आया? तथा दुनिया

के ये सुख-साधन कहाँ से आए ? इन सब प्रश्नों का एक ही शब्द में उत्तर दिया गया—"मनुष्य के मन से, उसके चिन्तन-मनन से।"

विचार-शक्ति में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। उसने अपने चिन्तन-मनन से ससागरा पृथ्वी एवं आकाश पर अधिकार प्राप्त कर लिया। आकाश-पाताल को नापना शुरू कर दिया। ऊपर उठा तो स्वर्ग में जा पहुँचा। नीचे गिरा तो नरक और तिर्यञ्च में घूम आया। उसकी चारों तरफ गति है। वह अपने आप में पूर्ण है। वह ऊपर उठता है तो इतना ऊर्ध्व गमन करता है कि लोक के अग्र भाग को जा छूता है। और गिरता है तो इतना नीचे गिरता है कि सातवीं नरक के द्वार पर जा खड़ा होता है। अनन्त काल से मनुष्य, अपनी शक्तियों का गलत विकास भी करता आया और सही विकास भी। वह सघन अँधकार लेकर भी आया और प्रभास्वर आलोक लेकर भी। वह स्वर्ग के दरवाजे भी खोलता रहा और नरक एवं पशु-जगत् के दरवाजों को भी उद्घाटित करता रहा है। वह अनन्त काल से निरन्तर चौरासी लक्ष जीव योनियों में भटकता रहा है। इसमें मानव का क्या महत्व ? स्वर्ग-नरक के द्वार तो पशु भी खोलता रहता है। मानव का महत्व अन्तः शक्तियों का विकास करने में है।

जैन-धर्म नरक के द्वार खोलने की बात नहीं कहता। वह स्वर्ग के लुभावने ऐश्वर्य को पाने की बात भी नहीं कहता। वह धन-धाम एवं भोग-उपभोगों के द्वार खोलने की बात भी नहीं कहता। वह तो मनुष्य को अपने अन्तर के द्वार खोलने की बात कहता है।

आप आगमों के द्वारा जिन महापुरुषों का वर्णन सुनते हैं, उन आत्माओं ने अहंकार की कारा को तोड़कर अपना उत्कर्ष किया है। उनमें से कुछ आत्माएँ अमीरी में बन्द थीं, कुछ गरीबी की कारा में छटपटा रहीं थीं, कुछ भोग-विलास में निमग्न थीं। परन्तु जब उनकी आत्म-चेतना जागृत हुई, तो सारे बन्धन तोड़कर प्रगति के पथ पर चल पड़े। उन्होंने अमीरी के लिए, ऐश्वर्य के लिए, भोग-विलास को सुरक्षित

रखने के लिए कुछ नहीं किया, उसके लिए सोचा-विचारा तक नहीं।

त्याग एवं तपश्चर्या का यह अर्थ नहीं है कि उपवास के पहले एवं दूसरे दिन धारणे-पारणे में मिलने वाले प्रकाम रस की मधुर कल्पनाओं से मन को गुद-गुदाया जाए। यदि खाने-पीने के लिए ही तप किया जाता है, तो यह काम तप के बिना भी किया जा सकता है। इसी तरह हजारों, लाखों का दान कर रहे हैं, वह इस भावना से कि भविष्य में सेठ, राजा या देव बनकर अधिक ऐश्वर्य प्राप्त करेंगे। पत्नी का परित्याग करके इस हेतु साधु बने कि ब्रह्मचर्य की शक्ति से आगामी भव में स्वर्ग में देवांगनाएँ मिलेंगी। वर्तमान स्त्री का त्याग भविष्य में अप्सरा पाने की लालसा से! यह तो बड़ी विचित्र बात है। यह भावना तो वैसी ही है कि कीचड़ धो रहे हैं, भविष्य में बड़े भारी कीचड़ से लथपथ होने के लिए।

सिद्धान्त की बात यह है कि त्याग, भोग के लिए नहीं; त्याग, त्याग के लिए हो, भोगों की वासना पर विजय पाने के लिए हो। भगवान् महावीर की भाषा में वह त्याग, त्याग नहीं; जिसमें पदार्थों की आसक्ति अवशेष है, उनके प्रति ममत्व रहा हुआ है। त्याग, तप वही है; जिसमें भोगों की आसक्ति नहीं है। ज्ञान वही है, जिसके द्वारा मनुष्य संसार के बन्धनों से मुक्त होने का रास्ता देख कर उस पर गति कर सके। भारत के आचार्यों ने कहा है—

"सा विद्या या विमुक्तये"

वही ज्ञान, सम्यग्-ज्ञान है; जो मुक्ति के लिए है। वही कर्तृत्व-शक्ति सुचारित्र है, श्रेष्ठ आचार है, जो मुक्ति के लिए है। वही त्याग-तप सम्यक् है, जो मुक्ति के लिए है। और मुक्ति का अर्थ केवल उसी मुक्ति से नहीं, जो मरने के बाद मिलने वाली है। मुक्ति का अर्थ है—वासनाओं से, कषायों से, अहंकार से, रूढ़ परम्पराओं से मुक्त होना—अपने आत्म-स्वभाव में विचरण करना। दुष्प्रवृत्तियों से मुक्ति

पाना भी मुक्ति है। यदि समाज में प्रचलित अभद्र, गलत तथा बुरी परम्पराओं की शृंखला को नहीं तोड़ सके तो कर्मों की दुर्भेद्य तथा मजबूत शृंखलाओं को कैसे तोड़ सकेंगे ?

अभिप्राय यह है, घर का दीपक बुझ चुका है। विधवा के नयनों से जल धारा वह रही है, घर में कमाने वाला कोई नहीं है। ऐसी स्थिति में भी मृत-भोज की रूढ़ परम्परा का परिपालन करना और इसके लिए असहाय विधवा को अपने जेवर बेचने के लिये मजबूर करना, कहाँ का धर्म है ? इसी तरह विवाह-शादी के समय दहेज की, जीमनवार की, बारात की और इसी तरह की अन्य रूढ़ परम्पराओं का पालन करने के लिए लोग जेवर बेचकर, मकान गिरवी रखकर भी रंगरेलियाँ करते हैं, या ऐसा करने के लिए विवश किए जाते हैं और वह क्षणिक आमोद-प्रमोद एक दिन भयंकर दुःख का कारण वन जाता है। तव व्यक्ति अन्दर ही अन्दर रोता है, घुलता है, छटपटाता है। फिर भी आप उन परम्पराओं के वन्धन को अधिकाधिक सुदृढ़ करते चले जा रहे हैं। यह समाज के लिए सर्वनाश का सूचक है। हाँ, तो मैं कह रहा था कि जव आप परम्परा के चार अक्षरों के छोटे से वन्धन को भी नहीं तोड़ सकते, तो संसार के वन्धन क्या तोड़ेगें ?

मुझे एक लोक-कथा याद आ रही है—एक आदमी झाड़ा-फूँकी का काम करता था। वह झाड़ा देकर भूत निकालने आदि के कितने ही मिथ्या दावे किया करता था। परन्तु घर की समस्याओं को हल करने के लिये उससे कुछ नहीं होता था।

वर्षा के दिन थे। एक दिन रात को इतने जोर का पानी वरसा कि झोंपड़ी में चारों तरफ पानी टपकने लगा। स्त्री और वच्चे सव परेशान हो रहे थे। घर का सामान भी खराव हो रहा था, वह स्वयं भी भीग रहा था। स्त्री ने छप्पर ठीक करने के लिए वहुत कुछ कहा-सुना तो उसने सुवह उसकी मरम्मत करने का आश्वासन दिया। परन्तु सुवह हुआ कि सव कुछ भूलकर वैठ गया. अपने उसी पुराने झाड़-फूँक

के काम में। उसी समय उसकी पत्नी भी वहाँ पहुँच गई, जब कि वह यह मंत्र उच्चार रहा था—

"आकाश बाँधू, पाताल बाँधू, बाँधू जल की खाई,
इतना काम नहीं करूं तो हनुमान जी की दुहाई।"

पीछे से स्त्री ने पीठ पर धप जमाया और बोली कि यहाँ तो तू दुनिया भर को बाँध रहा है; परन्तु घर का एक छोटा-सा छप्पर भी तेरे से नहीं बाँधा जाता। इसी तरह आप स्वर्ग एवं अपवर्ग को बाँधने जा रहे हैं। मुक्ति के लिए उत्सुक हैं, परन्तु रूढ़ परम्पराओं के बन्धन को तोड़ नहीं सकते। यदि आपके जीवन में बुरे संस्कारों से, दुर्वृत्तियों से उन्मुक्त होने की शक्ति नहीं है। आप यदि अपने आपको तथा समाज, संघ एवं देश के जीवन को रूढ़ियों के दलदल से निकालने की ताकत नहीं रखते, तो फिर संसार सागर से पार होना कोई बच्चों का खेल नहीं है।

मुक्ति का मार्ग फूलों का नहीं, काँटों का मार्ग है। जब-जब महा-पुरुष इस पथ पर चले हैं, तब-तब उनके सम्बन्धियों ने उन्हें रोकने का प्रयास किया है। माता ने मार्ग के कष्टों का चित्रण करते हुए कहा है—बेटा, तू साधना के पथ का पथिक तो बन रहा है; पर साधु-पना लेना हँसी खेल नहीं है। नंगे पैर तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने, छोटी-सी भुजाओं से लवण-समुद्र को पार करने एवं मेरु पर्वत को तराजू पर तोलने से भी वह अधिक दुष्कर है। परन्तु वे माई के लाल अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए, वे निरन्तर तलवार की तीक्ष्ण धार पर मुस्कराते हुए चलते रहे। वे निरन्तर अहंकार से लड़े, वासना से लड़े, सामाजिक कुरीतियों से लड़े, बुराइयों से लड़े, हिंसा से लड़े, गलत परम्पराओं से लड़े और फिर दुनिया के इन सारे बन्धनों को तोड़कर मुक्त बन गए।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को संसार के द्वन्द्वों से, क्लेशों से, रूढ़ परम्पराओं से मुक्ति पाना है और जब वह अन्दर और बाहर की दुष्प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त बन जाएगा, तो फिर एक दिन कर्म-बन्धनों के जाल को तोड़कर स्वतंत्र, पूर्ण स्वतंत्र हो जाएगा।

दिनांक
२. ९. ५६.

कुचेरा (राजस्थान)

-: ७ :-

सांवत्सरिक–संदेश

यह संसार कुछ नारकों, कुछ देवताओं, कुछ पशु-पक्षियों और कुछ मनुष्यों से परिपूर्ण है। जो नारक हैं, क्या वहाँ कोई पर्व (त्यौहार) मनाया जाता है ? नहीं, बिल्कुल नहीं। वे निरन्तर वेदना के सागर में डूबे रहते हैं, उन्हें रोने से भी अवकाश नहीं मिलता। वे विचारे पर्व क्या मनाएँगे ? पशु योनि में भी पर्व का आनन्द, उल्लास कहाँ है ? उनका सारा जीवन क्षुधा, पिपासा, भय एवं अज्ञान से आवृत है। उनमें अपनी रक्षा तथा अपने जीवन निर्वाह की भी समुचित शक्ति नहीं है, अतः वे भी पर्व नहीं मना सकते। देवों की दुनिया में भी पर्व का प्रकाश कहाँ ? वे सदा भोगों में निमग्न रहते हैं। सुखों में, विलासता में आसक्त रहते हैं। उन्हें इतना अवकाश कहाँ कि पर्वाराधन कर सकें।

दुनिया में मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो पर्व मनाता है। जब हम मानव जाति के इतिहास का अध्ययन करते हैं, तो मानव जाति के विकास के साथ-साथ दो तरह के पर्वों का विकास होता हुआ परिलक्षित होता है। पहली कोटि के पर्वों में कुछ पर्व ऐसे हैं जिनमें खाने-पीने का आनन्द है, स्वादिष्ट पक्वानों की मनोज्ञ सुवास है। चटकीले

भड़कीले वस्त्रों की सज्जा है, नाच-गान के आमोद-प्रमोद हैं। कुछ पर्व ऐसे हैं—जिनके पीछे तलवार है, भाला है, शस्त्रों की पूजा है और उन विनाशकारी हथियारों की संहारक शक्ति के बल पर सिंहासन खड़ा करने की विपाक्त भावना है। कुछ पर्व ऐसे हैं—जिनमें भूत, प्रेत, चुड़ैल, भैरु-भवानी आदि देव-दानव की, उनके भय से छुटकारा पाने के लिए, पूजा की जाती है।

परन्तु आज का पर्व उपर्युक्त पर्वों से भिन्न है। यह आत्म-ज्योति जगाने का पर्व है। काम-क्रोध पर विजय पाने का पर्व है। त्याग-तप का पर्व है। जो व्यक्ति अन्य दिनों में तप-उपवास नहीं करते हैं, वे भी आज के दिन उपवास अवश्य करेंगे। कई बहनें तो आठ-आठ दिन से उपवास कर रही हैं। और वे भाई-बहन तपः-साधना में संलग्न हैं, जिनके घर में खाने-पीने की कमी नहीं है, भोग-विलास के साधनों का अभाव नहीं है।

बच्चों के चेहरे पर भी आज नया उत्साह, नई उमंग, नया उल्लास और अभिनव तेज परिलक्षित होता है। संभव है, उन्हें अभी धर्म एवं तपः साधना की परिभाषा का परिज्ञान नहीं है, फिर भी आज का दिन उनके जीवन में अभिनव चेतना जागृत करता है और छोटे-छोटे बच्चे एकाशन या उपवास करते हैं। कई जगह तो उन्हें माता-पिता रुपये-पैसे तक का लालच देकर भोजन कराने का प्रयास करते हैं। उनकी इस अन्तर्भावना और त्याग-वृत्ति को झुठलाया नहीं जा सकता। उनके अन्दर से त्याग तप का झरना उभर-उभर कर बाहर आ रहा है। एक दिन वे पैसे के लिए झगड़े, माता-पिता को परेशान करते रहे। खाने-पीने की चीजों के लिए संघर्ष करते रहे; परन्तु आज का झगड़ा कुछ और ही रूप में है। वे झगड़ रहे हैं—खाने का परित्याग करने के लिए। वे अड़े हुए हैं—तपः साधना के अग्नि पथ पर अग्रसर होने के लिए। वे आँसू बहा रहे हैं—उपवास करने के लिए।

आज का पर्व विजय का पर्व है। परन्तु अन्य किसी पर नहीं, अपने

दुर्विकारों पर विजय पाने का पर्व है। मन पर, इन्द्रियों पर विजय पाने का पर्व है। हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि विकारों को उपशान्त करने का, क्षय करने का पर्व है। आत्मा की पूजा करने का पर्व है। आत्मा में परमात्म-ज्योति के दर्शन करने का पर्व है। पंच परमेष्ठी की उपासना करने का पर्व है। एक शब्द में कहूँ तो आज का दिन 'सद्गुणों की उपासना का महापर्व है।'

जैन-धर्म ने व्यक्ति को भी महत्व दिया है, देश को भी महत्व दिया और यथा परिस्थिति कभी काल को भी महत्व दिया है। परन्तु उसने एक सत्य को सर्वोपरि स्थान दिया है। वह है, गुण। भावार्थ यह है कि जैन-धर्म गुण-पूजक है, केवल व्यक्ति-पूजक नहीं। वह गुण-युक्त व्यक्ति को भी महत्व देता है। परन्तु वह व्यक्ति-पूजा उस महापुरुष की नहीं, बल्कि उस गुण-संयुक्त महापुरुष के रूप में एक प्रकार से अपने ही गुणों की पूजा है।

मैं आपसे पूछूँ—जब आप तीर्थङ्करों के शरीर का, अवगाहना का, रंग-रूप का, संहनन-संस्थान का वर्णन करते हैं; अथवा समवसरण में प्रवचन देने का, अष्ट प्रातिहार्य एवं देवागमन का वर्णन करते हैं, तो वह वर्णन स्वपरिणति का है, या परपरिणति का?

बात जरा गहरी है। परन्तु सिद्धान्त यह है कि भगवान् के बाहरी ऐश्वर्य का वर्णन, जिनत्व का वर्णन नहीं है और वह आत्मा की स्वपरिणति भी नहीं है। यह शब्द मेरे ही नहीं हैं, अपितु एक वरिष्ठ जैनाचार्य ने इसी तरह की भाषा का प्रयोग किया है, जिसके चरणों में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों विनम्र भाव से मस्तक नवाते रहे हैं। वह महान् आचार्य समन्तभद्र कह रहा है:—

"देवागम-नभोयान-चामरादि—विभूतयः,
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥"

"हे प्रभो! मैं तुम्हारे चरणों में इसलिए विनत मस्तक नहीं कि आपके पास देव आते हैं, आकाश में दुन्दुभी नाद हो रहा है

चामर आदि अष्ट प्रातिहार्य आपके साथ-साथ रहते हैं, फूलों की वर्षा होती है और आप स्वर्ण-कमलों पर पैर रख कर गमन करते हैं।

श्लोक के उत्तरार्द्ध में तर्क देते हुए कहते हैं—यह वैभव आत्म-दर्शन के लिए कोई महत्व की चीज नहीं है। यह नाटक तो एक इन्द्र-जालिया, एक मायावी जादूगर भी कर सकता है। इस ऐश्वर्य की ऊपरी चकाचौंध में आपकी महत्ता नहीं है। आपकी महत्ता है, आपके वीतराग स्वरूप में। शस्त्र से देह का खण्ड-खण्ड करने वाले पर द्वेष नहीं और शीतल-सुगन्धित चन्दन का लेप करने वाले पर अनुराग नहीं, दोनों पर सम दृष्टि है। अतः आप संसार की मोह-माया से, धन-ऐश्वर्य से, पूजा-प्रतिष्ठा से तथा मान-अपमान की भावना से ऊपर उठ गए हैं और इतने ऊपर कि ये रत्न और स्वर्ण के ढेर आपकी दृष्टि में मिट्टी से अधिक मूल्यवान् नहीं हैं।

तथ्य यह है कि बाहरी वैभव का, धन-ऐश्वर्य का चिन्तन-मनन तथा स्मरण पर-परिणति में है और आत्म-सागर की अतल गहराई में डुबकी लगाना, आत्म-गुणों का साक्षात्कार करना और आत्म-सौन्दर्य की पूजा-उपासना करना स्वपरिणति है। यह बात अलग है कि बाह्य वर्णन शुभ योग का कारण भी है। जैसे तीर्थङ्कर, आचार्य, उपाध्याय आदि महापुरुषों के शरीर सौन्दर्य का वर्णन करना भी शुभ भावना है, उससे पुण्य बंध होता है; परन्तु वह निर्जरा का विशुद्ध मार्ग नहीं है। शुद्धोपयोग के द्वारा वीतराग अवस्था में पहुँचने का द्वार नहीं है। वीतराग भाव प्राप्त करने के लिए स्वपरिणति अथवा आत्म-चिन्तन आवश्यक है। क्योंकि जो शक्ति परमात्मा में है, वही आत्मा में है। अन्तर इतना है कि उनमें वह शक्ति व्यक्त है और हमारे अन्दर दबी पड़ी है। अतः आत्मा को परमात्म-रूप मानकर चलना, उसमें तदाकार हो जाना, उस समय के लिए ईश्वरत्व को प्राप्त करना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है—"जब हम अर्हन्त के गुणों का स्मरण करते हैं, उनकी वीतरागता

में हम तदाकार होते हैं, तो उतने क्षण के लिए हम अर्हद्भाव को प्राप्त कर लेते हैं। अतः अर्हन्त के गुणों की, की जाने वाली स्तुति, अपनी आत्मा की ही स्तुति है। एक जैनाचार्य ने सिद्धान्त की बात कही है—

"नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं नमो नमः,
नमो मह्यं नमो मह्यं, मह्यमेव नमो नमः।"

आचार्य श्लोक के पूर्वार्ध में भगवान् को नमस्कार करता है। वह भी एक बार नहीं, बार-बार और हर साँस के साथ नमन करता है। परन्तु उत्तरार्ध में आकर वह अपने आप में समा गया है और अपनी आत्मा में सिद्धत्व का साक्षात्कार करता है। अर्हन्त के गुणों को अपने आप में देखता है। अतः वह कह उठता है कि मेरा नमस्कार मुझे ही है। इस तरह भावना के दो रूप हैं। एक द्वैत भावना है और दूसरी अद्वैत भावना। द्वैत भावना में भक्त को भगवान् अलग नजर आते हैं और अद्वैत भावना में भक्त भगवान् में तदाकार हो जाता है, तद्रूप बन जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा को किया गया नमस्कार परमात्मा को हो जाता है और परमात्मा को किया गया वन्दन-नमन आत्मा को हो जाता है। तो आज का पर्व अनन्त अरिहन्तों को, अनन्त सिद्धों को, वन्दन करने का पर्व है, तद्रूप बनने का विराट पर्व है, और आत्म-ज्योति को जगाने का महापर्व है।

आज जीवन को हिंसा से अहिंसा की ओर, कठोरता से कोमलता-मृदुता की ओर, लोभ-लालच से सन्तोष की ओर, विलासिता से त्याग-विराग की ओर, और क्रोध से क्षमा की ओर मोड़ने का महापर्व है। अपने दोषों की आलोचना करके जीवन को मांजने का दिन है। सब से क्षमा याचने का सुअवसर है।

परिवार के साथ रहते हुए कभी किसी व्यक्ति से लड़ाई-झगड़ा हो गया हो और मन में कटुता का दाग़ रह गया हो तो उस दाग़ को धोने

का दिन है। इधर-उधर के पड़ोसी से कभी वाग्-युद्ध हो गया हो और मन में गाँठें घुल गई हों तो उन वैर-विरोध की गाँठों को खोलने का दिन है। दूर के रिश्तेदारों, मोहल्ले एवं गाँव के लोगों से कभी संघर्ष हो गया हो तो उस दुर्भाव को बाहर निकाल फेंकने का दिन है। किसी जाति के प्रति घृणा भाव रहा हो, किसी देश के प्रति दुर्भाव रहा हो, किसी पंथ या मत के प्रति द्वेष भाव रहा हो तो उसे निकाल फेंकने का दिन है।

हाँ तो, आज शान्ति की सरिता बहाने का दिन है। घृणा, द्वेष, नफरत को मिटाने का दिन है। युद्ध की भीषण आग को बुझाने का दिन है। युद्ध की वह आग घृणा, द्वेष, नफरत से नहीं बुझ सकेगी। भगवान् महावीर ने अढ़ाई हजार वर्ष पहले संदेश दिया था कि वैर कभी वैर से नहीं मिटता, क्रोध से कभी क्रोध शान्त नहीं हो सकता। क्रोध के विष को अमृत में बदलने का प्रयास ठीक वैसा ही है जैसे कोई अबोध बालक गर्मी के ताप से बचने के लिए आग जलाता है और उस भीषण आग से शीतलता पाने की आशा रखता है।

एक बच्चा जेठ की दुपहरी में खेलता हुआ घर आया, और शरीर पर से सारे वस्त्र उतार कर धूप में खड़ा हो गया। माता ने पूछा—धूप में क्या कर रहा है ?

बच्चे ने कहा—कुछ नहीं, जरा पसीना सुखा रहा हूँ।

माता ने हँस कर कहा—क्या कभी धूप में पसीना सूखता है ?

बच्चे ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"क्यों नहीं !" और साथ में तर्क देते हुए उसने कहा—"जब गीले वस्त्र धूप में सूख जाते हैं, तब पसीने से भीगा हुआ शरीर क्यों नहीं सूखेगा ?"

वह नादान बालक यह भूल जाता है कि धूप के आतप से पसीना आता है। अतः धूप से आने वाला पसीना धूप में कैसे सूखेगा ? जब तक उसका कारण धूप मौजूद है, तब तक वह सूख नहीं सकता।

हाँ तो, बालक की बात पर आप हँसते हैं; परन्तु आप भी तो वही भूल कर रहे हैं। वैर की आग को वैर से शान्त करना चाहते हैं। जो

युद्ध स्वयं अशान्ति है, वह वैचारिक अशान्ति को शान्ति में कैसे बदल सकेगा ? इतिहास साक्षी है आज तक युद्ध से शान्ति का वातावरण नहीं बना है।

शक्ति के उपासकों ने हमेशा यही दुहाई दी कि हम शान्ति के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं। मानव सभ्यता के आदि काल में दंड-व्यवस्था 'हकार', 'मकार' तथा 'धिक्कार" आदि शब्द प्रयोग के रूप में आरम्भ हुई। उस युग में यह शब्द-प्रताड़ना ही मनुष्य के लिये एक बड़ा भारी दंड था। परन्तु उससे शान्ति कायम नहीं हो सकी। अनंतर चाँटा मारना, मुष्टि प्रहार, लाठी, पत्थर के रूप में दंड व्यवस्था आगे बढ़ी। जब ये सब मिलकर भी शान्ति की स्थापना में सफल न हो सके, तब मानव ने धनुप-वाण, तोप, बन्दूक और बमों का भी निर्माण किया। फिर भी दुनिया में अशान्ति की आग धधकती ही रही, तो राकेट, अणुबम एवं उद्‌जन बमों का विस्फोट हुआ और जो अभी भी हो रहा है। सभी शान्ति की आवाज लगाते आए, परन्तु शान्ति के ये अमर उद्‌गाता अशान्ति की ज्वाला को और अधिक प्रज्वलित करते रहे। अमेरिका ने जब हिरोशिमा पर अणु बम का प्रयोग किया तो यही आघोष किया था कि हम युद्ध को सदा के लिए समाप्त करने को अणु आयुध का विस्फोट कर रहे हैं। और अभी किए जाने वाले परीक्षणों में भी—जिनका भयंकर परिणाम मानव-जाति भोग रही है—युद्ध को शान्त करने की दुहाई दी जाती है। परन्तु यह सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह स्पष्ट परिलक्षित हो चुका है कि युद्ध से न कभी शान्ति हुई है और न कभी होगी। खून से कभी खून का दाग नहीं धोया जा सकता।

हाँ तो, शान्ति स्थापना करने के लिए बम नहीं, प्रेम और स्नेह चाहिए—भाई चारे की मधुर भावना चाहिए। आग को आग के सुलगते हुए शोलों से नहीं; परन्तु ठंडे पानी से ही बुझा सकते हैं। इसी तरह द्वेष की आग प्रेम से बुझाएँ। क्रोध की आग को क्षमा के शीतल जल

से शान्त करें। हिंसा की आग को अहिंसा, दया एवं करुणा की भावना से उपशान्त करें। चाहे वह आग परिवार में हो, या समाज में हो, या संघ में धधक रही हो, या विश्व के किसी भी कोने में सुलग रही हो, हमें उसे शान्त करने के लिए प्रेम, क्षमा, दया, एवं करुणा का झरना बहाना है। द्वेष के विष से म्रियमाण मानव को प्रेमामृत पिलाना है और यही इस महापर्व का दिव्य संदेश है।

पर्व का अर्थ क्या है? पर्व का अर्थ है—पोरी। बाँस में दो गाँठों के मध्य में जो भाग होता है, उसे भी पोरी कहते हैं और बाँस का इतिहास यह बताता है कि उक्त पोरी में नियत समय पर ऊर्ध्वगामी विकास होता है और हर पर्व (पोरी) एक नये विकास का द्वार खोलता है। मैं आपसे पूछूँ—आपने अपने जीवन काल में पचास, साठ या कुछ कम ज्यादा पर्व मनाए हैं, तो आपके जीवन-पर्व (पोरी) का कितना विकास हुआ? आप अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में कितने ऊर्ध्वगामी बने हैं? ऊर्ध्वगामी बनना ही पर्व परम्परा का प्रतीक है।

पर्व मनाने का अभिप्राय है—जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाना। विकारों पर विकारों से नहीं, किन्तु क्षमा, शान्ति एवं सहिष्णुता से विजय पाना। मान लो, पति-पत्नी में झगड़ा हो गया है, क्लेश बढ़ रहा है, एक-दूसरे पर शब्द-बाण बरसाये जा रहे हैं, तो भगवान् महावीर कहते हैं—वहाँ प्रेम की, क्षमा की वर्षा करो और उस आग को शान्त करने के लिए क्षमा का पानी उँडेलो। उस समय यह मत सोचो कि मैं बड़ा हूँ; क्षमा कैसे माँगू? वस्तुतः बड़ा वही है, जो अच्छे काम में पहल करता है।

एक भाई महायुद्ध के समय की एक घटना सुना रहे थे कि एक सेनापति था। वह सेना में जहाँ कहीं भी जाता और वहाँ उसे जो भी सैनिक मिलता, तो वह स्वयं पहले अभिवादन कर लेता। यदि रास्ते में कोई नागरिक मिलता, बच्चा भी मिलता तो वह उसे भी

पहले अभिवादन करता। एक व्यक्ति ने उक्त सेनापति से पूछा—आप सेना के संचालक हैं, निर्देशक हैं, फिर सैनिकों को पहले अभिवादन क्यों करते हैं? सेनापति ने पूछा—"अभिवादन करना अच्छा है या बुरा?" "उत्तर मिला—"अच्छा है।" तव सेनापति ने कहा—"जव वह जीवन का श्रेष्ठ कार्य है तो उस श्रेष्ठ कार्य के करने में मैं पीछे क्यों रहूँ।" आप भी सेनापति की तरह अच्छाई के काम में पहल क्यों नहीं करते? क्षमा याचना, दान देना, सेवा करना आदि अच्छे कार्य हैं तो उन्हें आचरित करते समय परमुखापेक्षी क्यों वनते हैं? उस समय ऐसा क्यों सोचते हैं कि अमुक ने वह कार्य किया या नहीं? मेरी समझ में ऐसा सोचने का एक ही कारण हो सकता है, वह यह कि सद्‌गुणों के प्रति आपके मन में सूक्ष्म रूप से अवज्ञा की भावना निहित है। इसीलिये आप पीछे हट कर जाते हैं। हाँ तो, आज क्षमत-क्षमापना का दिन है, अतः आज दूसरों की नहीं, हमें अपनी ही भूलों की आलोचना करना है, भले ही सामने वाला क्षमा याचना करे, या न करे। आगम की भाषा में जो व्यक्ति क्रोध को उपशमाता है, क्षमा याचना करता है, वही आराधक होता है।

जो सामाजिक रीति-रिवाज तथा परम्पराएँ चली आ रही हैं—चाहे वे जन्म से सम्वन्धित हों, मृत्यु से सम्बन्धित हों, विवाह-शादी से सम्वन्धित हों या पर्व-त्यौहार एवं तप-साधना से सम्वन्धित हों—उन परम्पराओं का परिपालन करने से यदि आपके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में विकास होता हो और यदि वे भावी पीढ़ी के लिए लाभप्रद हों तो उन्हें जीवित रखने के लिए आपको अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। फिर भले ही वे परम्पराएँ लौकिक हों या आध्यात्मिक, परन्तु वे सुख-शान्ति देने वाली एवं जीवन निर्माण करने वाली होनी चाहिएँ।

किन्तु जो परम्पराएँ गल-सड़ चुकी हैं, निष्प्राण हो गई हैं और जिन्हें निभाने में हर कोई दुःख उठाता है। यदि झोंपड़ियों में निभाते हैं तो

आँसू बहाते हैं और महलों में निभाते हैं तब भी आँसू बहाते हैं। गरीब निभाते हैं, तब भी आँसू बहाते हैं, मध्यम वर्ग के व्यक्ति निभाते हैं तो आँसू बहाते हैं और श्रीमन्त भी आँसू बहाते हुए निभाते हैं और आपके घर में निभाने का प्रसंग उपस्थित होने पर आप भी दुःख की आहें भरते हैं। तो ऐसी रूढ़ परम्पराओं को आगे बढ़ कर तोड़ देना चाहिए। यदि कभी कुछ लोग निन्दा भी करें तो उससे भय नहीं खाना चाहिए। लोकापवाद से डर कर गलत रीति-रिवाजों का बहिष्कार न करना, बड़ी भारी कायरता है। ऐसे सामाजिक कोढ़ को—जिससे समाज दरिद्रता की ओर जा रहा है, क्षीण हो रहा है, और जिन्हें निभाने के लिए समाज के व्यक्तियों को कर्ज लेना पड़ता हो, जेवर एवं घर बेचना पड़ता हो या गिरवी रखना पड़ता हो—ऐसी रूढ़ियों को समाप्त करने के लिए आपको पहल करनी चाहिए, उसके लिये अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। जिनकी रगों में नया खून है, जिनके जीवन में नव्य-भव्य प्रकाश है, तरुणत्व का प्रखर तेज है, उन्हें आलोचना एवं तिरस्कार के विषाक्त घूँट पीकर भी आगे आना चाहिए।

श्रमण भगवान् महावीर ने देखा कि राजा-महाराजा घोर अन्याय कर रहे हैं, प्रजा का शोषण कर रहे हैं तो उन्होंने अपने श्रमण संघ को यह आदेश दिया कि कोई भी श्रमण राजमहलों में भिक्षार्थ न जाए। उस युग का यह सबसे बड़ा असहयोग था।

उस करुणा सागर ने देखा कि धनिक वर्ग नर-नारियों का पशुवत् क्रय-विक्रय करते हैं। उस युग में दास-दासी का व्यापार जोरों से प्रचलित था। चंपा की राजकुमारी चन्दना का उदाहरण आपके सामने है। परन्तु चन्दना की तरह और भी हजारों कन्याएँ बेची गई होंगी। जब राज-घराने की स्त्रियाँ उड़ा कर लाई जा सकती हैं और वे आम बाजार में नीलाम की जा सकती हैं, तो न मालूम चंपा नगरी की और कितनी बहनें दासता की बेड़ी में जकड़ी गई होंगी। उस युग में राजा-महाराजा कहीं युद्ध करने जाते तो विजय प्राप्त करने पर वहाँ

की धन-सम्पत्ति की तरह स्त्री-पुरुषों को भी लूट-खसोट लाते और वड़े-वड़े धनपति सेठ खुले बाजारों में उनका क्रय-विक्रय करते, इस तरह महीनों तक यह व्यापार चलता रहता था।

इस अन्याय का उन्मूलन करने के लिए भगवान् महावीर ने आवाज उठाई और दास-दासी का व्यापार करने वाले को अपने श्रावक वर्ग में स्थान देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने उस युग में प्रचलित सभी बुराइयों का विरोध किया; याज्ञिक हिंसा का प्रवल विरोध किया। इसी से चिढ़कर साम्प्रदायिक लोगों ने उन्हें हजारों-हजार गालियाँ दीं। इतिहास साक्षी है कि उन्होंने उस युग-पुरुष को म्लेच्छ, पाखण्डी, अनार्य एवं नास्तिक के पदों से अलंकृत किया। यदि वह महाशिव जहर के घूँट से डर कर अपना कदम पीछे हटा लेता तो सामाजिक और धार्मिक जीवन में कभी क्रान्ति नहीं ला सकता था।

निष्कर्ष यह निकला कि जहर के कड़वे घूँट पीकर भी बुराई का प्रतिकार करें। हाँ, उस संघर्ष में हमारा व्यक्ति-विशेष से विरोध नहीं होना चाहिए और न हमें अपनी वात का व्यामोह ही होना चाहिए। चाहे कोई वात नई हो या पुरानी; हमें न तो नये विचारों की पूजा करना है और न पुराने विचारों की निन्दा। न महलों का आदर करना है और न झोंपड़ी का अनादर। हमें न तो नये विचारों के खूँटे से बँधना है और न पुराने विचारों के खूँटे से। अन्ततः हमें तो सत्य के खूँटे से ही बँधना है। भले ही वह सत्य नए विचारकों के मस्तिष्क से उदित हुआ हो या पुराने दिमागों से आया हो, हमें तो उसके जाज्वल्यमान प्रकाश में गति करना है।

आपको पुरातन से प्रेम है। और यदि इसीलिए भोजन के समय पत्नी दो चार दिन पुरानी रोटियाँ परोस दे तो आप प्रसन्नता से खायेंगे न! त्योहार के दिन फटे-पुराने चिथड़े पहनने को दें, तो आपके चेहरे पर सलवटें तो नहीं पड़ेंगी? और निवास के लिए पुराना खण्डहर ही पसन्द करेंगे न? नहीं, कदापि नहीं। व्यवहार पक्ष में आपको पुराना खाना पसन्द नहीं, पुराने वस्त्र पसन्द नहीं, पुराना मकान पसन्द नहीं; परन्तु

विचारों में, रीति-रिवाज में एवं क्रिया-काण्ड में वही पुरानापन, वही गले-सड़े विचार और वही निष्प्राण परम्पराएँ, म्रियमाण रूढ़ियाँ प्रिय हैं। वस्तुतः यह गलत कदम है, भ्रान्त धारणा है और दृष्टि-दोष है।

धर्म का आराधन न क्रिया-काण्ड में है, न रूढ़ियों के पालन में। और धर्म न कोरे निष्क्रिय जप-तप में ही बसता है, वह तो बसता है वीतराग के पथ में, उनकी आज्ञा के पालन में। हाँ, आज्ञा का पालन करते हुए जय-जयकार की ध्वनि गूँजे तब भी वाह-वाह, और कोटि-कोटि लोगों से तिरस्कार मिले तब भी वाह-वाह। पुष्पों की सौरभ से सुरभित पथ चलने को मिले तब भी ठीक, और काँटों की पगडंडी पर चलना पड़े तब भी ठीक। सोने का सिंहासन बैठने को मिले तब भी अच्छा, और सूली की नोंक पर चढ़ना पड़े तब भी अच्छा। हमें न तो मान-प्रतिष्ठा के अभिनन्दन-पत्र बटोरने के हेतु काम करना है, और न तिरस्कार से डरकर अपनी राह से इधर-उधर हटना है। हमें तो बिना किसी फलेच्छा के सत्य-पथ पर कदम बढ़ाना है, विवेक-पूर्वक भगवदाज्ञा का पालन करना है। आचार्य हेमचन्द्र ने एक प्राणवन्त संदेश दिया है, जो आज भी जीवित है:—

"वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञा पालनं परम्"

—वीतराग स्तोत्र

वीतराग की आज्ञा का पालन ही, उनकी पूजा है। वन्दन-नमस्कार से भी उनकी आज्ञा के अनुरूप कदम उठाना अधिक महत्त्व रखता है। गौशालक निरन्तर छह वर्ष तक भगवान् महावीर की सेवा करता रहा, वन्दन करता रहा। जमाली भी कुछ वर्ष तक भगवान् के साथ रहा। फिर भी वे जीवन में विकास नहीं कर पाए, अभिनव ज्योति नहीं जगा सके। कारण स्पष्ट है, उन्होंने आज्ञा का पालन नहीं किया। कई व्यक्ति ऐसे भी आए जिन्होंने प्रत्यक्ष में वन्दना नहीं की, और न व्रत नियम ही स्वीकार किए; परन्तु भगवदाज्ञा पालन करते-करते भगवान् में एकाकार हो गए, और मुक्ति पा गए।

मरुदेवी का उज्ज्वल जीवन हमारे सामने है। उसने विनत होकर भगवान् की वन्दना नहीं की। वन्दना तो दूर, उसने प्रभु के मुँह से व्रत-महाव्रत के स्वरूप को भी नहीं समझा। वह पुत्रवियोग से सन्तप्त वियोगिनी अपने पुत्र से मिलने आई थी, बहुत दिनों का संचित उपालम्भ देने आई थी; परन्तु पुत्र के निकट आते ही अर्थात् प्रभु ऋषभदेव के समवसरण को देखते ही उसकी विचार-धारा ने मोड़ खाया, आत्म परिणति बदल गई और अन्तर में पुत्र की वीतरागता के अनुरूप शुद्ध भाव-धारा स्फुरित हुई तो उस दिव्य विभूति ने अन्तमुहूर्त में ही सिद्धत्व पा लिया। तत्त्वतः सत्य को स्वीकार करना ही भगवान् की पूजा है, धर्म की आराधना है।

× × × ×

मैं तपस्या के विषय में मौन रहा हूँ, अधिक प्रेरणा नहीं दे पाया हूँ। इससे कुछ लोगों के मन में यह भ्रान्त धारणा बैठ गई है कि मैं तप का उपदेश देने के पक्ष में नहीं हूँ। परन्तु मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूँ कि मैं तप का प्रबल पक्षपाती हूँ। मैंने अपने जीवन में तप किया है, और भी कोई बहन-भाई तप करते हैं तो मुझे प्रसन्नता होती है। हाँ, जो तपश्चर्या रूढ़ परम्परा के रूप में की जाती है, उससे मैं अपने आपको बचा लेना चाहता हूँ। जो अपने कर्त्तव्य से विमुख होकर तप करते हैं, उससे मैं सहमत नहीं हूँ। कोई बहन गर्भवती है, या उसका बच्चा छोटा है, स्तन पान करता है, घर में सास-ससुर या और कोई बीमार है, उस समय उसकी व्यवस्था किए बगैर कोई तप करती है तो वह तप शास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं है। इस प्रकार का तप-कर्म निर्जरा का हेतु न बनकर कभी-कभी कर्म-बन्ध का कारण बन जाता है।

यह नितान्त सत्य है कि तपश्चर्या का एक-एक क्षण अनन्त-अनन्त कर्मों की निर्जरा का हेतु है, परन्तु होना चाहिए सच्चा तप। यदि तप

करते समय कषायों का उद्वेग बढ़ रहा है, घर में क्लेश का विषाक्त वातावरण सब के मन को कुंठित कर रहा है, तो उससे बचना चाहिए।

उतना ही तप करें जितना उसका भार सहन कर सकें और मन का सन्तुलन भी बराबर बनाये रख सकें। भूख लगे तो कोई हर्ज नहीं, तन दुर्बल हो तब भी घबराने की जरूरत नहीं। क्योंकि तप से तन की शक्ति तो क्षीण होगी ही, परन्तु मन दुर्बल नहीं होना चाहिए, मन की शक्ति क्षीण नहीं होने देनी चाहिए। ऐसा न हो कि मन के मुताबिक बैण्ड बाजे की व्यवस्था नहीं हुई, मन के अनुसार पितृ-गृह से माहिरा नहीं आया, मन के अनुकूल पारणे की तैयारी नहीं हुई कि एकदम दूसरों पर उबल पड़ी कि—"मैं तो इतने दिन भूखों मरी और तुमने मेरे तपोत्सव की जरा भी व्यवस्था नहीं की।" मन में, विचारों में, ऐसी भावना का प्रादुर्भाव नहीं होना चाहिए। यदि ऐसे भाव उद्बुद्ध होते हैं तो आप चिन्तामणि रत्न को ढेले के मोल बेच रही हैं।

तप में मन दृढ़ रहना चाहिए। यदि क्षुधा की पीड़ा के कारण मन आकुल-व्याकुल हो रहा है तो ऐसा तप निर्जरा का हेतु नहीं हो सकता। उत्तर-भारत में एक कहानी प्रचलित है—एक व्यक्ति ने पौषध किया। उसे क्षुधा की वेदना सता रही थी। भूख के कारण नींद नहीं आ रही थी। वह बेचारा इधर-उधर करवटें ले रहा था। पास के मकान से एक बहन सुसराल को विदा हो रही थी। विदाई का रुदन पौषध में रहे हुए लोगों के कानों में पड़ा। उन्होंने जानना चाहा कि वह क्यों रो रही है? जाँच-पड़ताल होने लगी; तो पौषध में सोए हुए व्यक्ति ने, जिसे भूख के कारण बहुत आकुलता हो रही थी, कहा—कोई पौषध वाला व्यक्ति मर गया होगा और वह उसे रो रही होगी। हाँ तो, पौषध उसके लिए मरण हो रहा था। ऐसे तप से कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अतः तप साधना रोते हुए न करें, दिन हाय-हाय करके न निकालें, पड़े-पड़े समय व्यतीत न करें; परन्तु जितना भी तप करें—उत्साह, उमंग

एवं उल्लास के साथ करें। और उतना ही तप करें जिसमें मन दृढ़ रह सके, मन में इधर-उधर की कल्पनाएँ चक्कर न काटती रहें।

साधना में आडम्वर को स्थान नहीं देना चाहिए, वाहरी दिखावे में त्याग-तप का आदर्श दव जाता है। जिधर देखो उधर आडम्वर ही आडम्वर परिलक्षित होता है और भ्रमवश लोग उस दिखावे को ही धर्म समझ वैठते हैं। अतः मेरे कहने का अर्थ इतना ही है कि आप तप करें, जप करें, दान देवें, सेवा करें या अन्य कोई भी सत्कार्य करें तो उसमें वाहरी दिखावा एवं आडम्वर इतना न करें कि आपका धर्म उसमें दव जाए।

सम्वत्सरी पर्व
८, ६, ५६ कुचेरा (राजस्थान)

—: ८ :—

आचार्य : एक प्रशस्त शास्ता

मनुष्य अपनी सभ्यता के आदिकाल से ही समाज के साथ सम्बद्ध रहता आया है। उसके आचार-विचार तथा रीति-रिवाज की शृंखला एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। एक-दूसरे के साथ जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध रहा हुआ है। लोक-स्थिति को सुव्यवस्थित करने के लिए लोक समाज का निर्माण हुआ और आध्यात्मिक साधना को सामूहिक रूप से जन-जीवन में जगाने के लिए, छोटे-बड़े साधकों के अन्तस्तल में आत्म-ज्योति प्रज्वलित करने के लिए संघ अस्तित्व में आया। समाज का काम यह रहा कि वह एक-दूसरे का सहयोगी बनकर व्यक्ति, परिवार, जाति, समाज एवं राष्ट्र के नैतिक धरातल को ऊपर उठाए, उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करे। और संघ का काम यह रहा कि वह मानव-जीवन में आध्यात्मिक चेतना जगाए, अखिल प्राणि-जगत के प्रति आत्मीयता का भाव उद्बुद्ध करे तथा मनुष्य को हर परिस्थिति में जीवन को सन्तुलित बनाए रखने की अमोघ शक्ति प्रदान करे।

बात यह है, समाज और संघ दोनों भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। दोनों का संचालन करने के लिए एक अगुआ, मुखिया, आचार्य अर्थात् नेता होना आवश्यक है। परिवार में एक

मुखिया होता है, जो परिवार का संचालन करता है। परिवार के सदस्यों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में निरन्तर प्रगति करने की प्रेरणा देता है और संकट के नाजुक क्षणों में कठिनाइयों की घाटियों को पार करके वह अपने लिए भी मार्ग बनाता है तथा परिवार का जीवन-पथ भी प्रशस्त बनाता है। समाज और संघ में इस प्रकर के मुखिया का होना नितान्त आवश्यक है, जो समाज एवं संघ को आपत्तियों के घोर अन्धकार में से सकुशल प्रशस्त मार्ग पर ले जा सके।

दुनिया में कुछ मस्तिष्क ऐसे होते हैं, जो दीपक का काम करते हैं, दुनिया को उजेला देते हैं। कुछ दिमाग ऐसे होते हैं, जो दीपक के आलोक में गति-प्रगति करते हैं। एतदर्थ श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—"गाँव, नगर, राष्ट्र आदि की सुव्यवस्था के लिए एक ग्राम-स्थविर, नगर-स्थविर, राष्ट्र-स्थविर हो, जो उनका यथोचित विकास कर सके,। संघ के अन्दर भी छोटे-बड़े सभी साधकों की सुव्यवस्था करने के लिए, उनके जीवन को ऊपर उठाने की प्रेरणा देने के लिए, एक प्रमुख नेता या आचार्य का होना आवश्यक है।" परन्तु संघ के वरिष्ठ नेता का जीवन मिश्री-सा मधुर होना चाहिए। जैसे मिश्री पानी में घुल-मिलकर जल के कण-कण में मिठास एवं मधुरता भर देती है, पानी के मूल्य को बढ़ा देती है; उसी तरह आचार्य संघ के सभी छोटे-बड़े साधकों के साथ घुल-मिलकर उनके जीवन में माधुर्य बिखेरता रहे, हर साधक के साथ स्नेह का, मधुरता का व्यवहार करता रहे, तो संघ का महत्व बहुत बढ़ सकता है।

संघ के सामुदायिक अभ्युदय के लिए आचार्य की आवश्यकता है। पर कब ? जबकि साधक कठिनाइयों के जाल में उलझ गया हो, विवादास्पद गुत्थियों को सुलझाने की शक्ति न रखता हो, एवं काँटों की नोंक पर गतिमान् होकर अपना मार्ग प्रशस्त करने की सामर्थ्य न रखता हो। तब इसका अर्थ यह हुआ, दुर्बल साधकों के लिए ही आचार्य के शासन की आवश्यकता होती है।

जब हम आगम के पन्नों को पलटते हैं तो वहाँ कुछ स्थलों पर देवों का वर्णन आता है। उसमें भवनपति और व्यन्तर देवों के ऊपर शासन करने के लिए बहुत से इन्द्र बताए हैं, उनकी उच्छृंखल एवं कौतुहल-प्रिय मनोवृत्ति को नियंत्रित रखने के लिए ही इन्द्रों की इतनी बड़ी संख्या है। परन्तु जब हम ऊपर के देवलोकों का वर्णन पढ़ते हैं तो वहाँ इन्द्रों की संख्या घटती जाती है, बारहवें देवलोक के ऊपर तो इन्द्र पद की व्यवस्था ही नहीं है। कारण कि वहाँ के सभी देव अहमिन्द्र होते हैं—अपने इन्द्र स्वयं होते हैं, अपनी व्यवस्था वे स्वयं करते हैं। उनमें न कोई द्वंद होता है, न संघर्ष होता है और न वे परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। वे अपनी वृत्तियों का स्वयं संचालन करते हैं।

जैनागमों में यौगलिक-युग का वर्णन आया है। उन पर शासन करने के लिए कोई नेता नहीं होता। करोड़ों-करोड़ वर्ष तक वे बिना किसी नेता के स्वयं अपना संचालन करते रहे, फिर भी उनमें परस्पर लड़ाई-झगड़ा नहीं हुआ, संघर्ष नहीं हुआ। पर, जब कर्म-भूमि का उदय हुआ तो परिस्थिति शनैः शनैः बदलने लगी। मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं और जन-संख्या में भी वृद्धि होने लगी। युगलिया-युग में जन-संख्या का अनुपात प्रायः सन्तुलित रूप में रहता था। सन्तान की उत्पत्ति माता-पिता की अन्तिम अवस्था में होती थी। एक युगल को (पुत्र-पुत्री को) जन्म देकर छह महीने बाद माता-पिता मर जाते थे। परन्तु कर्म-भूमि के युग में इधर जन-संख्या में वृद्धि होने लगी और उधर काल प्रभाव से प्रकृति-प्रदत्त पदार्थ कम पड़ने लगे। आवश्यक पदार्थों का अभाव होने लगा और अभाव ही पारस्परिक संघर्ष, द्वन्द एवं झगड़ों का मूल कारण है। अभाव के कारण संघर्ष जन्मे और संघर्षों के कारण मनुष्य एक दूसरे पर आक्रमण करने लगा, सबल निर्बल को दबाने लगा। इस अराजकता को, मत्स्य गलागल को रोकने के लिए नेता का, राजा का शासन आया। अनुशासन की दृष्टि से नेता, मुखिया, राजा बहुत बड़ी शक्ति है, महान् ताकत है। और यह भी सूर्य के उजाले की तरह

स्पष्ट है कि शासन-तंत्र के नीचे अभाव, संघर्ष, द्वन्द एवं झगड़े-टंटे अवश्य छिपे रहते हैं। अभिप्राय यह हुआ, जब मनुष्य अपने आप अपनी व्यवस्था कर नहीं सकता है, साधक स्वयं अपने जीवन पर नियंत्रण नहीं रख पाता है, इन्सान इन्सानियत के नाते एक-दूसरे का सहयोगी-साथी बनकर—एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर अथवा मेरेपन को तेरेपन में बदल कर जी नहीं सकता है, तब नेता, मुखिया, राजा, तथा आचार्य की आवश्यकता होती है।

मैं अभी बता चुका हूँ, जैनागमों में देवों का वर्णन आया है, बारहवें देवलोक के ऊपर सभी देव अहमिन्द्र होते हैं। उनमें परस्पर स्वामी-सेवक का भेद नहीं होता। इस वर्णन में जीवन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त ध्वनित होता है—"मनुष्य जब जीवन की ऊँचाई पर पहुँच जाता है, तो फिर उसके जीवन को नियंत्रित रखने के लिए किसी शासक की आवश्यकता नहीं रह जाती।

जैनागमों में जिन-कल्पी और स्थविर-कल्पी साधुओं का वर्णन आता है। स्थविर-कल्पी साधु के जीवन में कुछ दुर्बलताएँ होती हैं, इससे शासन-व्यवस्था को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए इस परम्परा में आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्त्तक आदि की शृंखला चली आ रही है। परन्तु जिन-कल्पी मुनि के लिए कोई शासन-व्यवस्था नहीं होती। वे अपने ऊपर अपना स्वयं का शासन रखते हैं, अपने साधना पथ में खड़ी बाधक चट्टानों को तोड़कर अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त बनाते हैं। दुःख-सुख में सदा एक रूप बने रहते हैं। वे महापुरुष, जो आपत्तियों की तूफानी लहरों में बहकर दुःख के सागर में डूबते नहीं और सुख के उत्तुंग शिखर पर चढ़कर इठलाते नहीं, उनके लिए आचार्य आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

हमारे जीवन में इतनी शक्ति प्रकट नहीं हुई है, इतनी ऊँचाई नहीं आई है कि हम अपने आपका स्वयं संचालन कर सकें। अतः विकट परिस्थिति में जब साधक संकल्प-विकल्प के जाल में उलझ जाता है, दिग्-

भ्रान्त-सा हो जाता है, उसे कोई मार्ग दिखाई नहीं देता है कि वह कहाँ और किधर कदम बढ़ाए, तब विधि-निषेध का, उत्सर्ग-अपवाद का निर्देशक आचार्य चाहिए।

यह निर्विवाद सत्य है कि शासन-प्रणाली का उद्भव जीवन की कुछ दुर्बलताओं को लेकर हुआ है। अनुशासन की छोटी-बड़ी शृंखलाओं से, उसकी कठोरता तथा कोमलता से जनता का तथा साधक का जीवन नापा जा सकता है और सरलता से समझा जा सकता है कि कौन-सा पंथ, कौन-सा समाज, और कौन-सा राष्ट्र—आदर्श पंथ, आदर्श-समाज एवं आदर्श-राष्ट्र की गणना में आ सकता है!

आप देखेंगे—जिस पंथ में, मजहब में, या सम्प्रदाय में, अधिक संघर्ष होते हैं, बात-बात पर तू-तू, मैं-मैं होती रहती है, बक-झक हुआ करती है और जिस देश में छोटी-छोटी बातों पर बगावतें होती हैं, युद्ध होते हैं, फाँसी के तख्ते खून से रंगे रहते हैं एवं निरन्तर सरकारी कानून के डंडे घूमते रहते हैं; वह पंथ, सम्प्रदाय, समाज तथा राष्ट्र आदर्श नहीं कहा जा सकता। वहाँ का आदमी, आदमी नहीं; पशु समझा जाता है। तभी तो निरन्तर डंडे का प्रयोग किया जाता है।

पशु को बाड़े में बन्द करना है तब भी डंडा चाहिए, बाड़े से बाहर निकाल कर चराने के लिए जंगल में ले जाना है, तब भी डंडा चाहिए। पशु के दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे चारों तरफ डंडा घूमता रहता है। वह एक क्षण भी स्वतंत्रता-पूर्वक घूम-फिर नहीं सकता, चर नहीं सकता। कभी राह चलते खेत की खड़ी फसल में मुँह डालता है, तो तुरन्त सिर पर गवाले का डंडा आ धमकता है। कभी मार्ग से इधर-उधर भटक जाता है तो डंडा नियंत्रित राह पर लाता है। अभिप्राय यह है कि डंडे से पशु हाँका जाता है, मनुष्य नहीं। डंडे का जीवन, पाशविक-जीवन है, इन्सान का नहीं। जिस समाज, पंथ, संघ एवं राष्ट्र में जितने ज्यादा ग्वाले हैं अथवा यों कहिए जहाँ कहीं भी, दंड का, कानून-कायदे का डंडा जितना ज्यादा घूमता है, वहाँ विकास का मार्ग उतना ही अवरुद्ध रहता है।

एक भाई अमरीका की यात्रा करके लौटे तो उन्होंने मुझे बताया कि वहाँ के कारखाने के मजदूरों ने एक बार हड़ताल कर दी थी। कारण यह बताया कि हमारी जाँच के लिए एक मुखिया (हेड) निरन्तर खड़ा रहता है, यह हमारा अपमान है तथा हमारी ईमानदारी एवं प्रामाणिकता पर एक काला धब्बा है। यह हम भी चाहते हैं कि हम जो भी काम करें, उसे अच्छी तरह जाँचा जाय; परन्तु जाँच के नाम पर निरन्तर मुखिया का शासन बना रहना, हमारे लिए असह्य है और जीवन-विकास के लिए बाधक भी है। यह है, स्वतंत्र देश के श्रमिकों का चिन्तन और श्रमजीवी मनुष्यों का प्रकाशमान जीवन।

श्रमण भगवान् महावीर ने भी एक दिन यह दिव्य-आघोष किया था—"मनुष्य की देख-रेख के लिए निरन्तर ईश्वर को पीछे लगाए रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने को ईश्वर के खूँटे से बाँधे रखना, जीवन को पंगु बनाना है।" इस आत्म-स्वातंत्र्य के उत्तर में भगवान् को हजारों-हजार गालियाँ दी गईं और कहा गया कि यदि ईश्वर के भय का डंडा नहीं रहा तो मानव-जाति पाप से कैसे बच सकेगी? भगवान् ने उत्तर दिया—"जो व्यक्ति किसी अदृश्य शक्ति के भय से, आतंक से गति करते हैं और डंडे के प्रहार से बार-बार घेरे जाते हैं, वे मानव नहीं, पशु हैं। उनकी अपनी स्वतंत्र गति नहीं, स्वतंत्र चिन्तन-मनन नहीं। उनकी चाल मनुष्य की चाल नहीं, पशु की चाल है और उसके पीछे स्वतंत्र आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश नहीं, अपितु डंडे का, भय का घोर अंधकार है।"

जैन-धर्म ईश्वर के अस्तित्व में अटूट विश्वास रखता है, उसे मुक्त आत्मा के रूप में मानता है। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा, हम उसे कठ-पुतली को नचाने वाला तमाशगर नहीं मानते और न उसके नचाये नाचते ही हैं। सिर्फ आतंक और भय से ही मार्ग पर चलना हमारी मनुष्यता का अपमान है। मान लो, कभी डंडे के भय से प्रत्यक्ष रूप में पाप न भी करें, तब भी लुक-छिपकर पाप-कार्य में प्रवृत्त होने की वृत्ति चालू रहेगी,

अन्तर्मन में तो पाप-वासना का दावानल धधकता ही रहेगा, जो अन्दर की मानवता को जलाकर भस्म कर देगा और इन्सान को कभी इन्सानियत की ओर बढ़ने नहीं देगा।

अस्तु, जब तक जीवन में दौर्बल्य है, तब तक आचार्य का शासन आवश्यक है; परन्तु प्रतिक्षण दंड का डंडा घुमाने के लिए नहीं। यदा-कदा जब साधक राह से भटक जाए तो केवल दिशा-संकेत के लिए आचार्य की आवश्यकता है।

जब साधक स्थविर-कल्प की भूमिका को पार करके जिन-कल्प की स्थिति में पहुँच जाता है तो फिर उसके लिए आचार्य के शासन की आवश्यकता नहीं रहती। साधु प्रतिदिन यह भावना करता है—"मेरा वह दिन कब धन्य होगा, जब मैं जिन-कल्प के रूप में स्वतंत्र विचरण कर सकूँगा, और अपनी-मंजिल स्वयं तय कर सकूँगा। यह एकल विहार पड़िमा की भावना है, जो साधक के मन की एक विशिष्ट उड़ान है।

हमारे यहाँ आत्म-स्वातंत्र्य की सर्वोत्कृष्ट भूमिका के चिन्तन की पद्धति रही है। अतएव मूलतः जैन-धर्म शासन एवं नेता को—चाहे वह लौकिक-समाज का हो या आध्यात्मिक-संघ का—सदा सर्वदा चुनौती देता रहा है। वह सैद्धान्तिक रूप से शासन-निरपेक्ष स्वतंत्र जीवन-पद्धति को महत्व देता रहा है। इसका यह अर्थ लगाना गलत है कि वह उच्छृंखलता को बढ़ावा देता है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि हमारे ऊपर किसी नेता, सम्राट् या आचार्य आदि का शासन न रहे। हम स्वयं अपने सम्राट् एवं आचार्य बनकर स्वतंत्र रूप से अपनी जीवन-यात्रा तय करें। यही हमारी मनोभावना है, हमारी कल्पना की उड़ान है, हमारा स्वप्न है। स्वप्न, कुछ सीमा तक स्वप्न ही रहता है, वह एकदम प्रत्यक्ष का रूप नहीं ले सकता और न उसे यकायक बिना किसी विशेष भूमिका के कार्यान्वित करना ही चाहिए।

मैंने यह एक दार्शनिक विवेचन किया है, और सैद्धान्तिक सत्य आपके समक्ष रखा है—"मनुष्य स्वयं अपना राजा है, साधक स्वयं अपना

आचार्य है।" परन्तु उस मंजिल तक पहुँचने के लिए साधक को आचार्य के नेतृत्व में चलना ही चाहिए। औचित्य की दृष्टि से आचार्य भी आध्यात्मिक संघ का सम्राट् माना जाता है।

आचार्य को संघ का उत्तरदायित्व सौंपा गया और उसने संघ के अभ्युदय के लिए यावद्बुद्धि-बलोदयं पूरा प्रयत्न किया और अपने दायित्व को ठीक तरह निभाया। परन्तु भविष्य के लिए योग्य व्यक्ति के हाथ में संघ का दायित्व सौंपना भी आचार्य का कर्त्तव्य है। यदि वह आचार्य पद पर किसी योग्य साधु की व्यवस्था नहीं करता है, तो व्यवहार भाष्य में उस आचार्य के लिए प्रायश्चित्त बताया गया है।

आचार्य को अपना उत्तराधिकारी किसे चुनना चाहिए तथा उसका परीक्षण कैसे करना चाहिए? इसके लिए भाष्यकार ने एक रूपक दिया है। वह इस प्रकार है—

एक राजा था, उसके तीन पुत्र थे। एक दिन वह इस चिन्ता में निमग्न हुआ कि मेरा यह विशाल साम्राज्य किस पुत्र के हाथ में सुरक्षित रह सकेगा? कौनसा पुत्र मेरे साम्राज्य की अभिवृद्धि कर सकेगा? राजा काफी सोचता-विचारता रहा, फिर भी निर्णय पर नहीं पहुँच सका। आखिर अपने प्रधान-मंत्री से इस सम्बन्ध में परामर्श लिया।

प्रधान मंत्री ने कहा—राजन्, चिन्ता जैसी क्या बात है? तीनों राजकुमारों की परीक्षा कर ली जाय। जो योग्य साबित हो उसे राज्य-सत्ता सौंप दी जाय। परीक्षा के लिए आप तीनों राजकुमारों को अपने राजभवन में भोजन के लिए निमंत्रित करें, शेष व्यवस्था मैं स्वयं कर लूँगा।

राजा की तरफ से भोजन का निमंत्रण पाकर तीनों राजकुमार राज-भवन में पहुँचे। अतिथि सम्राटों की तरह वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया और सम्राटों के योग्य स्वर्ण थालों में भोजन परोसा गया। साथ ही हर थाल के पास एक-एक डंडा भी रख दिया गया। तीनों राजकुमार भोजन करने बैठे। ज्यों ही थाल में से एक कोर उठाकर

खाने के लिए मुँह के पास ले गए कि पूर्व-योजना के अनुसार उन पर तीन शिकारी कुत्ते छोड़ दिए गए।

एक कुत्ता पहले राजकुमार पर झपटा। झपटने के साथ ही राजकुमार के सारे होश-हवाश गायब हो गए, वह दिङ्मूढ सा हो गया, कुछ भी नहीं सोच सका, अपने पास में रखे डंडे को भी वह प्रयोग में नहीं ला सका। वह तो, एकदम भागा और बेतहाशा भागा। सामने खंभा आया तो उससे टकराया, रास्ते में और कोई पदार्थ आया तो उससे ठोकर खाकर गिर पड़ा। इस तरह गिरता-पड़ता, टकराता किसी तरह राजमहल के बाहर पहुँच पाया और वहाँ पहुँचकर सन्तोष की साँस ली।

इधर दूसरा कुत्ता जब अगले राजकुमार पर झपटा, तो उसने झट से डंडा उठाया और डंडे के प्रहार से उसे दूर भगा दिया। जब कुत्ता पुनः झपटा, तो फिर डंडे का प्रयोग किया और इस तरह डंडे की छाया के नीचे निश्चिन्त होकर भोजन करने लगा।

अब तीसरे राजकुमार का नंबर था। ज्यों ही कुत्ता उस पर झपटा तो उसने कुत्ते की ओर प्रेम भरी निगाह से देखा और भोजन में से कुछ भाग निकाल कर उसके सामने रख दिया। राजभवन में ऐसी व्यवस्था तो थी नहीं कि एक का भी पूरा पेट न भर पाए। वहाँ तो यथेष्ट भोजन था, अतः जब-जब कुत्ता उस पर झपटता रहा, तब-तब राजकुमार उसे खिलाता ही रहा। इस तरह उसने कुत्ते को भी खिलाया और स्वयं ने भी शान्त होकर भोजन किया।

राजा और प्रधान मंत्री दोनों सामने के गवाक्ष में बैठे हुए सारा दृश्य देख रहे थे। प्रधान मंत्री ने पूछा—महाराज, क्या कुछ समझ में आया? 'न' कार की भाषा में उत्तर देते हुए राजा ने कहा—मैं तुम्हारी योजना को ठीक तरह नहीं समझ सका। तब बात को स्पष्ट करते हुए प्रधान मंत्री ने कहा—

"जो राजकुमार कुत्ते के झपटते ही भाग खड़ा हुआ, वह तो किसी भी तरह का अधिकार पाने की योग्यता नहीं रखता। सिंहासन केवल

जय-जयकार पाने के लिए नहीं, वह तो काँटों के मध्य में खिलने वाला फूल है। उसमें आपत्ति एवं कष्ट आने की अधिक संभावना है; परन्तु पहला राजकुमार दुःखों की नोंक पर नहीं चल सकेगा, थोड़ी-सी आपत्ति आते ही मैदान छोड़कर भाग खड़ा होगा। अस्तु, उस पलायनवादी को राजा चुन लिया गया तो वह पीढ़ियों से चले आ रहे राज्य को बरबाद कर देगा।"

"दूसरा राजकुमार शक्तिशाली अवश्य है, परन्तु राज्य करने के योग्य नहीं है। क्योंकि उसका विश्वास डंडे पर अधिक है और डंडा युद्ध-भूमि में ही उपयुक्त हो सकता है, उससे दुश्मनों का मस्तक भंजन किया जा सकता है; परन्तु उससे जनता पर शासन नहीं किया जा सकता। जन-मन पर शासन करने के लिए डंडा नहीं, स्नेह चाहिए। यह राजकुमार डंडे का पुजारी है, अतः डंडे के आतंक से जनता का शोषण करता रहेगा, प्रजा पर अन्याय-अत्याचार करेगा और कभी किसी ने जरा-सी बात नहीं मानी तो उसे तलवार के घाट उतार देगा या फाँसी के तख्ते पर लटका देगा। क्योंकि वह अपना पेट तो भरना जानता है, परन्तु दूसरे की भूख-प्यास की उसे परवाह नहीं है।"

"निष्कर्ष में तीसरा राजकुमार ही शासन चलाने के योग्य है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वह आपत्ति में भी नहीं भागा, संकट के समय में भी डंडे का प्रयोग न करके प्रेम एवं स्नेह का झरना बहाता रहा। वह स्वयं खाता रहा और दूसरे की भूख-ज्वाला को भी शान्त करता रहा।"

"राज-सिंहासन पर ऐसा राजा नहीं चाहिए, जो थोड़ा-सा संकट आते ही भाग खड़ा हो और ऐसा राजा भी नहीं चाहिए, जो स्वयं तो आराम से खाता रहे परन्तु दूसरों को सुख-सुविधा देने के बजाय डंडा मारता रहे। हमें ऐसा राजा चाहिए, जो अपने सुखों के साथ प्रजा की सुख-सुविधा का भी खयाल रखे तथा उसके हितों की भी यथा-अवसर सुरक्षा कर सके।"

इस रूपक के द्वारा व्यवहार भाष्य में यह बताया गया है कि आचार्य

वृद्ध होने पर अपने विद्वान् एवं शास्त्रज्ञ शिष्य को ऐसे स्थान पर भेजे, जहाँ साधु-संघ को संकट में से गुजरना पड़ता हो। यदि वह वहाँ की कठिन परिस्थिति को देखकर साधु-संघ को वहीं मझधार में छोड़कर वापिस भाग आए तो उसे आचार्य पद न दिया जाए।

यदि वह साधु-संघ पर कठोर शासन करता रहे, शिष्यों के द्वारा अपनी आहारादि की आवश्यकता पूरी करता रहे; किन्तु उनकी जीवन-यात्रा के लिए कुछ भी व्यवस्था न करे, उनकी सुख-सुविधा का जरा भी ध्यान न रखे, अपितु उन्हें भूखा-प्यासा रखकर त्रास देता रहे, वह भी आचार्य पद के योग्य नहीं है।

यदि वह संकट काल में भी अपना सन्तुलन बनाए रखे अर्थात् न तो स्वयं भयभीत होकर पलायन करे और न दूसरे को संत्रस्त होने दे, बल्कि निःस्वार्थ भाव से निष्ठा-पूर्वक साधु-संघ की सेवा करता रहे, उसके कष्टों को दूर करने का प्रयास करता रहे, तो वह आचार्य पद के योग्य है।

यह परीक्षण का एक तरीका है। एक दूसरा तरीका भी भाष्यकार ने बताया है। वह भी आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

भाष्य में तीन प्रकार के साधक बताए हैं। एक अपरिणामी, दूसरा-अतिपरिणामी और तीसरा-परिणामी। इनका विस्तृत विवेचन करते हुए भाष्यकार कहते हैं:—

किसी विशेष परिस्थिति में; अर्थात्—अपवाद की स्थिति में आचार्य किसी साधु को किसी ऐसी वस्तु को लाने के लिए भेजता है, जोकि उत्सर्ग स्थिति में लाने योग्य नहीं है। यदि वह साधु उस वस्तु को लाने के लिए नहीं जाता है और कहता है कि वह वस्तु कल्पनीय नहीं है, साधु के लेने योग्य नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि जो साधु परिस्थिति को देखकर बदलता नहीं है, सदा एक ही विचार धारा में बहता रहता है, अपवाद स्थिति को नहीं समझता है, वह अपरिणामी है अतः उसे आचार्य पद न दिया जाए।

अब दूसरे के सम्बन्ध में सुनिए, वह अतिपरिणामी है। वह बदलने वाला तो है परन्तु जरूरत से ज्यादा। उसे अपवाद के सम्बन्ध में परिस्थिति वश छूट की सूचना दी जाए तो वह एक के साथ दो-चार अन्य अपवादों का भी अकारण सेवन कर लेता है। आचार्य के पूछने पर उल्लुण्ठ भाव से कहता है—कुछ के लिए तो आपने ही छूट दी थी, यदि मैंने कुछ अधिक अपवाद सेवन कर लिया तो इसमें क्या हो गया ? आखिर अपवाद ही तो है, और अपवाद में तो कभी कम कभी अधिक दोष लग ही जाते हैं। इस तरह जरा-सा सुराख मिलते ही जो दरवाजा बना लेता है, ऐसे अति-परिणामी साधु को भी आचार्य पद न दिया जाय।

परन्तु तीसरा शिष्य परिणामी है। उसे भेजा गया तो वह ठीक आचार्य के निर्देशानुसार कार्य करके लौटा। अपवाद के लिए न उसे कोई आश्चर्य हुआ, न आचार्य के प्रति घृणा हुई और न अपवाद का बहाना लेकर उसने अन्य दोषों की ओर कदम ही बढ़ाया।

भावार्थ यह है कि आचार्य पद उसी को दिया जाए,जो न तो अपरिणामी हो, न अतिपरिणामी हो, किन्तु परिणामी हो। जो परिस्थिति के अनुसार बदलने वाला हो, और उतना ही बदलने वाला हो, जितना कि आवश्यक हो; अर्थात्—जिसमें शास्त्र-मर्यादा की अवहेलना न हो। उसी साधु को आचार्य पद पर स्थापित किया जाए, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव का ज्ञाता हो। देश और काल के अनुसार उत्सर्ग-अपवाद का ठीक-ठीक समझने वाला हो।

हमें श्रमण-संघ के विषय में भी सोचना है कि वह आज किस स्थिति-परिस्थिति में से होकर गुजर रहा है। हमने सादड़ी के प्रांगण में श्रमण संघ का एक छोटा-सा पौधा लगाया था। अपनी-अपनी संप्रदायों का तथा आचार्य, उपाध्याय आदि पदवियों का विलीनीकरण करके एक संघ बनाया। तो, क्या हमारे मन में किसी को धोखा देने की, ठगने की भावना थी ? दुनिया की आँखों में धूल झोंककर स्वार्थ साधने की तमन्ना थी ? मैं तो स्पष्ट शब्दों में कहूँगा—"हमारे अन्तर्मन

में ऐसी कोई दुर्भावना नहीं थी, न इसमें कोई हमारा व्यक्तिगत हित निहित था और न हमने संगठन की ओट में कोई स्वार्थ ही साधा। हम ने तो इसके लिए अपने स्वार्थ और व्यक्तिगत हितों का बलिदान ही किया है।

श्रमण-संघ का निर्माण होने के पहले हम अपनी-अपनी संप्रदाय के आचार्य, उपाध्याय आदि पदों पर प्रतिष्ठित थे, तब हमारा अपना पीठ-बल मजबूत था। अस्तु हम उन सांप्रदायिक पदों को, श्रावकों के पीठ-बल को तथा संप्रदायों के ममत्व को त्यागकर श्रमण-संघ में मिले हैं। फिर भी यदि कोई कहे कि हमने संघ को, जनता को धोखा दिया है, एक चाल खेली है तो मैं साहस पूर्वक कहूँगा कि आप हमारे मनोभावों का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर सके। आपने हमारे त्याग का, संघ-हित की भावना का गलत अर्थ लगाया है। हमने एकमात्र संघ के अभ्युदय की भावना से संघैक्य योजना को मूर्त रूप दिया है। हमने जो संगठन किया, वह विवेक-बुद्धि से सोच-समझकर किया है, खुलकर विचार-चर्चा करने के बाद किया है।

मुझे प्राय: छोटे-बड़े प्रत्येक साधु के हृदय को परखने का सुअवसर मिला है। मैंने देखा, वहाँ सब के अन्तर्मन में संघ अभ्युदय की ज्योति जगी। अत: हमें किसी पर दबाव डालने का अवसर ही नहीं आया। यह बात अलग है, कोई जल्दी जागृत हुए, तो कुछ साथी थोड़ी देर से जगे। यहाँ देर-अबेर का प्रश्न नहीं है, जगे सभी और सब एक साथ संगठन की ओर बढ़े।

हमें श्रमण-संघ के वरिष्ठ महाप्रभु श्रद्धेय आचार्य श्री एवं उपाचार्यश्री के दिव्य जीवन का प्रकाश मिलता रहा है। उनके ज्योतिर्मय नेतृत्व में हम अपने कदम बढ़ा रहे हैं। मुझे आचार्यश्री के निकट में रहने का सुअवसर मिला है। मेरे ऊपर उनका अधिक स्नेह भाव रहा है। उनके जीवन के कण-कण में मृदुता, कोमलता समाई हुई है। उनके मन में

शान्ति, क्षमा, एवं करुणा का सागर लहरा रहा है। विकट एवं कटु-प्रसंगों पर भी उन्होंने श्रमण-संघ के नेतृत्व में कभी कड़वाहट नहीं आने दी, कभी जलन पैदा न होने दी, कभी हो-हल्ला नहीं मचाया, बल्कि प्रेम, स्नेह एवं माधुर्य से शासन किया और आज भी कर रहे हैं।

हाँ तो, अनुशासन फूलों की माला है। पर, ऐसी माला है, जिसमें धागा तो है किन्तु फूलों के सौन्दर्य से प्रच्छन्न। और इसी में फूलमाला का अपना अनूठा सौन्दर्य है, जिसमें भीनी-भीनी सुवास और मधुर पराग से मन-मस्तिष्क को तरोताजा बनाने वाले फूल तो अपना सौन्दर्य बिखेरते रहें, परन्तु उन्हें पंक्ति-बद्ध सजाये रखने वाला धागा बाहर में दिखाई न दे।

इस तरह अनुशासन के सूत्र में पिरोए गए श्रमण-संघ के श्रमण (पुष्प) प्रेम, स्नेह, सद्भावना, त्याग-विराग की मधुर पराग बिखेरते रहें। अनुशासन का धागा रहे अवश्य, परन्तु वह पारस्परिक स्नेह सद्भाव के फूलों के नीचे ढका रहे। ऐसा न हो कि फूलों को तोड़-मरोड़ कर या एक किनारे ढकेल कर शासन-सूत्र अभद्र रूप से ऊपर निकल आए। यदि शासन का धागा उभर-उभर कर ऊपर आता रहा तो सदाचार, सद्विचार तथा सद्भावना के पुष्प एक किनारे जा पड़ेंगे। फिर तो केवल शासन ही शासन रह जायगा, चारों ओर दंड का ही ताण्डव नृत्य दिखाई देगा। और जिस संघ में दंड एवं शासन को ही सर्वोपरि माना जाता है, उसी के भरोसे सारे काम होते हैं और पथ-भ्रष्ट जीवन को बदलने के लिए अन्याय-मूलक पथ-भ्रष्टता ही उपयोग में लाई जाती है, तो मैं कहूँगा कि ऐसा संघ, जितना जल्दी खत्म कर दिया जाए उतना ही अच्छा है। हमें केवल दंड, और एकमात्र कोरे दण्ड के बल पर चलने वाले संघ की कोई आवश्यकता नहीं है। हमें तो ऐसे संघ की आवश्यकता है, जिसमें साधक का जीवन केवल दंड के डंडे से नहीं, अपितु स्नेह और सद्भावना से बदला जाए। साधक का जीवन पशु की तरह निरन्तर दंड के डंडे से न हाँका जाय, ऊँटकी तरह उसकी नाक में दंड की, भय

की, और आतंक की नकेल डालकर उसके जीवन को न मोड़ा जाय। परन्तु साधक के मन में त्याग-विराग की भावना जागृत की जाय, जिससे वह स्वयं गति कर सके। चाहे यह स्थिति आज बने या कुछ वर्ष बाद बने, पर सही रास्ता यही है। जो साधक दंड के आतंक से चलता है, वह न तो अपने जीवन का कुछ विकास कर सकता है और न संघ के अभ्युदय में ही कुछ सहयोग दे सकता है।

बात यह है, जो संघ दंड के आधार पर ही साधक के जीवन का फैसला करते हैं—जिस संघ का दंड, निरन्तर अखबारों के पृष्ठ के पृष्ठ काले करता है—गाँव-गाँव, गली-गली और घर-घर में धूम मचाता फिरता है—जिस संघ के वरिष्ठ नेता साधक के पीछे प्रतिक्षण दंड का डण्डा लेकर घूमते हैं, उन पर झूठे-सच्चे लांछन लगाकर येन-केन प्रकारेण उन्हें बदनाम करने का प्रयास करते रहते हैं, तो उस संघ को तथा उक्त संघ के वरिष्ठ सत्ताधीशों को दीक्षा देकर सन्तों के सर-सब्ज जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने का तथा उजाड़ने का क्या अधिकार है? यदि आपको आज के साधु-जीवन पर विश्वास नहीं है, श्रद्धा-निष्ठा नहीं है, तो फिर आप लोग अपने घर से अपने पुत्र को, अपने भाई को, अपनी बहन या पुत्री को दीक्षा के लिए आज्ञा क्यों देते हैं? उन्हें दीक्षित होने के लिए प्रेरणा क्यों देते रहते हैं? यदि दीक्षा स्वीकार करने के बाद उनके जीवन पर विश्वास न रखकर उन्हें मात्र दंड के डंडे के नीचे दबोचे रखोगे, गाँव-गाँव में दंड का शोर मचाते फिरोगे, उन्हें अपने स्वतंत्र दिमाग से सोचने-विचारने नहीं दोगे, उनके स्वतंत्र विचारों को सुनने की क्षमता तथा सहिष्णुता नहीं रखोगे और उनकी शंकाओं का सही समाधान न करके केवल नियंत्रण के डंडे से उन्हें दबाते ही रहोगे, तो जैन-संघ के महान् आचार्य हरिभद्र के शब्दों में—"वह संघ जीवित, प्राणवान् साधकों का संघ नहीं, मात्र हड्डियों का ढ़ेर रह जायगा।" और ऐसे म्रियमाण, प्राणहीन संघ को खत्म कर देना ही उपयुक्त होगा और मुझे इसमें जरा भी दुःख-दर्द नहीं होगा।

जैन धर्म दंड में, बाहरी ताकतों में विश्वास नहीं रखता। वह दंड एवं डंडे का सदा विरोधी रहा है। हाँ, वह प्रायश्चित्त का पक्षपाती अवश्य रहा है, दंड का नहीं। आपके मन में प्रश्न उठेगा, क्या दंड और प्रायश्चित में भी अन्तर है ? हाँ, दोनों में अन्तर है और वह बहुत बड़ा अन्तर है, आकाश और पाताल का-सा अन्तर है। कारण स्पष्ट है, दंड दिया जाता है और प्रायश्चित्त लिया जाता है। दंड लेने के लिए अपराधी का हृदय तैयार नहीं होता है, तब भी उसे दंड दिया जाता है, जेल में बन्द किया जाता है, फाँसी के तख्ते पर लटकाया जाता है। परन्तु प्रायश्चित में ऐसा नहीं किया जाता। अपराधी की बिना जागृति, बिना अन्तर्हृदय की स्वीकृति के एक नवकारसी या मिच्छामि दुक्कड़ं का भी प्रायश्चित्त उस पर नहीं थोपा जाता, बल्कि उसके अन्तर्मन में पवित्रता की, पश्चात्ताप की एवं आलोचना की निर्मल ज्योति जगाई जाती है। आचार्य का काम अपराधी को दंड देना नहीं; बल्कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आँख देने का है। जिसके प्रखर प्रकाश में साधक स्वयं अपने पापों को देख सके और स्वयं अपने दोषों की आलोचना करके विनीत भाव से आचार्य से निवेदन करे कि भगवन् ! मुझे अपनी भूलों का प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।

इस तरह दंड और प्रायश्चित्त के स्वरूप को ठीक तरह से समझें और संघ में यथोचित रूप में उसका प्रयोग करें। नहीं तो साधक के जीवन की गहराई का सही-सही पता नहीं लगा सकेंगे। जिस साधु-साध्वी को कुटुम्ब एवं परिवार के स्नेहमय वातावरण से अलग करके धूम-धाम से दीक्षा दी है, जिन साधु-सध्वियों को प्रेम, स्नेह एवं सद्भावना के साथ श्रमण संघ में संगठित किया है, उनके जीवन पर विश्वास करना, उनके प्रति श्रद्धा-निष्ठा रखना तथा उन्हें ठीक तरह निभाना श्रमण संघ के वरिष्ठ नेताओं का अपना दायित्त्व है।

श्रमण-संघ में जो कमजोरियाँ दिखाई दे रही हैं, शिथिलाचार बढ़ता हुआ मालूम हो रहा है, वह कोई नया नहीं है और श्रमण संघ बनने

के वाद पनपा भी नहीं है। जो कुछ है, वह भूतपूर्व सम्प्रदायों की देन है और श्रमण संघ के निर्माण के पहले से चला आ रहा है। यह वात अलग है कि किसी सम्प्रदाय का नेतृत्व, व्यवस्थित होने से उस सम्प्रदाय में कमजोरियाँ कम रहीं और जिनमें नेतृत्व अपेक्षाकृत कुछ ढीला रहा, उनमें ज्यादा रूप में पनपी और संगठन के वाद अलग-अलग साम्प्रदायिक लोहावरणों के पीछे पनपने वाला शिथिलाचार विभिन्न साम्प्रदायिक नदियों के प्रवाह के साथ श्रमण संघ के विराट सागर में एकत्रित हो गया। अस्तु तो आज सामूहिक रूप से दृष्टिगोचर होने वाला शिथिलाचार नूतन नहीं है। अतः जो साधु या श्रावक ऐसा कहते या लिखते हैं—संगठन के वाद उलटी हमारी आंतरिक द्वेष भावनाएं वढ़ी हैं, हमारी शिथिलताएँ तथा स्वच्छन्दताएं पूरे वेग के साथ वढ़ी हैं—वे भूल कर रहे हैं—उनकी धारणाएं एकान्त रूपेण सही नहीं कही जा सकती। यदि आप साधारण जन-मन की गहराई में उतर कर उनके हृदय की आवाज सुनें, तो आपको विदित होगा कि संगठन के वाद पारस्परिक प्रेम कितना वढ़ा है। एक दूसरी सम्प्रदाय के साधुओं के प्रति कितनी श्रद्धा, भक्ति एवं सद्भावनाएं जागृत हुई हैं। भूतपूर्व सम्प्रदायों के वढ़ते हुए शिथिलाचार पर कितनी रोक लगी है। फिर भी जो कुछ शेष है, उसे नजरन्दाज नहीं किया गया है। संघ के वरिष्ठ महापुरुषों के लक्ष्य में है, वे शिथिलाचार को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हैं। हम अन्धेरे में नहीं हैं और न हमारी आँखें ही वन्द हैं। नेत्र रोग से पीड़ित व्यक्ति को अपने जीवन में अन्धेरा होने से सर्वत्र अन्धेरा ही परिलक्षित होता है, खरगोश अपने नेत्र वन्द करने के वाद सव के खुले नेत्रों को भी वन्द ही समझता है। उसके विकृत दिमाग में यह सूझ उद्बुद्ध नहीं होती—"मेरे नेत्र वन्द होने से दुनियाँ के नेत्र तो वन्द नहीं हो जाते।" अभिप्राय यह है, श्रमण-संघ का निर्माण करते समय भी हमारे नेत्र खुले हुए थे। हमने जो कुछ किया विचार पूर्वक किया, और आज भी सोच-समझकर कदम वढ़ा रहे हैं।

हाँ तो, श्रमण संघ को मजबूत बनाने के लिए केवल दंड की नहीं, स्नेह और सद्भावना की भी आवश्यकता है। जैन-धर्म का यह अटल विश्वास रहा है—"साधक का जीवन दंड के डंडे से नहीं, स्नेह, सद्भावना एवं वात्सल्य के मधुर व्यवहार से ही मोड़ा जा सकता है। अस्तु, समाज के हर व्यक्ति का, बच्चे-बच्चे का कर्तव्य है कि वह साधु संघ के प्रति श्रद्धा, निष्ठा एवं भक्ति रखे, उसकी व्यर्थ ही टीका-टिप्पणी न करे, आपस में काना-फूसी न करे और अभद्र एवं असत्य आलोचना न करे।

इस तरह श्रमण संघ के अभ्युदय के लिए हम मिलकर ईमानदारी-पूर्वक कदम उठाएँगे और एक-दूसरे को सहारा देकर ऊपर उठाने का प्रयास करेंगे, तो जिस ध्येय को लेकर हमने श्रमण संघ का निर्माण किया है, उसमें सफल बन सकेंगे और संघ का भविष्य भी उज्ज्वल बन सकेगा। बस, इसी महान् सद्भावना के साथ हम अपने श्रद्धेय आचार्य श्री एवं उपाचार्यश्री के चरणारविन्दों में श्रद्धा, भक्ति एवं निष्ठा की श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं।

आचार्य जयन्ती दिवस
भाद्रव शुक्ला १२, सं० २०१३ — कुचेरा (राजस्थान)

—: ६ :—

सर्व-भोग्या वसुन्धरा

जैन-धर्म अहिंसा का मार्ग है। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है, जो हिंसा न हो—"न हिंसा अहिंसा"। किसी प्राणी को नहीं मारना, किसी भी प्राणी को परिताप या कष्ट न पहुँचाना—यह अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। परन्तु जीवन केवल अभावात्मक तो नहीं है। जिन्दगी को निरन्तर 'न' के पलड़े पर कैसे उठाए फिरेंगे? मनुष्य, केवल अभाव के शून्य में कब तक लटका रहेगा? केवल निषेध भी कोई जीवन है? नहीं, जिन्दगी का विराट रूप केवल नकार में बन्द नहीं है। जैनधर्म न एकान्त रूप से 'न' का पक्षपाती है और न 'हाँ' का ही। वह 'न' और 'हाँ' दोनों को यथास्थान स्वीकार करता है।

जब कभी नकार के प्रयोग का प्रसंग उपस्थित होगा, तब वह निषेध भाषा का प्रयोग करेगा कि किसी भी प्राणी को मत मारो, पीड़ा मत दो, परिताप मत दो, चोट मत पहुँचाओ। और इस निषेध भाषा का प्रयोग किसी एक-दो प्राणी के लिए नहीं, हजार-लाख प्राणियों के लिए भी नहीं, अपितु अनन्त-अनन्त प्राणियों के लिए नकार का प्रयोग करेगा कि किसी भी जीव की—चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो—जिन्दगी को समाप्त मत करो। यह निषेधात्मक अहिंसा है।

तो अहिंसा का एक अर्थ हुआ—'किसी को मत मारो।' दूसरा उसका एक विधेयात्मक रूप भी है। वह है—प्रत्येक प्राणी की रक्षा करो। प्रत्येक प्राणी की दया करना, रक्षा करना तथा दुःख के अन्धकार में सांत्वना का प्रकाश देकर उनकी लड़खड़ाती जिन्दगी को सहारा देना प्रवृत्यात्मक अहिंसा है। वह भी एक-दो की नहीं, हजार-लाख की नहीं, परन्तु अनन्त-अनन्त प्राणियों के प्रति दया की, करुणा की, रक्षा की, सहानुभूति की मंगल-कामना अहिंसा का विधायक रूप है।

अहिंसा के नकार रूप को समझना सहज है। निवृत्ति मार्ग जल्दी समझ में आजाता है, किन्तु प्रवृत्ति मार्ग को समझने में कभी-कभी गड़बड़ हो जाती है। मान लो, किसी को सहारा देना है तो कहाँ तक सहारा दें, हमारी शक्ति एवं हमारे साधन तो सीमित हैं। दान देना है तो कितना दें, आखिर दाता के पास धन-वैभव तो गिनती का है। चाहे चक्रवर्ती का साम्राज्य हो या देवेन्द्र का वैभव, फिर भी वह सीमित है।

अस्तु जब धन-सम्पत्ति एवं बाहरी साधन सीमित हैं, तब ऐसी स्थिति में निषेधपक्ष ही प्रबल रहा। वह तो अनन्त है, असीम है, उसकी कोई परिधि नहीं है। परन्तु मैं कहूँगा कि आप रक्षा एवं दया की भावना को धन-सम्पत्ति तथा बाहरी साधनों की परिधि में ही क्यों बाँधते हैं? सम्पत्ति तथा बाह्य साधनों में दया नहीं है। हाँ, वे दया के साधन अवश्य हैं; परन्तु दया एवं रक्षा का झरना तो मनुष्य के अन्तर मन में बहता है। मैं आपसे पूछूँ—मनुष्य के मन में जो विश्व-कल्याण की विराट भावना उद्बुद्ध होती है, उसके अन्तर्हृदय में जो दया, करुणा एवं स्नेह का झरना बहता है, क्या उसकी कोई सीमा है? नहीं, उसकी कोई सीमा नहीं है। आगम की भाषा में कहूँ तो अनुमोदन की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। अच्छे या बुरे किसी भी तरह के कार्य को करने तथा कराने की तो सीमा है; परन्तु अनुमोदन करने की कोई सीमा नहीं हो सकती। किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचाने, अथवा उसे उस कष्ट से मुक्त करने के साधन अवश्य सीमित हैं। किन्तु दुःख देने

तथा दुःख दूर करने की भावना से मनुष्य सारे विश्व में फैला हुआ है। जब साधक दुनिया के जीव-जन्तुओं के प्रति स्नेह, वात्सल्य, सेवा, सहानुभूति एवं सहयोग की भावना रखता है, दूसरों के दुःख मिटाने के लिए अपने आपको अर्पण करना चाहता है, तब उस भावना के प्रवाह को बाँधने वाली कोई सीमाएँ नहीं होतीं। वह सद्भावना एवं सद्विचारों से सारे विश्व में फैल जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना भी अहिंसा है और दुःख दर्द से छटपटाते हुए प्राणियों को सुख-शान्ति पहुँचाना, उनके जीवन को आनन्दमय बनाने में यथावसर यथोचित सहयोग प्रदान करना भी अहिंसा है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि प्राणी-जगत् की सेवा करते हुए मनुष्य तीर्थङ्कर नाम गोत्र का बन्ध करता है। जब साधक सद्भावना के साथ दुःखित प्राणियों की सेवा करता है, उनके कष्ट निवारण का प्रयास करता है, रात-दिन तन, मन एवं लगन से उन्हें सहयोग देता रहता और जब साधक की मनोभावना इस प्रकार सेवा के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँच जाती है अथवा वह अपनी तन, मन एवं वचन की सारी शक्ति विश्व के कल्याणार्थ लगा देता है, तब सेवा की उस उत्कृष्ट भावना से तीर्थङ्कर नाम गोत्र का बन्ध होता है।

बात यह है, साधक सेवा कार्य करता है। और निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हुए, उसकी सेवा भावना, सहयोग देने की वृत्ति निर्बाध गति से वर्द्धमान रहती है। वह निरन्तर अपने अन्तर मन में पर दुःख निवारण का उपाय सोचता रहता है, जगत् के जीवों की सुख-सुविधा के लिए विशुद्ध भावना रखता है, अस्तु, इस प्रकार की उत्कृष्ट सेवा भावना से वह तीर्थङ्कर नाम गोत्र का बन्ध करता है।

अभिप्राय यह हुआ कि साधन परिमित होते हुए भी साधक अपनी अपरिमित भावना से विराट पुण्य का उपार्जन कर सकता है। सन्त आनन्दघन ने कहा है—

"सभी जीव करूँ शासन-रसी"

भावुक सन्त की अन्तर इच्छा है कि मेरे अन्दर इतनी विराट शक्ति आए कि मैं दुनिया के भूले-भटके पथिकों को सही मार्ग दिखाकर जिन-धर्म का रसिक बनाऊँ। हिंसा के कंटकमय दुर्गम जंगल में गुमराह हुए मनुष्यों को अहिंसा के निष्कंटक राज-मार्ग पर ला सकूँ।

मानव-मानस में चल रही सेवा की यह विराट भावना, मनुष्य को तीर्थंकरत्व के महान् सर्वश्रेष्ठ पद तक पहुँचाती है। और विकास के उस सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचकर वह महापुरुष दुनिया के संत्रस्त जीवों के लिए शान्ति की शीतल सरिता बहाता है। सत्य संयम के द्वारा आत्मा को माँजने के लिए प्रेरित करता है। पूर्व-जन्मों में अपूर्ण रही सेवा-वृत्ति, यहाँ आकर विराट रूप में कार्य करती है। तो अभिप्राय यह हुआ कि वर्त्तमान में सेवा करते हुए भी, और अधिक सेवा करने की बलवती मधुर कामना बनाए रखना, तीर्थङ्कर नाम गोत्र के बन्ध का कारण है।

इसका आशय यह हुआ कि आप जो सत्कार्य करते हैं, उसमें प्रेम, सद्भाव एवं माधुर्य पैदा होना चाहिए। आपने उपवास किया, तो आपके तप में प्रेम पैदा होना चाहिए। तप के प्रति रहा हुआ प्रेम ही उसमें प्राण डालता है। यदि आप बाहर में तो तप करते हैं, परन्तु अन्दर में उसके प्रति प्रेम, श्रद्धा एवं निष्ठा नहीं रखते, तो वह तप केवल भुखमरी है। आपने हजारों रुपये का दान दिया, परन्तु दान देते समय आपके अन्तर-जीवन में प्रेम एवं स्नेह की रस-धार नहीं बही है, आनन्द एवं उमंग की ज्योति नहीं जगी है, आपके हृदय का कोना-कोना सूना पड़ा है, मन में जरा-सा भी उल्लास नहीं है, तो वह दान बेकार है। जो दान प्रेम एवं स्नेह से नहीं, दवाव से दिया जाता है या किसी तरह का स्वार्थ साधने की मनोभावना से दिया जाता है अथवा अपने अहंकार का पोषण करने के लिए दिया जाता है, तो उस दान से, दान

का जो हजारों-हजार गुणा सुफल मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल पाता।

इसी तरह एक साधक साधना कर रहा है, क्रिया-काण्ड कर रहा है; परन्तु उसके अन्तर्हृदय में उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति नहीं जगी, प्रेम की भावना उद्‌बुद्ध नहीं हुई तथा आनन्द एवं उल्लास का सागर नहीं लहराया तो वह निष्क्रिय साधना एवं शुष्क क्रिया-काण्ड जीवन के जर्रे-जर्रे में प्रकाश की ज्योति नहीं जगा सकता। कारण? आपके पास साधना का शरीर तो है, पर उसमें प्राण नहीं है, और प्राण विहीन शरीर का क्या मूल्य? सामने एक शव पड़ा है और एक व्यक्ति उसके शारीरिक सौन्दर्य तथा शुभ्र दन्तावली आदि अंगोपांग की सुन्दरता की प्रशंसा करता है। अन्त में कहता है कि और तो सब कुछ ठीक है, परन्तु शरीर में प्राण नहीं है, जीवन नहीं है। आप ही कहिए, उसका वह शव-सम्बन्धी सौन्दर्य वर्णन क्या अर्थ रखता है? एक प्राण के अभाव में सारा सौन्दर्य अग्नि में जलाने के अतिरिक्त कोई मूल्य नहीं रखता। यही स्थिति प्राण-विहीन क्रिया-काण्ड एवं साधना की है।

यह आत्मा आज से नहीं, अनन्त-अनन्त काल से सेवा करता आ रहा है, तप-जप करता आ रहा है, दान देता आ रहा है, साधना एवं क्रिया-काण्ड करता आ रहा है; परन्तु उसके प्रति जीवन में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, स्नेह एवं माधुर्य की भावना नहीं जगी। इसी कारण वह संसार में परिभ्रमण करता रहा। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

"आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव! दुःख-पात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव-शून्याः॥"

"भगवन्! ऐसी बात नहीं है कि पहले कभी मैंने आपका नाम सुना ही न हो, आपके दर्शन न किए हों या आपकी वाणी सुनी ही न हो। अर्थात्—मैंने पहले भी आपका नाम सुना है, आपके दर्शन भी किए हैं और

आपकी वाणी सुनने का सुअवसर भी मिला है, परन्तु उसे प्रेम, एवं श्रद्धा-पूर्वक हृदयंगम नहीं कर सका। अतः सुख केवल स्वप्न ही रहा और संसार का चक्र समाप्त न हो सका।" इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भगवान् सुख देते हैं। परन्तु बात यह है कि यदि आपके मानस में श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा एवं सद्भावना होती है, तो सुख मिलता है और यदि मन में दुर्भावनाएं चक्कर लगाती रहती हैं, तो दुःख मिलता है।

अभिप्राय यह है कि सद्भावना के अभाव में साधना कभी सफल नहीं हो पाती। प्रत्येक कार्य के अन्दर सद्भावना की ज्योति प्रज्वलित रहनी चाहिए। पारिवारिक जीवन को ही लीजिए। यदि परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति सद्भावना है, परस्पर सह-योग देने की वृत्ति है, तो कठिन दीखने वाला काम भी सुगम हो जाएगा और वह बात की बात में निपट जाएगा। यदि उसमें परस्पर स्नेह, सद्भाव नहीं हैं, छोटी-छोटी बातों पर आपस में संघर्ष होता रहता है, तो वहाँ छोटा-सा काम भी जल्दी नहीं हो पाएगा।

एक बालक से पूछा—जिस काम को तुम्हारे माता-पिता अलग-अलग करें तो एक घंटे में कर सकते हैं, यदि उसी काम को दोनों मिलकर करें तो कितनी देर में कर लेंगे? बालक ने कहा—दो घंटे में। यह कैसे? दोनों के मिलकर काम करने से एक घंटे में पूरा होने वाला काम तो आध घंटे में पूरा होना चाहिए? बालक ने कहा—आपका कहना ठीक है। वस्तुतः काम तो आध घंटे में ही पूरा हो जाएगा। परन्तु उस कार्य को प्रारम्भ करने के पहले एक-दूसरे में जो वाद-विवाद होगा, कहा-सुनी होगी और उसमें जो एक-डेढ़ घंटे का समय लगेगा, वह अलग कहाँ जाएगा?

सामान्य दृष्टि में यह एक मजाक हुई, किन्तु मजाक नहीं; बात भी कुछ ऐसी ही है। काम में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं, परन्तु उनके कारण काम नहीं रुक पाता। कर्त्तव्य मार्ग में जो रुकावटें आती हैं, वे अधिकां-शतः कठिनाइयों के कारण नहीं, अपितु इसलिए आती हैं कि किसी काम को एक-दूसरे का सहयोगी बनकर नहीं करते। आज समाज का, श्रमण-

संघ का काम पूरा क्यों नहीं हो पाता ? श्रमण-संघ का विकास क्यों अवरुद्ध है ? इसका एकमात्र कारण है, श्रमण संघ के अधिकार प्राप्त नेता एक-दूसरे के सहयोगी बनकर काम नहीं करते, दिल खोलकर एक-दूसरे के जीवन में नहीं उतरते और मन को एक-दूसरे से जोड़कर कार्य-क्षेत्र में एक गति से अवतरित नहीं होते।

देश के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। देश की स्थिति को सुधारने के लिए, महत्त्वपूर्ण काम किए जा रहे हैं। गरीबी, बेकारी, भुखमरी, अन्ध-विश्वासों, भ्रान्तियों और सड़ी-गली रूढ़ परम्पराओं को खत्म करना है। परन्तु आज इन सबसे संघर्ष करते हुए भी छुटकारा नहीं पा रहे हैं। क्या कारण है ? बात यह है कि देश के इस महत्त्वपूर्ण कार्य में आप पूरा सहयोग नहीं देते हैं और एक-दूसरे के सहयोगाभाव के कारण वह काम रुका पड़ा है। यदि काम के लिए जनसंख्या कम भी हो तब भी कोई चिन्ता नहीं, किन्तु एक-दूसरे के सहयोग का होना नितान्त आवश्यक है। जिस परिवार में, समाज में, संघ में, राष्ट्र में जन-संख्या कम होने पर भी यदि आपस में मन जुड़े हुए हैं, सब मिल-जुल कर काम करते हैं, तो वे परिवार और राष्ट्र महत्त्वपूर्ण काम कर गुजरेंगे। इसके विपरीत जनसंख्या तो बहुत हो, किन्तु आपस में मन नहीं मिलते हों, विचार टकराते हों, बात-बात में चख-चख होती रहती हो, तो वह परिवार, समाज, संघ और राष्ट्र कभी भी उन्नति नहीं कर सकेगा।

प्रायः आप देखते हैं कि मोटर चल रही है, पूरे वेग से चल रही है, किन्तु चलते-चलते उसके पुर्जों में से खर्र की आवाज आने लगती है, तो ड्राइवर झट-पट गाड़ी को रोक देता है और सारे पुर्जों को, मशीनरी को देखता है। मशीनरी तो सब ठीक है, किन्तु कुछ पुर्जों में तेल की कमी होने से वे परस्पर रगड़ खाने लगे हैं और उस रगड़ से खर्र की आवाज आने लगी है। ड्राइवर उन पुर्जों में तेल डालकर फिर से मोटर को स्टार्ट करता है, तो अब वह खर्र की आवाज किए बिना ठीक तरह से गति करने लगती है। किन्तु यदि ड्राइवर उसे उसी हालत में

चलाता रहता है तो वह बीच में ही खराब हो जाती है और उसकी गति कुछ दूर जाकर सहसा अवरुद्ध हो जाती है।

इसी तरह परिवार, संघ, समाज एवं राष्ट्र की गाड़ी गति कर रही है, ठीक तरह गति कर रही है। किन्तु चलते-चलते जहाँ कहीं खट-खट की आवाज सुनाई दे, तो वहीं रुककर तुरन्त देखो कि कहीं किसी पुर्जे में स्नेह, एवं सद्भावना का तेल कम तो नहीं हो रहा है ? यदि उसमें स्नेह की कमी आ गई है, तो आप अपने हृदय का स्नेह संचार कर उस जीवन को स्नेह से स्निग्ध बना दें। अन्यथा स्नेहाभाव में काम वहीं ठप्प हो जाएगा।

दीप जल रहा है और उसकी जलती हुई ज्योति ज्यों ही मंद पड़ती दिखाई दे, त्यों ही उस जलते हुए दीप में फिर से स्नेह (तेल) डाल दें तो वह बराबर प्रकाश देता रहेगा। किन्तु यदि भूल से, उसमें तेल नहीं डाला तो वह दीप बुझ जाएगा और चौतरफ अंधेरा छा जाएगा। अस्तु, परिवार का और समाज का जीवन-दीप कब तक जलता रहेगा ? जब तक उसमें प्रेम, स्नेह एवं सद्भावना का पर्याप्त तेल है तभी तक स्नेहाभाव में परिवार, संघ एवं समाज के जीवन-दीप भी ज्योतिर्मान नहीं रह सकेंगे।

अस्तु, जब तक संघ के सदस्यों के मन में संघ के अभ्युदय की मंगल कामना है, एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने की साम्य भावना है, तब तक संघ-दीप जलता रहेगा, प्रकाश की उज्ज्वल ज्योति फैलाता रहेगा। आज संसार में तप और साधना की जरूरत है, महान् त्याग-वैराग की आवश्यकता है; किन्तु इनसे भी पहले, स्नेह, सद्भाव की, तथा एक-दूसरे को सहयोग देने की महती आवश्यकता है। यदि हृदय में स्नेह एवं सहयोग की ज्योति जलती रही तो तप, संयम और साधना का प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाएगा।

चीन देश में एक बहुत बड़ा दार्शनिक हो चुका है। वह एक माना हुआ विद्वान था। चीन में ही नहीं, चीन के बाहर भी उसकी प्रशंसा

बहुत कुछ फैल चुकी थी। जीवन के अन्तिम दिनों में वह विद्वान बीमार रहने लगा और उसकी बीमारी की सूचना जब उसके एक दूरस्थ शिष्य को मिली तो वह तुरन्त दर्शन के लिए आया। गुरु ने कहा—वत्स! तुम ठीक समय पर आए। अब मैं लम्बी यात्रा की तैयारी कर रहा हूँ, अतः तुम से बहुत कुछ बातें करनी हैं। न मालूम फिर कब मिलना होगा और यह कहते-कहते गुरु का हृदय भर आया।

गुरु ने कहना शुरू किया—एक बात बताओ कि जब तुम दूसरे गाँव से अपने गाँव किसी सवारी पर लौटते हो, तो गाँव के बाहर आते ही उस वाहन को छोड़कर पैदल क्यों चल पड़ते हो? इसका क्या रहस्य है?

शिष्य ने विनम्र शब्दों में कहा—गुरुदेव! बात यह है कि वह हमारा गाँव है। अपने गाँव में बड़े-बूढ़े एवं बुजुर्ग भी हैं, छोटे-बड़े मिलने वाले साथी भी हैं, अमीर-गरीब भी हैं, तो उन सब के साथ समानता का व्यवहार करने के लिए वाहन का, सवारी का त्याग करना आवश्यक है। कारण यह कि मन में अहंभाव जागृत न हो। गाँव में प्रविष्ट होते समय सब के समान बनकर ही प्रवेश करें। अमीर-गरीब, जो जिस परिस्थिति में सहज रूप से रहते हैं, उन सब के साथ सद्भावना लेकर ही गाँव में प्रवेश करें।

शिष्य का उत्तर सुनकर गुरु को महती प्रसन्नता हुई। उन्होंने शिष्य की उदार भावना का आदर करते हुए कहा—मुझे तुमसे एक बात और पूछना है—"जब तुम बड़े-बड़े वृक्षों के हरीतिमामय सौन्दर्य को देखते हुए उनके नीचे से गुजरते हो, तो आनन्दित क्यों होते हो?

शिष्य ने पुनर्वार विनय के साथ कहा—ये ऊँचे-ऊँचे पल्लवित, पुष्पित एवं फलित वृक्ष हमें यह सिखाते हैं कि तुम्हें जब भी कोई महापुरुष मिले—वह चाहे किसी जाति, पंथ, देश तथा रंग का हो—तो तुम्हारे हृदय में प्रसन्नता होनी चाहिए। जैसे मेरी सघन छाया और मधुर एवं सुस्वादु फलों को देखकर तुम्हारा मन आनन्द एवं उल्लास से भर

जाता है, उसी तरह उनके गुण सम्पन्न जीवन को देखकर तुम्हें आनन्दित होना चाहिए, उनका यथोचित आदर-सत्कार करना चाहिए।

यह सुनकर गुरू के जीवन का कण-कण खिल उठा। उन्होंने कहा अब मेरे में इतनी सामर्थ्य नहीं कि तुम से बहुत देर तक बात करता रहूँ। फिर भी एक प्रश्न और पूछना है। यह कहकर गुरू ने अपना मुँह खोला और कहा—जरा देखना, 'मेरी जिह्वा है या नहीं?' शिष्य ने देखा और स्वीकार की भाषा में कहा—'हाँ है।' गुरू ने पुनर्वार मुँह खोला और कहा—'देखो, मेरे दान्त हैं या नहीं?' शिष्य ने तुरन्त आज्ञा का पालन किया और कहा—'नहीं, एक भी नहीं है।' गुरू ने पूछा—'जीभ तो है, फिर दान्त क्यों नहीं?'

शिष्य विचार में पड़ गया, समझ नहीं पाया कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दे। वह सोचता रहा, ज्ञान-सागर की अतल गहराई में डुबकियाँ लगाता रहा और उसके चिन्तन एवं मननशील मन मस्तिष्क ने आखिर उसे समस्या का हल प्रदान कर दिया। उसने मुस्कराते हुए कहा—"गुरुदेव! बात यह है, जिह्वा कोमल है और दाँत कठोर। अतः जो कोमल होता है, वह अन्त तक बना रहता है और जो कठोर होता है वह कुछ काल तक तो बना रहता है, परन्तु बाद में शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जिसमें दुनियाँ भर के धर्मों का, सूत्र-सिद्धान्तों का निचोड़ आ गया है—"कोमल सदा-सर्वदा बना रहता है और कठोर एक परिमित काल तक ही रह सकता है।"

जो मनुष्य प्रकृति से कोमल हैं, विचार से कोमल हैं, वे कभी नष्ट नहीं होते। वे महामानव न तो सुख की ठंडी हवा में इठलाते हैं और न दुःख के दावानल में अकुलाते ही हैं। वे आपत्तियों के आघातों में भी संघ और समाज की पतवार को यों ही मझधार में नहीं छोड़ देते। वे अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों तक समाज का नेतृत्व संभाले रहते

हैं। अन्तिम घड़ियाँ तो फिर भी एक सीमित काल हैं, वे तो स्थूल शरीर के छुट जाने के बाद भी निरन्तर जीवन का प्रकाश देते रहते हैं।

मैं आप से पूछूँ—भारत के राज-सिंहासनों पर बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट आए, वे आज कहाँ हैं ? उनके स्वर्ण सिंहासनों का उत्तराधिकारी कौन बना ? इतिहास साक्षी है कि चक्रवर्ती की गद्दी पर बैठकर कोई चक्रवर्ती नहीं बना। उसकी मृत्यु के बाद उसका सारा साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। अनन्त-अनन्त काल हो गया कि चक्रवर्ती के सिंहासन पर कभी भी उसका पुत्र चक्रवर्ती बनकर नहीं बैठ सका और अनागत काल में भी उसका पुत्र, उसके साम्राज्य पर सार्वभौम अधिकार नहीं पा सकेगा। कारण यह है कि चक्रवर्ती का साम्राज्य आतंक और भय का साम्राज्य है, चक्ररत्न की शक्ति का शासन है और वह तभी तक सुरक्षित रह सकता है, जब तक चक्र का भय बना रहता है। उसके हटते ही सारी सत्ता फिर से टुकड़ों में बँट जाती है।

हाँ तो, एक तरफ चक्रवर्ती का साम्राज्य है और दूसरी तरफ तीर्थङ्करों का शासन। तीर्थङ्करों का शासन कब तक चलता है ? उनकी उपस्थिति में भी और उनके निर्वाण होने के बाद भी हजारों-लाखों वर्षों तक चलता है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन पच्चीसों वर्षों में कितने ही राज-सिंहासन बदल चुके हैं। कई सम्राट उन स्वर्ण सिंहासनों पर बैठे और चले गए, परन्तु इतने लम्बे समय में जैन साधु-साध्वी से जब कभी पूछा गया कि तुम किस के शासन में रहते हो, तो सदा-सर्वदा एक ही स्वर गूंजता रहा कि भगवान् महावीर के शासन में। श्रावक से पूछा, तो श्रावकत्व के नाते उसने भी यही उत्तर दिया। और श्राविका से पूछा, और वह शासन शब्द की परिभाषा जानती है तो उसने भी वही उत्तर दिया। इस तरह भगवान् का शासन पच्चीसों वर्षों से निर्बाध गति से चला आ रहा है और परम्परागत मान्यता के अनुसार यह पञ्चम आरे के अन्तिम समय तक पूर्ववत् चलता ही रहेगा।

अनुशासन के नाम पर हथियार तो क्या, एक चाकू का, और चाकू तो दूर रहा, एक तिनके के बल का भी प्रयोग नहीं किया गया। उस शासन को चलाने के लिए एक पैसा भी नहीं लगा। भगवान् का शासन बाहरी ताकत और भय-प्रलोभन के बल पर नहीं चला, वह तो त्याग-वैराग्य, स्नेह, श्रद्धा, भक्ति के बल पर ही चला और आज भी चलता है तथा भवष्यि में चलता रहेगा।

भगवान् का राज्य कोमलता, दया एवं अहिंसा का राज्य था। प्राणी जगत् के अभ्युदय का राज्य था। आचार्य समन्तभद्र ने भी भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है—

"सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव"

"हे भगवन्! आपका शासन किसी एक पंथ, एक सम्प्रदाय, एक जाति, एक देश या व्यक्ति-विशेष के उदय के लिए नहीं, वह तो सर्वोदय के लिए है।" आज भी सर्वोदय शब्द प्रचलित है, किन्तु आचार्य समन्तभद्र ने जव १५०० वर्ष पूर्व इस शब्द का प्रयोग किया था, उस समय आज के सर्वोदय का रूप उनके सामने नहीं था। वर्त्तमान में स्थिति यह है कि सब अपना उदय चाहते हैं। किसी भी पंथ, समाज, या राष्ट्र को देखो; उसे अपने ही समाज, पंथ एवं राष्ट्र का उदय चाहिए। वह दूसरों का उदय नहीं देख सकता। परन्तु भगवान् का शासन विश्व के प्रत्येक प्राणी का उदय चाहता है, चाहे वह किसी जाति, पंथ अथवा रंग का हो।

एक बार आगरा के आर्य-समाज भवन में सर्वधर्म सम्मेलन का आयोजन था। परन्तु मुझे तो यह कहना चाहिए कि नाटक तो सर्वधर्म सम्मेलन का रखा जाता है और उसके रंगमंच पर अभिनय होता है—सर्वधर्म खण्डन का। ईसाई वक्ता आता है, तो वह ईसाई धर्म की प्रशंसा में कुछ कह जाता है और साथ ही दूसरे धर्मों का खण्डन भी करता जाता है। मुसलमान वक्ता आता है, तो वह इस्लाम का समर्थन

करता है और शेष अन्य धर्मों का खण्डन कर देता है। हिन्दू आता है, तो वह अपने धर्म-कर्म की बात रखता है और दूसरे धर्मों पर प्रहार करता है। इसी तरह अन्य धर्म वाले भी आते हैं और वे भी अपने मत का मण्डन और दूसरे मतों का खण्डन करते चले जाते हैं।

हाँ तो, मैं बता रहा था कि मुझे भी भाषण देने के लिए निमंत्रित किया गया। मैं जिस जगह भाषण देने बैठा, उसके सामने दीवार पर लिखा था "वीर-भोग्या वसुन्धरा।" इसका अर्थ यह है कि—"जो वीर है, शक्तिशाली है, वही सारे ऐश्वर्य का, सुख-साधनों का उपभोग कर सकता है।" मैंने अपना भाषण प्रारम्भ करते हुए कहा—"यदि एक शब्द में जैन-धर्म का निचोड़ कहूँ, तो वह शब्द यह है कि जहाँ 'वीर' शब्द है, उसे निकाल कर उसके स्थान में 'सर्व' शब्द रख दें। जैन-धर्म यह कहता है कि—विश्व में जो ऐश्वर्य है, सुख-साधन हैं; उन्हें भोगने का सबको अधिकार है। 'वीर' शब्द तलवार को उत्तेजना देता है; अर्थात्—"जिसकी लाठी उसकी भैंस" की कहावत को बल देता है। इस सिद्धान्त को तो दुनिया के सब प्राणी जानते हैं। जंगल का खूंख्वार शेर भी इस सिद्धान्त को जानता है। समुद्र में रहने वाले मच्छ तथा आकाश में उड़ने वाले पक्षी भी इसे जानते हैं। यह मत्स्य-गलागल न्याय तो यत्र-तत्र-सर्वत्र व्यवहृत ही है; फिर "वीर भोग्या वसुन्धरा" इस वाक्य में धर्म का क्या सन्देश रहा? धर्म संसार के पदार्थों पर एकाधिपत्य जमाना नहीं सिखाता, वह बाहरी ताकत से दूसरों का शोषण करना नहीं सिखाता। वह सिखाता है—प्राप्त पदार्थों को सब में बाँटकर उनका उपभोग करना तथा सब प्राणियों का पोषण करना। अस्तु, जैन-धर्म का स्वर है—"सर्व-भोग्या वसुन्धरा।" और मेरे कहने पर स्थानीय कार्य-कर्त्ताओं ने उस भूल को सुधारना स्वीकार भी किया।

अस्तु, जब व्यक्ति, परिवार, गाँव, राष्ट्र एवं विश्व के जीवन में अहिंसा, करुणा, स्नेह, एवं सहजीवन का साम्राज्य स्थापित होगा तथा भगवान् महावीर का सर्वोदय सिद्धान्त जीवन के कण-कण में मुखरित

होगा, तभी परिवार, गाँव, राष्ट्र एवं विश्व में एकता स्थापित हो सकेगी और तब ही संघ एवं समाज का अभ्युदय हो सकेगा। और जब दुनिया के सुख-साधनों पर तथा ऐश्वर्य पर अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार सब का अधिकार होगा, जीवन-निर्वाह के लिए यथावसर यथावश्यक पदार्थ सब को सहज सुलभ हो सकेंगे, तभी और केवल तभी विश्व में शान्ति का सागर लहराता हुआ दिखाई दे सकेगा।

अनन्त चतुर्दशी
दिनांक १८,९,५६. कुचेरा (राजस्थान)

—: १० :—

साधना का अन्तःप्राण

मनुष्य ने इस विराट संसार में अपने गुणों का प्रकाश फैलाया है। उसमें कुछ गुण ऐसे हैं, जो प्रकट में है, वाहर फैले हुए हैं, विश्व के हर कोने में प्रकाश फैला रहे हैं। परन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाए हैं, जीवन की भीतरी तह में छिपे पड़े हैं। उन गुणों को वाहर लाना है, सावना के द्वारा जीवन के क्षेत्र में प्रकट करना है,

तो अभिप्राय यह हुआ कि जैन-धर्म प्रत्येक आत्मा को—चाहे वह किसी भी भूमिका में रह रहा हो—अनन्त-अनन्त गुण-सम्पन्न मानता है। वह मानता है कि प्रत्येक आत्मा परमात्म-रूप है, शुद्ध है, उज्ज्वल है, और ज्योतिर्मय है।

एक वार एक आचार्य से पूछा गया कि—आत्मा क्या है? वह शुद्ध है, पवित्र है, या अशुद्ध-मलयुक्त है?

आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—जैन-धर्म दो प्रकार के 'नय' को मानता है। एक 'निश्चय नय'। दूसरा 'व्यवहार नय'। या यों भी कह सकते हैं—एक 'शुद्ध नय' और दूसरा 'अशुद्ध नय।'

हाँ तो, जव अशुद्ध नय की अपेक्षा से आत्मा के विपय में विचार

करते हैं—क्रोध, मद, लोभ आदि मनोविकारों से लिप्त आत्माओं के विषय में कुछ सोचते हैं, तो प्राणि-जगत् की सारी आत्माएँ अशुद्ध मालूम होती हैं और ऐसा भास होता है कि दुनिया की ये अनन्त-अनन्त आत्माएँ आत्मा मात्र हैं, इनमें परमात्म-ज्योति नहीं है, ईश्वरीय शक्ति नहीं है। परन्तु जब बाहर के जागतिक रूप को छोड़कर आत्मा के अन्तःस्तल को छूते हैं, शुद्ध नय की अपेक्षा से आत्म-ज्योति के प्रकाश को अन्तर-चक्षुओं से देखते हैं, आत्मा के परमोज्ज्वल तेज की ओर नजर डालते हैं, तो विश्व की तमाम आत्माएँ शुद्ध दिखाई देती हैं, निगोद के अनन्त अन्धकार में दबी पड़ी आत्माएँ भी ईश्वरीय प्रकाश से जगमगाती हुई दिखाई देती हैं। यह है जैन-दर्शन की अनेकान्त दृष्टि, जो कि आत्मा को किसी अपेक्षा से अशुद्ध भी देखती है और किसी अपेक्षा से शुद्ध-बुद्ध, परमोज्ज्वल ज्योर्तिर्मय भी।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म आत्मा के दो रूप मानता है। एक शक्ति-रूप और दूसरा 'व्यक्ति-रूप'। कुछ गुण ऐसे हैं, जो आत्मा में 'शक्ति-रूप' से तो निहित हैं, पर व्यक्ति-रूप से अभी प्रकट नहीं हो पाए हैं और कई गुण ऐसे हैं, जो शक्ति-रूप में तो विद्यमान थे ही, पर अब वे व्यक्ति-रूप से भी अभिव्यक्त हो चुके हैं। किन्तु, इन सब गुणों में एक गुण बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यदि वह अच्छी तरह प्रकाश में आ जाए तो आत्मा के अन्तस्तल में दबे पड़े अनन्त-अनन्त गुण सहज-स्वभावतः ही प्रकाश में आ सकते हैं।

तो आचार्य से पूछा गया कि आत्मा का एक ऐसा विशिष्ट गुण कौन-सा है, जिसके प्रकाशमान होते ही अनन्त गुण स्वतः प्रकाश में आ जाएँगे? आचार्य ने कहा—"वह है आत्मा का अपना सत्त्व।" जैन-धर्म की भाषा में उसे उत्थान कहते हैं, बल कहते हैं, वीर्य कहते हैं। हाँ तो, उस विराट ज्योति का, एक या दो तरह से नहीं, हजार-हजार तरह से वर्णन किया गया है। उसका मूल भाव यह है कि—मनुष्य जब अपने अन्तर्जीवन में, आत्मा की गहराई में डुबकियाँ लगाकर दबे

पड़े सत्त्व गुण को, तेज को प्रकट में ले आएगा, तो उसकी अन्य सुप्त शक्तियाँ अपने आप जागृत हो जाएँगी। अन्यथा एक तेज के अभाव में अन्य गुणों का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

आप उस युग की शिक्षा-दीक्षा को देखिए, जब आचार्य अपने सभी शिष्यों के जीवन में समान रूप से एक ज्योति जगाते थे। उस युग के भारतीय गुरुकुलों में ब्राह्मण का लड़का, राजा का लड़का, सेठ का लड़का, तथा साधारण जाति का लड़का, बिना किसी जात-पाँत के भेद के समान रूप से प्रवेश पाते थे और कुलपति आचार्य सब बालकों को एक समान नजर से देखते थे, जैसे पिता अपने छोटे-बड़े सभी पुत्रों को एक स्नेह भरी दृष्टि से देखता है। पिता अपने पुत्रों को प्रेम की अलग-अलग तराजू पर नहीं तौलता। वह तो सब को एक ही प्रेम, स्नेह और माधुर्य की तुला पर तौलता है और सब के जीवन का समान रूप से विकास करने का प्रयास करता है। उसी तरह आचार्य के पास सभी विद्यार्थी पुत्र के रूप में निवास करते थे। और भारतीय-संस्कृति के इतिहास में वर्णन आता है कि सब छात्रों को समान रूप से अध्ययन करा देने के बाद, आचार्य, जब सब को विदाई देते तो उस समय अन्तिम-शिक्षा के रूप में महत्त्वपूर्ण सन्देश देते हुए कहते—"हे वत्स! तुमने मेरे समीप रहकर जो कुछ सीखा है, जो कुछ पढ़ा है, जो कुछ चिन्तन-मनन किया है—तुम्हारा वह अध्ययन, तुम्हारा वह ज्ञान, तुम्हारी वह विद्या और तुम्हारी वह जीवन-कला तेजस्वी बने, ज्योतिर्मय बने।"

भारतीय आचार्य उपर्युक्त एक सूत्र में ही अपने शिष्यों को जीवन-संग्राम में सतत संघर्ष करते रहने के लिए विराट शक्ति एवं दिव्य ज्योति प्रदान करते थे। हाँ तो, भावार्थ यह है कि आत्मा की महत्त्वपूर्ण शक्ति तेज है। यदि सीखे हुए ज्ञान में, अध्ययन में, चिन्तन-मनन में तेज नहीं जगा, तो फिर उसका क्या मूल्य रह जाता है? इसलिए आचार्य उन्हें अन्तिम-सन्देश के रूप में एक महत्त्वपूर्ण जीवन-सूत्र

सिखाते हैं कि तुम अपनी शिक्षा-दीक्षा को निष्प्राण मत होने देना। यदि उसमें से प्राण निकल गया, तेजस्विता निकल गई, तो वह शास्त्र, वह विद्या, वह कला मुर्दा बन जाएगी, फलतः जीवन में अभिनव ज्योति नहीं जग सकेगी। और फिर मुर्दे का घर में कोई स्थान भी तो नहीं रह जाता, उसका स्थान तो श्मशान में होता है।

यही बात धर्म-शास्त्रों के विषय में कही जा सकती है। चाहे कितने ही शास्त्रों का अध्ययन कर लिया हो, चिन्तन-मनन कर लिया हो। यदि उसमें से प्राण निकल चुका है, सत्त्व निकल चुका है, तो वे शास्त्र भले ही गिनती में कितने ही रहे हों किन्तु समाज, राष्ट्र एवं धर्म के अन्धकार को कथमपि दूर नहीं कर सकते। इतिहास साक्षी है कि समाज में जितने संघर्ष हुए हैं, जितने अन्याय-अत्याचार बढ़े हैं, जितनी अनैतिकता व दुष्प्रवृत्तियाँ व्यवहृत हुई हैं, उनमें मुर्दा धर्म-शास्त्रों का ही अधिक हाथ रहा है। आज भी धर्म तथा समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों, गलत-धारणाओं, जड़ रूढ़ियों तथा गली-सड़ी निष्प्राण परम्पराओं को जीवित रखने के लिए उन पर किसी न किसी निस्तेज एवं निष्प्राण धर्मशास्त्र की छाप लगाई जा रही है। आप देख सकते हैं, खूब अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी छाप के बल पर धर्म तथा समाज को निरन्तर पतन की ओर ले जाती हुई ये घातक परम्पराएँ किस धड़ल्ले के साथ मानव जाति में विचरण कर रही हैं। अतः जन-समाज का युगानुरूप उत्थान हो नहीं पाता, सामाजिक जीवन में नई ज्योति जग नहीं पाती, फलतः जड़ परम्परावादी समय पर कोई भी अभिनव कदम उठाने की क्षमता नहीं रखते।

धर्म तथा धार्मिक क्रिया-काण्डों की भी तो यही दुर्गति-सी हो रही है। आप सामायिक करने बैठते हैं, तो वहाँ भी अहंकार जा घेरता है, मन में अभिमान जाग उठता है—"मैंने आज दो चार या कुछ और अधिक सामायिक की हैं।" दान देने को हाथ ऊँचा उठाते हैं तो वहाँ भी अहंत्व का मान-दंड उससे भी कहीं अधिक ऊपर उठा रहता है कि

देने से पहले दाता अपनी दानवीरता का विज्ञापन करने लगता है कि "मैंने इतने हजार का दान दिया।" तप, जो कर्म-निर्जरा का विशिष्ट साधन है, उसमें भी साधक के पीछे अहंकार लगा रहता है और वह निरन्तर अपने तप के गीत गाता रहता है, अपने बराबर तप न करने वाले को हींन दृष्टि से देखता है और गर्व के साथ कहता है कि—"तुम मेरी बराबरी क्या कर सकते हो? मैंने अट्ठाई, मासखमरण आदि कितने बड़े-बड़े तप कर रखे हैं?" यह धर्म का शुद्ध रूप नहीं हैं। जैन-धर्म आपसे यह नहीं पूछता कि आपने कितनी सामायिक कीं, कितने हजार का दान दिया, कितना तप किया? वह तो आपसे इतना ही पूछता है कि—तुमने कितनी प्राणवान सामायिक की हैं? वह एक ही बात पूछता है कि—तुम प्रेम के अतल सागर में कितनी गहरी डुबकियाँ लगा सके हो? यदि तुम्हारे अन्तर्मन में प्रेम की, स्नेह की सरिता बह रही है, और त्याग-वैराग्य की ज्योति जग रही है, तो एक सामायिक, एक उपवास, उपवास तो क्या एक नवकारसी और थोड़ा-सा दान भी अपने-आप में बहुत बड़ा मूल्य रखता है।

तो, जैन-दर्शन ने बहुत बड़ी बात यह कही कि- वह नाप-तौल में नहीं, मोल में विश्वास रखता है। नाप-तौल में एक पत्थर भी काफी लम्बा-चौड़ा और भारी-भरकम हो सकता है, फिर भी वह प्रकाशमान छोटे-से हीरे की बराबरी नहीं कर सकता। हीरा आकार में भी छोटा होता है, वजन में भी हल्का होता है, माशों और तोलों में तुल जाने वाला है। नाप-तौल की दृष्टि से पत्थर बड़ा है; पर, मूल्य की दृष्टि से सोचिए—दोनों में मूल्यवान कौन है? यह तो सूर्य के उजेले की तरह स्पष्ट है कि मोल की दृष्टि से हीरा ही महत्त्वपूर्ण है। तो जैन-धर्म की दृष्टि नाप-तौल में नहीं, मोल में रही है। वह नाप-तौल से हिसाब नहीं लगाता—कि तूने कितनी सामायिक की, कितना दान दिया, कितना तप किया? वह तो मोल से उसका मूल्यांकन करता है कि—तेरी सामायिक में सम-भाव कितना जगा है, तेरे दान में ममत्व का बोझ कितना हल्का

हुआ ? तेरे तप में कषाय कितनी पतली पड़ी ? पुद्गलों के प्रति लालसा कितनी कम हुई है ? यदि तेरी साधना में मोल है, अर्थात् जीवन-शक्ति है, तो वह तेरे जीवन-प्रवाह को नया मोड़ दे सकेगी, तेरे अलसाये हुए मानस में अभिनव प्राणों का संचार कर सकेगी।

हाँ तो, जीवन में प्राणों का मूल्य है, तेजस्विता का महत्त्व है और यह तेजस्विता ही है, जिसने गजसुकुमार के भोग-पथ की ओर अग्रसर होते जीवन को, उसके विचारों को, उसकी इठलाती हुई तरुणाई को नया मोड़ दिया, उसके जीवन में प्रकाश की अभिनव ज्योति जगाई ।

आपने अन्तकृत्-दशांग-सूत्र सुना है, यादव जाति का वैभवशाली वर्णन आपके ध्यान में है। आप जानते हैं, भगवान् अरिष्टनेमि का पधारना द्वारिका में कितनी ही बार हुआ। कितनी ही बार समवसरण लगे। हजारों यादव सागर की लहरों की भाँति भगवान् के दर्शनों के लिए उमड़े, प्रवचन भी श्रवण किया। किन्तु अधिकांश यादवों का जीवन कैसा रहा ? क्या उनका जीवन बदला ? इतिहास उक्त प्रश्न का उत्तर नकार में देता है। यादव युवक अधिकांशतः सुरापान करते थे, भोग-विलास में रत रहते थे। उनके जीवन की सीमा-रेखाएँ भौतिकता के द्वार पर अटकी हुई थीं। उनमें और सब कुछ था, किन्तु अन्त-र्ज्योति की तेजस्विता नहीं थी। भगवान् का दर्शन पाकर भी, उस अलौकिक महानिधि के पास पहुँचकर भी, दरिद्र ही रहे, कंगाल ही रहे। आध्यात्मिक संपत्ति के रूप में वे कुछ नहीं पा सके। इसका कारण ? उनका दर्शन करना, वन्दन करना और प्रवचन सुनना, एक मात्र व्यवहार-पक्ष में चलता रहा, किन्तु अन्दर का उत्स प्रकाश में नहीं आया, अतः वह दर्शनादि का बाह्य विधि-विधान उनके जीवन की गलत दिशा को बदल नहीं सका।

हाँ, उनमें भी एक माई के लाल को देखते हैं, तो उसके जीवन में

तेजस्विता नजर आती है। वह महापुरुष जीवन के अन्दर पहली ही बार भगवान् के दर्शन करने को जाता है और ऐसे समय में दर्शनों को जाता है, जब कि घर में उसके विवाह की लम्बी-चौड़ी तैयारियाँ हो रही हैं। भगवान् के दर्शनार्थ रास्ते में चलते हुए भी श्री कृष्ण उसके योग्य कन्या का परीक्षण-निरीक्षण करते हुए चल रहे हैं। उस उन्मुक्त गजराज को बाँधने के लिए राग-रंग का जाल गूँथा जा रहा है। सम्भव है, उस समय स्वयं गजसुकुमार भी विवाह के सुनहरे स्वप्न संजोता हुआ चल रहा हो। परन्तु वह ज्यों ही भगवान् के समवसरण में पहुँचा, वीतराग प्रभु की वाणी सुनी; त्यों ही उसकी मनोभावना का प्रवाह दूसरी दिशा में बदल गया। वह घर पर वापस आया तो सही, पर संसार में बँधने के लिए नहीं, अपितु साधना के पथ पर गतिशील होने के लिए। उस महान् आत्मा में वह तेज जगा कि फिर उसे वे सोने के चमकते हुए महल रोक नहीं सके। श्री कृष्ण ने अपने राजसिंहासन पर बिठाया, पर, वह विराट सत्ता की माया उसे बाँध नहीं सकी। भगवान् के एक बार के दर्शन ने उसके जीवन को इतना पलट दिया कि जितना अन्य यादव अनाधिक बार के दर्शन से भी अपने आपको नहीं बदल सके। मैं आपको यह बता रहा था कि—आपने जो कुछ सुना है, जो कुछ पढ़ा है, जो कुछ सीखा है, जब तक आपका उस पर विश्वास न हो, उसका रस आपके जीवन के कण-कण में व्याप्त न हो, वह तेजस्वी न बने, तब तक जिन्दगी में साधना का यथोचित प्रकाश जागृत नहीं हो सकता।

तेजस्विता का अर्थ है—विचारों की, चिन्तन-मनन की, विवेक की जलती हुई ज्योति। आप देखते हैं कि बुझा हुआ दीपक जरा भी प्रकाश नहीं दे सकता। हजारों मन कोयले का ढेर लगा दिया जाय, फिर भी वह प्रकाश नहीं दे सकता। यदि उसमें जलती हुई एक छोटी-सी चिनगारी जा गिरे तो वह उसे ज्योतिर्मय बना देती है। अभिप्राय यह हुआ कि कोयला बुझा हुआ है, ज्योति-हीन है, निष्प्राण है; अतः

वह प्रकाश नहीं फैला सकता। और चिनगारी स्वयं प्रकाशमान है, अतः जिसे स्पर्श करती है उसे भी प्रकाशमान बना देती है।

हाँ तो, मेरे कहने का आशय यह है कि भगवान् महावीर का शासन ढाई हजार वर्ष से चला आ रहा है। हजारों वर्षों से सामायिक-संवर, तप-जप आदि क्रियाएँ भी उसी रूप में चल रही हैं। पर, उनमें अन्तर इतना ही पड़ा है कि आज उनमें प्राण नहीं है, उनमें से सद्भावना की ज्योति बुझती-सी जा रही है, उनमें से त्याग का रस सूखता-सा जा रहा है। तोल में तो धर्म उसी रूप में है और उसी रूप में क्रिया-काण्ड भी चल रहे हैं, पर, मोल में वह कम होता जा रहा है। उसकी तेजस्विता कम हो रही है, सत्त्व खत्म होता जा रहा है। इसी से आज आत्म-शक्तियाँ दबी पड़ी हैं।

पुराने युग में एक तेले का तप देवों के सिंहासन हिला देता था, इन्द्र के जीवन में भी एक हलचल मचा देता था। पर आज वही तेला, देवों की बात तो दूर रही, परिवार के व्यक्तियों को भी अपने विचारों के अनुरूप नहीं मोड़ पाता। इसका क्या कारण है? उत्तर इतना ही है कि आज के तप में तेजस्विता नहीं रही। आज शरीर को तो तेले के आसन पर बैठा दिया जाता है, इस हड्डियों के ढाँचे को तो आप सामायिक या तप के मोर्चे पर खड़ा कर देते हैं, शरीर की शक्ति को तो उस ओर लगा देते हैं, परन्तु मन, वचन की शक्ति को उसके साथ यथावत् जोड़ नहीं पाते और जब तक तन, मन, वचन की एक रूपता नहीं हो हो पाती, तब तक वह निष्प्राण बाह्य तप जीवन में तेज पैदा नहीं कर सकता।

आप देखते हैं—सूर्य का प्रखर प्रकाश फैलता है, हजार-हजार किरणें तपती हैं, फिर भी उनसे कोई आग जलाना चाहे तो वे हजारों-लाखों किरणें आग का काम नहीं दे सकतीं। परन्तु जब सूर्य की कुछ किरणें यंत्र में केन्द्रित कर ली जाती हैं, या किसी विशेष काँच में से

केन्द्रित होकर किसी वस्तु पर पड़ती हैं, तो वे केन्द्रित किरणें अग्नि का काम दे सकती हैं।

इसी तरह जीवन में जब तक तन, मन, वचन की शक्ति इधर-उधर यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है, तब तक चाहे जितना तप-जप करें, जीवन में वह शक्ति, वह तेज आ नहीं सकता, जिसका शास्त्रों में निरूपण किया गया है। त्याग, तप, जप, दान आदि सत्क्रियाओं में तेज प्रकट करने के लिए तन, मन, वचन की शक्ति को केन्द्रित करना आवश्यक है। हाँ तो, योग-त्रय का केन्द्रीकरण हुआ; कि फिर किसी भी तरह का त्याग करते हिचक नहीं होगी। आपने कई बार सुना है, कि बड़े-बड़े सम्राट् एक क्षण में राजसिंहासन को त्याग देते थे, वेग से प्रवहमान जीवन के प्रवाह को शीघ्रता से मोड़ देते थे। तो इसका कारण एक ही रहा है कि उनके जीवन में तेज, आत्म-ज्योति प्रज्वलित थी। आज आप छोटा-सा त्याग करते हुए भी हिचकते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपके जीवन में तेज नहीं रहा, शक्ति नहीं रही।

एक समय की बात है—एक भाई बीमार था, मैं उसे मांगलिक सुनाने गया। उसकी माँ ने कहा कि–"महाराज, यह बहुत बीमार है, फिर भी इसकी तमाखू पीने की आदत है, जिसके कारण यह स्वयं हैरान होता है और सेवा करने वालों को भी हैरान करता है, अतः आप इसे तमाखू पीने का त्याग करा दें।" मैंने उस भाई से कहा कि—"तमाखू बुरी चीज है, यह दुर्व्यसन है। इससे तुम्हारी आध्यात्मिक स्थिति भी बिगड़ती है, बीमारी भी बढ़ती है, रात-दिन छटपटाते रहते हो और परिवार वाले भी परेशान होते हैं, तो इसका त्याग कर दो न! जिससे तुम भी अपने जीवन में कुछ शान्ति की साँस ले सको और परिवार वाले भी कुछ आराम पा सकें।"

उस भाई ने झट से कहा कि—"महाराज, यदि आप कहें तो मैं और खाने-पीने की वस्तुएं छोड़ सकता हूँ, किसी एक-दो हरी सब्जी का या ऊपर से नमक लेने का त्याग कर सकता हूँ, पर तमाखू का त्याग

नहीं कर सकता। वह तो जीते-जी नहीं, मरने के बाद ही छूटेगी।" मैंने कहा—"मरने के बाद तो सब कुछ छूट जायगा, उसमें मनुष्य की क्या विशेषता रही ? मनुष्य की महत्ता इसी में है कि वह जीवित रहते दुर्गुणों का, दुर्व्यसनों का त्याग करे।"

तेजस्वी आत्मा एक क्षण में विराट संसार को त्याग सकता है, दुनिया के पदार्थों से ममत्व हटा सकता है, पर कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं—जो स्वयं पीड़ित हैं, उनकी दुष्प्रवृत्तियों से उनके संगी साथी भी दुःख पाते हैं, फिर भी वे तमाखू पीने आदि की एक छोटी-सी आदत को भी नहीं त्याग सकते। एक तेज के अभाव में सारे सद्गुण दबे रहते हैं।

साधना एक ऐसी ज्योति है कि जिससे जीवन के कण-कण में प्रकाश फैलना चाहिए, एक अभिनव तेज प्रस्फुटित होना चाहिए। परन्तु ऐसा न हो कि दस-बीस वर्ष तक निरन्तर साधना करने के बाद भी जीवन में क्रोध का कोप-भवन उसी तरह स्थिर रहे, अहंत्व का पहाड़ उसी तरह खड़ा रहे, आशा-तृष्णा अन्दर में हलचल मचाती रहे। इतनी लम्बी साधना के बाद भी यदि ये मनोविकार ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं तो हमें फिर से हिसाब करना होगा कि साधना में कहीं भूल तो नहीं हो रही है ? कहीं हम उल्टी दिशा में तो नहीं चल रहे हैं ? यदि उस भूल को वहीं नहीं पकड़ लिया गया तो वह कालान्तर में भयंकर शूल बनकर जीवन को बड़ी क्षति पहुँचा सकती है, जिन्दगी का सर्वनाश कर सकती है और मनुष्य को नरक के गर्त में भी गिरा सकती है।

आज साधना कुछ और ही रूप में चल रही है। आपकी बात तो क्या कहूँ, कभी-कभी सन्तों की साधना भी लड़खड़ाने लगती है। हमने परिवार को, घर-गृहस्थी को, धन-सम्पत्ति को छोड़कर संयम धारण किया। साधना के कठोर पथ पर चले और दस-बीस वर्ष तक चलते रहे। फिर देखा कि जब जीवन में क्रोध, घृणा और अहंकार का प्रसंग आया तो

हम जीवन में शान्ति एवं समता नहीं रख सके, अन्तर्मन का सन्तुलन नहीं रख सके, कषायों की आग में जल-भुन उठे ! तो मैं पूछता हूँ—उस साधना से क्या फल पाया ?

मुझे जीवन-यात्रा का एक प्रसंग याद आ रहा है। हम कुछ सन्त विहार करते हुए चल रहे थे, पहाड़ी रास्ता था। साथ में एक वृद्ध सन्त थे, जिनकी साधना तीस वर्ष की थी और वे गर्व के साथ अपनी साधना के रोचक संस्मरण सुनाते जाते थे कि—मैंने अपनी जिन्दगी में कठिनाइयों के कितने दुर्गम पहाड़ लाँघे हैं, कितने बड़े-बड़े तप किए हैं ? इस तरह हम आनन्द और उल्लास के वातावरण में रास्ता पार कर रहे थे कि यकायक उक्त साधक के शिष्य का पैर फिसल गया, वह गिर पड़ा और उसके हाथ में पानी से भरा हुआ जो पात्र था, वह टूट गया। इस पर गुरु जी का क्रोध जाग उठा, वे शिष्य पर बरस पड़े—"नालायक ! तू देखकर नहीं चलता। बिल्कुल नया पात्र फोड़ दिया ? अब बता, दूसरा नया पात्र यहाँ कहाँ मिलेगा ?"

ज़रा सोचिए, यहाँ दो तरह की क्षति हुई। एक चेतन की, दूसरी जड़ की। एक तरफ पात्र फूटा है, तो दूसरी तरफ शिष्य के पैर में चोट लगी है। उस शिष्य के, जिसे किसी के घर से निकाल कर लाए हैं। जिसके लिए बहुत कुछ उलटे-सीधे प्रयत्न किए हैं, जिसे धूम-धाम से दीक्षा दी है। ऐसे समय पर उसे सँभालना चाहिए था, उसकी पूछ-ताछ करनी थी कि—भैया ! तुम्हें कहाँ लगी है। पर, वह सन्त तीस वर्ष की साधना के बाद भी जड़ पदार्थ की ही चिन्ता करता है। शिष्य के चोट लगी, उसकी जरा भी परवाह नहीं। उसे फिक्र है अपने नए पात्र की। तो समझना चाहिए कि अभी तक उसकी साधना में तेजस्विता नहीं जगी।

आपके पास दो तरह का परिग्रह है। एक परिवार का, पास-पड़ौस के व्यक्तियों का; और दूसरा हजारों-लाखों की धन-सम्पत्ति का। एक परिग्रह चेतन का है; और दूसरा जड़ का। अब जीवन में वैराग्य

आरम्भ करना है, तो आप किस ओर से शुरू करेंगे ? जड़-पदार्थों से, या चेतन-जगत से ? सिद्धान्त तो यह है कि मनुष्य पहले जड़ से वैराग्य आरम्भ करे, परन्तु आज के जीवन में होता उल्टा है।

आज का मनुष्य सोचता है कि माता-पिता का सम्बन्ध कुछ नहीं है, केवल स्वार्थ का नाता है। पत्नी भी क्या है ? नरक का दरवाजा है। इस सम्बन्ध में झटपट सूरिकन्ता का नंगा उदाहरण सामने ले आते हैं। परन्तु आप भूल जाते हैं—सती-साध्वी सीता के पवित्र जीवन को ! आप भूल जाते हैं—अंजना के त्याग-तपोमय गौरव को ! खेद है, आपको तथा आपके धर्मोपदेशकों को वैराग्य के लिए सूरिकन्ता द्वारा पति को विष देने का वर्णन तो याद है ! परन्तु उन महासतियों की स्मृति क्यों नहीं जगती, जिन्होंने अपने जीवन को,अपने सुख साधनों को, त्याग की भट्टी में झोंक दिया था। माताओं में भगवान् महावीर की माता आपको याद नहीं आती, और भी माताएँ याद नहीं आती, जो हजारों-लाखों वर्षों से प्रेम, स्नेह, वात्सल्य की रसधार समाज के कण-कण में बहाती आ रही हैं। आपको याद आती है—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कुमाता ! और उसे याद कर के माता के प्रति विराग भाव धारण करते हैं कि—कौन किसकी माता है ? स्वार्थ पूरा न होने पर माता भी पुत्र को जहर दे सकती है, मारने को प्रस्तुत हो सकती है; फिर माता का भी विश्वास क्या ?

तो आप चेतन जगत से वैराग्य लेते हैं, उदासीन होते हैं; परन्तु पैसे से वैराग्य नहीं ले पाते। पैसे के लिए भाई से झगड़ सकते हैं, माता-पिता से अलग हो सकते हैं, पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद कर सकते हैं। सौ-पचास रुपये के लिए संघर्ष शुरू कर सकते हैं, कोर्ट में जा पहुँचते हैं, किसी की बेइज्जती कर सकते हैं, किसी भी भाई के जीवन को वरबाद कर सकते हैं, पर चाँदी के उन चन्द टुकड़ों का मोह त्याग नहीं सकते। मनुष्य को चलना तो चाहिए था किस ओर से, पर वह

चल पड़ा किसी दूसरी ओर से। उसे पैरों के वल पर चलना था, पर, आज वह चल रहा है सिर के वल।

अभिप्राय यह हुआ कि पहले जड़ को छोड़ना चाहिए था, पर हो रहा है उलटा ही। तीस-चालीस वर्ष से तप-जप, सामायिक-संवर करने के वाद भी साधक चेतन पर तो औदासीन्य भाव, उपेक्षा वृत्ति रखता है, किन्तु जड़ को छाती से चिपकाए फिरता है। इस प्रकार सहज ही समझा जा सकता है कि आपकी साधना प्राणवान नहीं रही। आप शास्त्रों को लेकर संघर्ष करते हैं, कभी प्रसंग पाकर जड़-पूजा का खंडन भी करते हैं और कहते हैं कि हम जड़ के पुजारी नहीं, चेतन के पुजारी हैं। परन्तु परिवार में जव कोई वीमार पड़ता है, और उस समय आप पैसे का हिसाव लगाते हैं—हिसाव के चक्कर में वीमार की सेवा का लक्ष्य भुला देते हैं—केवल पैसा वचाने का ही एकमात्र लक्ष्य रखते हैं, तो वताइए आप क्या करते हैं ? अतः स्पष्ट है कि आपका प्रेम चेतन परिवार से नहीं, वल्कि जड़-पदार्थ पैसे से है। तो यह जड़-पूजा हुई, या और कुछ ?

पैसे के अभाव में पड़ौसी के वालक पढ़ नहीं पा रहे हैं। उनके पास स्कूल की फीस तथा पुस्तकों के लिए पैसे का अभाव है और आप सव तरह सम्पन्न होते हुए भी उन्हें अन्धेरे में भटकने देते हैं, कुछ भी सहयोग नहीं देते, तो यह जड़ की ही पूजा हुई न ?

एक वहन को टी० वी० की वीमारी थी। दो-तीन वर्ष वीमार रहकर वह मर गई। एक दिन उसके पति से पूछा कि—वहन का क्या हाल है? तो उसने रोते हुए वेदना के स्वर में कहा,—"वह तो मर गई, परन्तु साथ में हमें भी मार गई।" इसका अर्थ क्या हुआ ? उस भाई को धर्म-पत्नी के मरने की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी दो-तीन वर्ष में उसके उपचार के लिए खर्च हुए धन की। इस तरह आज मनुष्य जड़ का पुजारी वनता जा रहा है, चेतन की अपेक्षा उसे जड़ का अधिक विचार रहता है।

पर, जैन-धर्म कहता है कि जड़ से वैराग्य प्राप्त करो। परिवार में

माता-पिता, भाई-बहन,पत्नी आदि कोई भी बीमार है या कष्ट में है, तो पहले उसकी सेवा करो। पड़ौस में कोई दुःखी है, तो उसकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न हो जाओ। तन, मन, धन को परिवार की, पड़ौसी की सेवा-भक्ति में लगा दो। मनुष्य के दुःख निवारण के समय पैसे का हिसाब मत लगाओ, जड़ पदार्थों की चिन्ता मत करो, जड़ से चेतन को अधिक महत्त्व दो। यही आत्मा का सच्चा प्रकाश है, आत्मा की वास्तविक ज्योति है और आत्मा का तेज है।

अभिप्राय यह हुआ कि निष्प्राण साधना से व्यक्ति या समाज में कभी भी जागृति नहीं आ सकती। एक-दो नहीं, हजारों साधु इकट्ठे कर लें, गिनती में वे बहुत बढ़ जाँयगे, संख्या की दृष्टि से भले ही वह पंथ बहुत बड़ा माना जाएगा, परन्तु वे निष्प्राण साधना-पथ के राही अपनी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकेंगे तथा दूसरों का हित भी नहीं साध सकेंगे। इसी तरह श्रावक भी चाहे जितनी सामायिक कर लें, चाहे जितनी तपश्चर्या कर लें, जब तक चेतन के प्रति औदासीन्य-वृत्ति रखेंगे, जड़ से ममत्व नहीं हटा पाएँगे, या यों कहिए कि चेतन की अपेक्षा जड़ को अधिक महत्त्व देते रहेंगे, तब तक वे अपने जीवन में दिव्य ज्योति नहीं जगा सकेंगे।

हाँ तो, आत्मा में जो अनन्त-अनन्त गुण हैं, उनमें तेजस्विता का गुण ऐसा महत्त्वपूर्ण है कि, वह अनन्त-अनन्त छिपे हुए गुणों को प्रकट कर देता है। एक आचार्य ने राम के जीवन का वर्णन करते हुए एक स्थल पर कहा है—"रावण सीता को चुराकर ले गया और राम उसकी खोज करते-करते वानरवंशी राजा सुग्रीव से मिले, तो वहाँ राम को उनसे मालूम हुआ कि रावण सीता को चुराकर लंका में ले गया है। तो राम ने वानरवंशियों से पूछा—लंका यहाँ से कितनी दूर है? उनमें जामवन्त नाम का एक व्यक्ति था, जो वानरवंशी सेना का सेनापति था, शरीर से वृद्ध हो चुका था, उसका अंग-अंग जर्जरित था। पर उसके जीवन में तेज था, उसके चेहरे पर ओज था। उसने

आश्चर्य की मुद्रा में प्रश्न को दोहराते हुए कहा कि—क्या पूछा आपने? लंका कितनी दूर है? और फिर हँसते हुए उत्तर में कहा—"लंका इतनी दूर है कि एक-दो वर्ष या सौ-पचास वर्ष तो क्या, हजार-हजार वर्ष भी पूरे हो जायँ, तव भी वहाँ तक पहुँच नहीं सकते। और लंका इतनी निकट भी है कि एक कदम उठाया और दूसरा कदम धरा कि लंका के सिंह-द्वार पर।" राम कुछ भी समझ नहीं पाए। उन्होंने फिर से पूछा, "तुम्हारी इस पहेली का गूढ़ार्थ क्या है?" जामवन्त ने अपनी वात को स्पष्ट करते हुए कहा—"जिस मनुष्य के जीवन में उत्साह नहीं है, शक्ति नहीं है, तेज नहीं है, पुरुषार्थ नहीं है, तो वह व्यक्ति हजारों-हजार वर्ष विता देने पर भी लंका नहीं पहुँच सकेगा। परन्तु जिसके वाहु में वल है, पैरों में शक्ति है, मन में उत्साह है और जीवन में तेज है, वह कुछ ही क्षणों में लंका की दूरी तो क्या, ससागरा पृथ्वी को भी एक छोर से दूसरे छोर तक नाप सकता है।"

जामवन्त ने आगे कहा—"आप यह मत पूछिए कि लंका कितनी दूर है; वल्कि यह पूछिए कि हमारे अन्दर कितना उत्साह है, कितना साहस है और कितना तेज है।" प्रायः इसी भाषा में वीर हनुमान ने भी अपने वानर-साथियों से एक महत्त्वपूर्ण वात कही थी—"राम का हमारे साथ कोई परिचय नहीं, वे हमारी जाति के भी नहीं, वे हमारे देश के भी नहीं; परन्तु आज वे एक अतिथि के रूप में हमारे द्वार पर हैं। वे हमारे ऐसे अतिथि हैं कि जिनकी पत्नी को रावण चुराकर ले गया है। उन पर अन्याय हुआ है, अत्याचार हुआ है। उन्हें इस विकट अवसर पर हमारा सहयोग अपेक्षित है। यदि हम उनको कोई सहयोग नहीं दे सके, राक्षस-राज रावण के शिकंजे से सीता को नहीं छुड़ा सके, कुछ भी प्रयत्न न करके यों ही वैठे रहे, तो हमारे वानर वंश पर यह वहुत वड़ा कलंक होगा, जिसे हम किसी तरह भी धो नहीं सकेंगे। और साथ में यह भी सत्य है कि अव हमें मौत के घाट तो-उतरना ही होगा। राम की तरफ से नहीं लड़े, तव भी मरना तो होगा ही। कारण यह, कि रावण

के राज्य के अन्तर्गत ही हमारा राज्य है, अतः रावण के निमंत्रण पर हमें राम से लड़ना होगा और युद्ध में मरना होगा; क्योंकि राम की शक्ति भी तो कुछ कम नहीं है।" हाँ तो, जब मृत्यु हमारे द्वार पर आ खड़ी हुई है, तब चाहे हम राम की तरफ रहें, चाहे रावण की तरफ। यदि हम रावण के पक्ष में रहे, तो इतिहास के पन्नों पर यह लिखा जायगा कि—"वानर वंशियों ने अन्यायी, अत्याचारी रावण का पक्ष लेकर राम से युद्ध किया, वे एक सती-साध्वी स्त्री पर होने वाले अत्याचार में साझीदार रहे।" जन्म-जन्मांतर तक संसार हमारे इस कारनामे पर थूकता रहेगा। और यदि राम की तरफ से लड़ते हुए मरे, तो इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा कि "वानर वंशी इतने तेजस्वी थे कि न्याय की रक्षा के लिए अपने राज्य के अधिपति अत्याचारी रावण जैसे महाबली राक्षस से भी अड़ गए। वे अपने निजी स्वार्थ के लिए नहीं, किन्तु एक अज्ञात, अपरिचित वनवासी राम पर हुए अन्याय का, अत्याचार का बदला लेने के लिए लड़े।" तो आज तक जिनमें हिम्मत नहीं आई थी, जो रावण से सीता को छुड़ाने की वात तक भी नहीं सोच सकते थे, जो प्राणहीन मुर्दे वन रहे थे, उनमें भी साहस और उत्साह की ज्योति जग उठी। वानर जाति की वह तेजस्विता आज इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अजर-अमर बनकर संसार को जीवन-शक्ति का अजर-अमर सन्देश दे रही है।

अस्तु, जीवन में उत्साह होना चाहिए। जिस किसी क्षेत्र में काम करें; आनन्द, उत्साह, उल्लास से करें। यदि घर में कोई बीमार पड़ा है और उसकी सेवा के लिए रात भर जागते तो रहे, किन्तु बात-वात पर रोते भी रहे, अनादर की भावना से सेवा कार्य करते भी रहे, तो उसका क्या अर्थ रहा? रोगी की सेवा करने का सुन्दर, सुनहरा अवसर आया और उस समय उत्साह, उल्लास और उमंग के साथ सेवा करके मालामाल वन सकते थे, पर उसे रोते-कलपते हुए ऐसे गुजार दिया कि प्रातः उठे तो कंगाल के कंगाल ही रहे। रात भर जागे भी सही, काम भी करते रहे,

पर, उस बीमार की जिन्दगी के साथ राग रखता तो पैदा नहीं कर सके, एक रूपता नहीं जोड़ सके, जीवन के साथ घुल-मिलकर उसके जीवन में माधुर्य भी पैदा नहीं कर सके।

इसी तरह धार्मिक क्षेत्र में सन्तों के धार्मिक कहने-सुनने से सामायिक की, एक मुहूर्त तक बैठे भी रहे, पर बराबर घड़ी की सुई को देखते रहे कि कब मुहूर्त पूरा हो और कब बन्धन से छूटूँ! तो इससे कोई लाभ नहीं हुआ। यदि इसी तरह आठ-आठ और तीस-तीस दिन का तप भी किया, परन्तु जड़ का ममत्व नहीं छूटा, कषायों की ज्वाला ज्यों-की-त्यों जलती रही, अज्ञान का अन्धेरा दूर नहीं हुआ—तो जीवन में बुभुक्षित के बुभुक्षित ही रहे। साधना के क्षेत्र में वर्ष के वर्ष गुजार देने पर भी यदि दरिद्रता बनी ही रही—तो साहस का, उत्साह का, बल-वीर्य का, तेज का दुर्भिक्ष ही कहा जाएगा।

हाँ तो, मैं बता रहा था कि जो जीवन चल रहा है—चाहे वह साधु का जीवन हो या श्रावक का—वह तो चल ही रहा है और हमारी साधना भी क्रिया-काण्ड के रूप में हो ही रही है। इस सम्बन्ध में मुझे और कुछ नहीं कहना है! मुझे तो आपसे केवल यही कहना है कि "आपको जो सत्कार्य समाचरण करने को मिला है, वह आपको करना तो है ही, फिर उसे उत्साह एवं उल्लास के साथ क्यों न करें। यदि हमने प्रत्येक सत्कार्य को प्रसन्नभाव से, विवेक के प्रकाश में, उत्साह, उमंग, एवं तेजस्विता के साथ किया तो वह हमारी जिन्दगी के जर्रे-जर्रे को आध्यात्मिकता के क्षेत्र में ऊपर उठा सकेगा, जीवन में अनन्त-अनन्त ज्योति जगा सकेगा।"

दिनांक
२३-९-५६.

कुचेरा (राजस्थान)

—: ११ :—

शान्ति क्यों नहीं ?

आज के जीवन में, फिर भले ही वह पारिवारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक हो अथवा राष्ट्रीय हो, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ एवं उलझनें सामने आती रहती हैं कि मानव-आत्मा को शान्ति की अनुभूति बहुत कम हो पाती है। जिन्दगी के ये महत्त्वपूर्ण क्षण यथोचित आनन्द, उल्लास एवं हर्ष में नहीं बीत पाते।

आज ऐसी क्या बात है कि जिधर देखो उधर ही अशान्ति की आग जल रही है। जब कि परिवार तो पहले भी थे, और हो सकता है—उनमें भी कभी-कभी मन-मुटाव होता रहा हो। फिर भी वे सब एक साथ चलते रहे, इधर-उधर भागे नहीं। संघ भी हजारों-हजार वर्षों से चला आ रहा है। भगवान् महावीर के युग में तथा उनके बाद के आचार्यों के युग में भी संघ रहा है। और सम्भव है, उस युग में भी कुछ मन परस्पर नहीं मिले हों, फिर भी वह अभ्युदय के मार्ग पर गति करता रहा। परन्तु आज क्या बात है, जो शान्त वातावरण तथा जो आनन्द एवं उल्लास आपके और हमारे पूर्वजों को प्राप्त था, वह आज हमारे लिए अति दुर्लभ हो रहा है ?

आप अपने परिवार तथा समाज के साथ पचास-साठ वर्ष की लम्बी

जिन्दगी गुजारते हैं, परन्तु उनमें आपको मन-वांछित शान्ति की अनुभूति नहीं होती ? आप सदा-सर्वदा अपने परिजनों की शिकायत करते हैं और वे आपकी शिकायतों की फहरिस्त सुनाते रहते हैं ? इस तरह सारी जिन्दगी वड़वानल की तरह उवलती रहती है। संघ की स्थिति भी कुछ विचित्र-सी है। सन्त अपने परिवार, धन-सम्पत्ति एवं घर-गृहस्थी को छोड़कर मुक्ति के मार्ग पर चल पड़ा है। तीस-चालीस वर्ष की साधना हो चुकी है और इतनी लम्वी साधना के फलस्वरूप उसके अन्तर्-जीवन में अखण्ड शान्ति का सागर लहराना चाहिए। परन्तु वह साधक भी शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता है, तो इसका भी कुछ कारण होना चाहिए ?

अब मैं अपने मूल विषय पर आता हूँ। जीवन में अशान्ति की ज्वाला क्यों जलती है ? वात-वात पर संघर्ष क्यों खड़े होते हैं ? आप कह सकते हैं—मनुष्य भूलें करता है, फलतः संघर्ष खड़े हो जाते हैं। परन्तु यह समाधान युक्ति-संगत नहीं है। कारण यह, कि भूल का हो जाना साधारण मानव से स्वाभाविक है। भूल उनसे नहीं होती—जो सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं। और यह केवल-ज्ञान की वह भूमिका है, जहाँ पहुँचने के वाद मनुष्य कभी भूल नहीं करता। वह स्वयं अपना शासक होता है और अपने पर आप ही शासन करता है। वह शासक की दृष्टि से भी पूर्ण है और शासित की दृष्टि से भी। अतः वह पूर्ण पुरुष अपने जीवन में कभी भी भूल नहीं करता।

परन्तु जो मनुष्य साधारण जिन्दगी गुजार रहे हैं, फिर भले ही वे गृहस्थ के रूप में हों या साधु के रूप में, उनसे भूल का होना कोई अक्षम्य अपराध नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि हम सभी उच्च जीवन के अनन्त आकाश में उड़ानें भर रहे हैं। परन्तु हम में से कुछ गरुड़ की उड़ान से उड़ते हैं और कुछ अन्य पक्षियों की उड़ान से। गरुड़ जिस केन्द्र से, जिस मंजिल को लक्ष्य वनाकर उड़ता है, वह एक समान गति से, एक समान उड़ान से उड़कर अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जाता

है ! वह बीच में कहीं थककर विश्रान्ति नहीं लेता, कहीं रुकता भी नहीं। परन्तु अन्य पक्षी बीच में रुके विना, या अपनी उड़ान को कभी तेज और कभी धीमी किए बिना लम्बी दूर तक एक समान उड़ान नहीं भर सकते।

इस अनन्त आकाश में उड़ने का सभी को अधिकार है। गरुड़ भी उड़ता है, हंस भी उड़ता है और अनेक पक्षी भी उड़ते हैं। और उन सब के साथ मक्खी-मच्छर भी उड़ते हैं। मक्खी और मच्छर भी स्वतंत्र रूप से आकाश में उड़ने का दावा करते हैं। आप भले ही उनकी मजाक करें कि—अरे, नन्हीं-सी जान, छोटी-सी हस्ती, तुम्हारा क्या महत्त्व है ? तुम किस गिनती में हो, जो आकाश में स्वतंत्र उड़ान भरने का दावा करते हो। इसके उत्तर में गर्व के साथ कहा जा सकता है—"अरे मानव ! तू भले ही शरीर से बड़ा है, तेरी शक्ति भी विराट है, फिर भी तू पृथ्वी पर रेंगने वाला कीड़ा ही है। तू स्वतंत्र रूप से जन्म-जात शक्ति के आधार पर आकाश में उड़ नहीं सकता।"

हाँ तो, कुछ साधक ऐसे हैं—जो गरुड़ की तरह निर्बाध गति से चलकर एक ही उड़ान में अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच जाते हैं। कुछ साधक ऐसे हैं—जो धीमी गति से उड़ते हैं, परन्तु जितना रास्ता तय किया है, उससे प्रति क्षण प्रेरणा पाकर अपनी गति को निरन्तर तेज करते रहते हैं। कुछ-साधक ऐसे हैं—जो अपनी गति को बढ़ा तो नहीं सकते, पर उसी धीमी चाल से निरन्तर चलते रहते हैं। कुछ साधक ऐसे हैं—जो प्रारम्भ में तेज गति से उड़ते है, परन्तु पीछे से उनकी चाल मंद पड़ जाती है और कुछ देर में फिर से उनकी चाल में तेजी आ जाती है, इस तरह बढ़ती-घटती गति से चलते हैं। कुछ साधक ऐसे हैं—जो दुर्बल होने के कारण थक जाने पर बीच में कहीं बैठ जाते हैं और विश्रान्ति के द्वारा जीवन में नई शक्ति, नई प्रेरणा प्राप्त करके फिर से आगे बढ़ चलते हैं।

जीवन में दुर्बलता की उक्त स्थिति का निर्देशन भगवान् ने भी

किया है। हाँ तो, जो जीवन-यात्रा में थककर विश्रान्ति के लिए कुछ क्षण बैठ गए हैं, इसीलिए आप उनके प्रति घृणा, द्वेष एवं उपेक्षा-भाव रखें तथा उनका अपमान एवं तिरस्कार करें, तो यह गलत है।

कल्पना कीजिए—आप चल रहे हैं और आपके साथ आपकी पत्नी या बहन भी चल रही है। नारी जाति की चाल स्वभावतः कुछ मंद होने से वह पीछे रह गई। इस पर क्या आप उस पर बिगड़ खड़े होंगे कि तुम पीछे क्यों रह गईं ? उक्त स्थिति में आपका यह कर्त्तव्य नहीं कि आप उस पर सहसा बरस पड़ें या तिरस्कार करें। आपका मानवोचित कर्त्तव्य तो यह है कि कुछ देर के विश्राम से उसकी थकान को दूर करें, उसकी पिछड़ी हुई गति में अभिनव प्राणों का संचार करें, नई चेतना जागृत करें।

आप अपने बच्चे की अँगुली पकड़ कर चलते हैं। अभी थोड़ा-सा रास्ता तय कर पाए हैं कि बच्चा थक जाता है और पास में ही वृक्ष की शीतल छाया देखकर कहने लगा है कि—"पिताजी, यहाँ बैठकर थोड़ा-सा विश्राम ले लें।" आप तत्काल उसे झिड़क कर कहते हैं कि—"चलो, आगे बढ़ो; अभी तो बहुत लम्बा रास्ता तय करना है। अभी से यदि बैठने लगे तो फिर गन्तव्य स्थान तक कब पहुँचेंगे ?" बालक खिन्न चित्त से आगे बढ़ता है। फिर कोई वृक्ष देखता है तो छाया में बैठने का आग्रह करने लगता है। आप झिड़क कर पुनः वहाँ से आगे धकेल देते हैं तो कुछ दूर और आगे जाने पर तो वह अड़ ही जाएगा और कहेगा कि अब तो बिना विश्राम लिए आगे एक कदम भी नहीं बढ़ सकता। यदि आप फिर भी उसकी मनोभावना का आदर नहीं करते हैं, अपितु उसे झिड़कते हैं और आगे धकेलने की चेष्टा करते हैं, तो यह गलत तरीका है। आप बालक को उसकी अपनी ताकत पर नहीं तोलते, अपितु अपनी ताकत पर तोलते हैं और इस तरह उसके अमूल्य जीवन के साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि वह सचमुच थक गया है, तो उसे झिड़कें नहीं, अपितु उसकी मनोभावना का समादर करके विश्राम

के लिए वैठ जाएँ और उसके साथ स्नेह, प्रेम एवं मधुरता का व्यवहार करें, ताकि उसके जीवन में नई शक्ति, नया उत्साह, नई भावना उद्बुद्ध हो और वह अपनी शारीरिक थकान को दूर कर शीघ्र ही अपने जीवन में एक अभिनव स्फूर्ति तथा अलौकिक तेज का अनुभव करने लगे।

अस्तु, थक जाने पर विश्राम के लिए चन्द मिनट वैठ जाना कोई अपराध नहीं है। मान लो, आप किसी वड़े पहलवान के साथ तेज कदमों से चल रहे हैं और चलते-चलते कुछ दूर जाकर थकने पर वैठ जाते हैं। तव यदि वह पहलवान आपको घृणा की दृष्टि से देखे, तो आप उसे क्या कहेंगे ? यही तो कहेंगे कि भाई, तू मेरे प्रति इतनी क्रूर दृष्टि क्यों रखता है ? तुम्हारी शक्ति के सामने मेरी शक्ति का क्या मूल्य है ? हाँ तो, आपकी यही दृष्टि सव के प्रति सम होनी चाहिए।

आपकी पारिवारिक यात्रा चल रही है। सभी जन एक साथ यात्रा तय कर रहे हैं। उसमें वालक भी हैं, वृद्ध भी हैं, तरुण भी हैं, रोगी भी हैं, स्वस्थ भी हैं, निर्वल भी हैं और वलवान् भी हैं। हो सकता है, उनमें से कोई थक कर कुछ देर विश्राम करने लगा हो, किसी से कुछ भूल हो गई हो, तो उस समय आप अपने आत्म-संयम को, अपने धैर्य को खोकर एकदम आग-वगूला न बनें ; अपितु स्नेह एवं माधुर्य के साथ सम्मान का यथोचित ध्यान रखते हुए कोमल शब्दों में उन्हें उनकी भूल सुझाएँ। और कभी-कभी जीवन में कुछ ऐसे प्रसंग भी आते हैं कि भूल करने वाले को तत्काल ही भूल न सुझाकर, कुछ समय वीतने के वाद, भूल वताई जाय। इस तरह यदि आपका जीवन-व्यवहार सरस रहा, तो मैं समझता हूँ कि आपकी जीवन यात्रा ठीक तरह चल सकेगी और आपके साथियों के जीवन में भी नई स्फूर्ति जगेगी, नया तेज प्रस्फुटित होगा। इतना ही नहीं, अपितु एक दिन उनके जीवन में

वह विराट् शक्ति भी उद्बुद्ध होगी कि आप स्वयं ही उनकी प्रगति पर सहसा आश्चर्यचकित हो उठेंगे।

हाँ तो, मैं आपको यह बता रहा था कि आप परिवार के सभी सदस्यों को अपने जीवन का अंग समझें। पारिवारिक जीवन में प्रत्येक अंग का, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, अपनी जगह वैसा ही बड़ा महत्त्व है जैसा कि यंत्र में यथास्थान छोटे-बड़े सभी पुर्जों का होना है; क्योंकि एक छोटे-से पुर्जे के अभाव में भी सारा यंत्र बेकार हो जाता है। गाड़ी को ही लीजिए—यदि उसका एक पहिया टूट गया है, या धुरा घिस गया है, या धुरे की कहीं से एक छोटी-सी कील निकल गई है, तो समझ लीजिए कि वह गाड़ी तब तक नहीं चल सकती, जब तक कि उसके टूटे हुए अंगों को पुनः न जोड़ लिया जाए या घिसे-पिटे पुर्जों को फिर से साफ न कर लिया जाए। तो यही दृष्टि पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय गाड़ी के लिए भी होनी चाहिए। परिवार में रहने वाले सभी व्यक्ति परिवार रूपी महायंत्र के अंग हैं; कल-पुर्जे हैं। सत्तर वर्ष का वृद्ध भी अंग है, तरुण भी अंग है, स्त्री भी अंग है, पुरुष भी अंग है, छोटा-सा बालक भी अंग है। छोटा-सा बालक ही क्यों, गोद में या गर्भ में रहा हुआ बच्चा भी अंग है; और वह इतना महत्त्वपूर्ण अंग है कि उसकी उपेक्षा करके आप अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में ठीक तरह गति-प्रगति नहीं कर सकते।

यदि आपके परिवार का, समाज का, या राष्ट्र का कोई व्यक्ति किसी कारणवश थक गया है, और इस पर आप उससे घृणा करते हैं, उपेक्षा करते हैं, इतना ही नहीं, उसे एक तरफ धकेल कर स्वयं आगे बढ़ते हैं, तो यह गलत है। जब आपने उसे अपना अविच्छिन्न अंग माना है, तब फिर आप उसे किसी भी हालत में धक्का नहीं दे सकते। यदि वह अंग थक गया है, घिस गया है या लड़खड़ा रहा है, तो उसे उचित मर्यादा के साथ विश्राम देकर स्वस्थ करें। उसके सूखे नीरस जीवन में प्रेम, स्नेह एवं माधुर्य

का रस बरसाकर उसे हरा-भरा करें। मैं पूछता हूँ आपकी गाड़ी का कोई पुर्जा टूट-फूट जाए या घिस जाए, तो क्या आप उस गाड़ी को एक कोने में फेंक देंगे ? नहीं, कभी नहीं। आप उसे फेंकेंगे नहीं, ठीक कराएँगे। यदि आप स्वयं नहीं सुधार सके, तो किसी योग्य कारीगर को बुलाकर ठीक कराएँगे। उस समय यह कहते नहीं बनता कि क्या है, चलो इसके अभाव में भी काम चला लेंगे ? इसी तरह यदि कभी परिवार का कोई व्यक्ति भूलकर बैठा हो, लोभ-लालच में आकर लड़खड़ा गया हो, तो क्या उसके लिए आपके मन में आत्मीयता का भाव उद्‌बुद्ध हुआ है, आपके हृदय में प्रेम का झरना वहा है, और उसे सुधारने की भावना जगी है ?

आज के युग में इस प्रश्न का उत्तर देना जरा कठिन हो रहा है ! कारण ? आज परस्पर एक-दूसरे के सहयोग की परवाह नहीं है। यदि कभी पति-पत्नी में, माता-पिता में, पिता-पुत्र में, भाई-भाई में कुछ संघर्ष हो गया, आपस में कुछ कहा-सुनी हो गई, तो इतनी कटुता बढ़ जाती है कि वे एक-दूसरे से दूर-अतिदूर हो जाते हैं। और अपने मन में ऐसा भी सोचते हैं कि उसके अभाव में मेरा कौन-सा काम रुका पड़ा है, जो उसे मनाऊँ !

इसका एक कारण है ? आपने अपने परिवार, समाज, संघ तथा राष्ट्र को अपने जीवन का अभिन्न अंग समझा ही नहीं। माता को माता, पुत्र को पुत्र, भाई को भाई; इसी तरह अन्य व्यक्तियों को उनके अपने लोक-प्रचलित सम्बोधनों से सम्बोधित करके बुलाते अवश्य रहे, किन्तु उन्हें अपने अंग के रूप में अपना मानकर नहीं चले। यदि आपके मन में उनके प्रति वस्तुतः अपनत्व का भाव जगा होता तो ऐसा कभी नहीं होता, कि जरा-सा संघर्ष हुआ, मामूली-सी कहा-सुनी हुई, या कोई छोटी-मोटी भूल हो गई कि—वस, एकदम उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया; फिर कभी वास्ता ही नहीं रहा कि वे कहाँ हैं ? सुख में हैं या दुःख में ?

मान लो, कभी आपके शरीर के किसी अंग पर फोड़ा उभर आया, तो क्या इतने पर ही उस अंग को काटकर अलग फेंक देंगे ? नहीं। उसका सावधानी के साथ यथोचित उपचार करेंगे और जब तक वह ठीक नहीं हो जाता, निरन्तर दर्द महसूस करते रहेंगे। आज के जीवन में यह शरीर-सम्बन्धी अङ्गाङ्गी भाव का सिद्धान्त तो ठीक तरह व्यवहृत होता है, किन्तु पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय सम्बन्धों में उक्त सिद्धान्त का व्यवहार प्रायः कम ही दिखाई देता है।

इसका कारण ? आज मनुष्य ऐसी स्थिति में चल रहा है कि वह अपनी भूलों को, अपनी गलतियों को तथा अपने दोषों को नहीं देखता। वह दूसरों के जीवन में छिद्र देखता है, दोष ढूँढ़ता है, और उनकी गलतियों का अवलोकन करता है। वह अन्तर्दृष्टि न रहकर, बहिर्दृष्टि बनता जा रहा है। मानव की अन्तर्मुखता क्षीण हो रही है, और बहिर्मुखता अन्ध गति से प्रसार पा रही है।

जीवन में अन्तर्दृष्टि का वस्तुतः बहुत बड़ा महत्त्व है। मनुष्य अपने अन्दर जितना गहरा उतरता है, जितना अपने दोषों का अन्वेषण करता है, उतना ही वह उज्ज्वल बनता है। इतना ही नहीं, अपने अन्तर्जीवन में भगवान् महावीर के दर्शन करता है, भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शन करता है, किं बहुना चौबीस तीर्थङ्करों के दर्शन करता है। एक चौबीसी के नहीं, अनन्त-अनन्त चौबीसियों के दर्शन करता है। वह अपने अन्दर ही देव का दर्शन करता है, और अपने में ही, ठीक अपने अन्दर में ही, गुरु एवं धर्म का भी दर्शन करता है। अस्तु, सिद्धान्त यह है कि—मनुष्य अपने आत्म-सागर की अतल गहराई में जितनी अधिक डुबकियाँ लगाता रहेगा, अपने अन्तर्-हृदय को जितना अधिक माँजता रहेगा, उतना ही वह उत्तरोत्तर पावन-पवित्र बनता जाएगा।

परन्तु जब मनुष्य बाहर की ओर झाँकता है, दूसरों की ओर देखता है; अर्थात्-दूसरों के दोषों को देखता है, तो वह बहिर्दृष्टि बन जाता है।

और वह बार-बार रस ले लेकर जिन दोषों को दूसरों में देखता है, एक दिन स्वयं उनका शिकार हो जाता है। कारण ? जीवन एक दर्पण है। दर्पण के सामने जो भी बिम्ब आता है, उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में अवश्य पड़ता है। हाँ तो, मन के विषय में भी यही सिद्धान्त है कि जब आप सदा-सर्वदा दूसरों के दोष देखते रहेंगे, उनका चिन्तन करते रहेंगे, उनकी स्मृति को निरन्तर अन्तर्मन में रखते रहेंगे तो उनके दोषों एवं बुरे विचारों का प्रतिबिम्ब आपके मनोरूप दर्पण पर अवश्य चित्रित होता रहेगा। और प्रकारान्तर से वे ही दोष, चुप-चाप अलक्षित गति से, धीरे-धीरे आपके जीवन में भी पनपने लगेंगे।

अतः मैं कह रहा था कि यदि आप दोषों से वस्तुतः उन्मुक्त रहना चाहते हैं, तो आप परदोष-दर्शन की दृष्टि का परित्याग कर अपने आप में देखने की दृष्टि अपनाएँ। दूसरे के दोषों की ओर प्रथम तो नजर ही न डालें, और यदि कभी नजर पड़ भी जाए तो दृष्ट दोषों का यत्र-तत्र विज्ञापन न करें। किन्तु उस भूले-भटके राही को सही मार्ग पर लाने का सस्नेह प्रयत्न करें, उसे समझाने का प्रयास करें। संभव है, वह जल्दी न सुधर सके, एक- दो वर्ष में भी न समझ सके। फिर भी आप अपना प्रयास चालू रखें। कहीं ऐसा न हो कि थोड़ा-सा प्रयास किया और यदि वह नहीं समझा, तो सहसा एक किनारे हट गए कि बस, अब तो यह सुधर ही नहीं सकता। यदि आप क्षणिक आवेश की स्थिति में ऐसा निश्चय कर लेते हैं कि अमुक दोषी का जीवन अब कभी पवित्र नहीं हो सकता, तो आपने जैन-धर्म के सिद्धान्त को समझने में भूल की है। जैन-धर्म का तो यह अटल विश्वास है कि "प्रत्येक आत्मा परमात्मा है।"

श्रमण-वर्ग तो अनादिकाल से इस सिद्धान्त का प्रचार करता ही रहा है। किन्तु उक्त प्रचार में श्रावक वर्ग का भी कम हाथ नहीं रहा है। एक विचारक श्रावक ने इस सम्बन्ध में कितना अच्छा विचार प्रस्तुत किया है—

"सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय,
कर्म-मैल को आन्तरो, बूझे विरला कोय ।"

महामनीषी श्रावक रणजीत सिंह जी ने कहा—"प्रत्येक जीव सिद्धों के तुल्य है। क्योंकि जब कभी कोई सिद्ध होगा, ईश्वरत्व प्राप्त करेगा तो जीव ही प्राप्त करेगा, जड़ नहीं।" हीरा लाख रुपये का मोल रखता है। उसके अन्दर में रही हुई आत्मा तो कभी कालान्तर में मोक्ष पा सकती है, परन्तु बाहर में चमकदार वह कीमती हीरा जड़ होने के कारण कभी भी मुक्ति नहीं पा सकता। जैन-धर्म यह विश्वास लेकर चला है कि—दुनिया की अन्धेरी गलियों में भटकने वाली आत्मा में एक दिन शुद्ध परिणति उद्बुद्ध होगी ही, और वह एक दिन प्रकाशमान बनेगी भी। भले ही, विशुद्ध भावों की वह अमर ज्योति एक दो वर्ष में जगे, एक-दो जन्म में जगे, या अनन्त-अनन्त भवों के बाद जगे, पर जगेगी अवश्य। उसकी सुषुप्त चेतना एक दिन अँगड़ाई अवश्य लेगी।

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने गोशालक के भविष्य-कालिक जन्मों का वर्णन किया है। यदि आप वर्णन की गहराई में पैठकर सोचेंगे तो मालूम होगा कि भगवान् ने गोशालक के जन्म-जन्मान्तरों की लम्बी शृंखला का तथा उसकी अन्तिम परिणति का जिक्र क्यों किया? जिसने भगवान् के दो शिष्यों को तेजोलेश्या से जलाकर भस्म किया, स्वयं भगवान् को भस्म करने के लिए भी तेजोलेश्या फेंकी, और सारे समवसरण में तहलका मचा दिया; उसी का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि—"यह गोशालक यहाँ से मरकर बारहवें देवलोक में देव बनेगा। वहाँ से फिर अमुक-अमुक स्थान में जाएगा और अन्त में आत्मा को माँजेगा, सारे कर्म-मल को धोकर मोक्ष प्राप्त करेगा।"

और भी देखिए। भगवान् ने कई ऐसे व्यक्तियों के जीवन का वर्णन भी किया है, जो अपने जीवन-काल में हत्यारे, लुटेरे और दुनिया भर के बुरे आचरण करने वाले रहे हैं। यदि कोई आज उनका वह

अन्धकाराच्छन्न वर्णन पढ़े तो सहसा विश्वास ही नहीं कर सकेगा कि क्या उस स्वर्णिम युग में भी ऐसे नर-राक्षस होते थे ? हाँ तो, भगवान् ने उन राक्षसी वृत्ति वाले मनुष्यों का वर्णन सुनाया और कथा के उपसंहार में कहा कि—"गौतम ! आज के भूले-भटके ये अज्ञान प्राणी भी नरक आदि गतियों में घूम-फिरकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करेंगे।" विपाक सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध उक्त बात का साक्षी है। अतः कोई भी सज्जन उसे पढ़कर अपनी शंका का समाधान कर सकता है।

इसका क्या अर्थ हुआ ? उन दुनिया भर के गुण्डों एवं लुच्चे-लफंगों के जीवन का विस्तार से वर्णन करना और अन्त में यह कहना कि एक दिन वे अवश्य मोक्ष में जाएँगे—इसका क्या मौलिक अभिप्राय है ? मैं तो समझता हूँ कि उनके जीवन चित्र की गुप्त रेखाओं का जो रहस्योद्घाटन किया है, वह उनके प्रति फैली हुई घृणा, अवहेलना एवं उपेक्षावृत्ति को बदलकर मैत्री एवं माध्यस्थ्य भाव की स्थापना के लिए ही किया है। गोशालक ने भगवान् पर तेजोलेश्या छोड़ी, इससे बढ़कर जघन्य पाप और क्या होगा ? आज एक साधारण साधु का भी कोई अपमान करता है, तो आपको दुःख होता है, समाज में तहलका मच जाता है कि हमारे गुरु का अपमान कर दिया ! तो उस समय भगवान् के समवसरण में कितना तूफान मचा होगा, लोगों के दिलों में कितना आवेश आया होगा। उसे शान्त करने और उस भव्यात्मा का अन्तर्दर्शन कराने के लिए ही भगवान् ने बताया होगा कि—"केवल दूषित वर्त्तमान के आधार पर ही किसी पर द्वेष, घृणा एवं आक्रोश का भाव नहीं रखना चाहिए। यह ठीक है कि गोशालक ने गलती की है। परन्तु साथ में इसने तप भी कितना बड़ा किया है, जिसके बल पर वह बारहवें देव लोक में देव बनेगा। प्रस्तुत जन्म के कषाय भाव की उग्रता के कारण अनेकानेक गतियों में अवश्य परिभ्रमण करेगा, किन्तु अन्ततोगत्वा एक दिन अपने को सुधारेगा, फलतः कर्म-बन्धन सदा के लिए सर्वथा तोड़कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेगा।"

जैन-धर्म की प्रक्रिया शुरू से ही जहर को अमृत बनाने की रही है। अमृत पीने वाले हजारों हैं; और जहर को जहर के मूल रूप में रोते-बिलखते पीने वाले अज्ञान प्राणियों की भी संसार में कम संख्या नहीं है। परन्तु जहर को अमृत के रूप में परिवर्तित कर प्रसन्न भाव से हँसते-मुस्कराते पीने वाले विरले ही उपलब्ध होंगे।

जैन-धर्म घृणा, द्वेष एवं उपेक्षा के जहर को प्रेम, स्नेह एवं वात्सल्य के मधुर व्यवहार से अमृत बनाता है। यदि वह दुनिया को सच-मुच घृणा करना सिखाता, तो क्या वह कभी गोशालक का, या उन गुण्डे और बदमाशों का छेड़ा निकालता ? नहीं ! परन्तु उसने तो हमेशा मनुष्य की विशुद्ध आत्म-ज्योति को देखा है और घोर से घोर पापी के सुधार में भी अमर विश्वास रखा है। तब क्या आप परिवार में होने वाली साधारण-सी भूलों को नहीं सुधार सकते ? इस हल्के-से जहर को अमृत नहीं बना सकते ?

उक्त चर्चा-प्रसंग पर एक बात इधर भी कहना चाहता हूँ। श्रमण-संघ में किसी साधु या साध्वी से जरा-सी भूल हो जाती है, तो आपका हृदय घृणा, उपेक्षा और द्वेष से भर-भर जाता है, समाज में भूचाल-सा आ जाता है, समाचार पत्रों के पन्ने सहसा गर्म हो उठते हैं। तो मैं समझता हूँ कि अभी तक आपके अन्तर्हृदय में सच्ची सम्यक्त्व का प्रकाश प्रज्वलित नहीं हुआ है। क्षमा करना, मैं जरा कड़ी भाषा का प्रयोग कर गया हूँ।...... अभी तक आपके जीवन में घृणा-भाव को प्रेम एवं स्नेह में बदलने की, गिरे हुए जीवन को ऊपर उठाने की तथा भूले-भटके राहियों की भूलों को सुधारने की पवित्र भावना उद्‌बुद्ध नहीं हुई है। आपके अन्तर्मन में सम्यग्-दर्शन की भावना कुछ क्षीण है। सच्चा सम्यग्-दृष्टि वही है, जो जहर को अमृत बनाता है। यदि कभी किसी से कुछ कहा-सुनी हो भी जाती है, तब भी वह मन में द्वेष की गाँठ नहीं रखता; बल्कि सारी भूलों को, सारे द्वेष को धोकर हृदय को साफ बना लेता है। वह प्रतिक्षण विश्व में मैत्री का स्नेह-सूत्र सामने रखता है।

वह प्राणि-जगत के सभी जीवों की भूलों को सर्व प्रथम स्वयं क्षमा करता है, और वाद में अपनी भूलों के लिए प्राणि-मात्र से हार्दिक क्षमा माँगता है।

"खामेमि सव्वे जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे,
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई।"

सम्यग्-दृष्टि श्रावक का हृदय इतना संकीर्ण नहीं होता कि वह जगत के सब जीवों से तो क्षमा याचना करता फिरे, आकाश-पाताल तथा नदी-नालों के मक्खी-मच्छर, कीड़े-मकोड़ों के साथ तो मैत्री सम्वन्ध स्थापित करना चाहे ; परन्तु जिनके साथ कई वर्षों से सम्पर्क चला आ रहा है, कुछ गड़-वड़ होने पर उनके साथ पुनः मैत्री-सम्वन्ध नहीं स्थापित कर सके, पुनः स्नेह-सौजन्य से नहीं खमा सके। संघ में आप अनन्त अनन्त काल के तीर्थङ्करों को खमा लेंगे। अनन्त-अनन्त काल के साधु-साध्वियों के साथ मैत्री सम्वन्ध तो जोड़ लेंगे, परन्तु वर्त्तमान काल में अपने चिरपरिचित किसी साधु-साध्वी से यदि कभी भ्रान्तिवश कुछ कहा-सुनी हो गई, तो उन्हें नहीं खमाएँगे। उनके साथ प्रेम एवं स्नेह का शिष्टाचारमूलक उचित व्यवहार भी नहीं कर सकेंगे। आप मरे हुओं के साथ तो सद्भावना रख सकते है, किन्तु जीवित के साथ नहीं। अस्तु, यही कारण है कि इतनी लम्वी साधना करने के वाद भी संघ और समाज शान्ति की अनुकूल अनुभूति को प्राप्त नहीं कर पाता।

हाँ तो, वात यह है कि अन्दर में झाँकने की आदत डालें। अपने दोषों को, अपनी भूलों को देखें, उनकी आलोचना करें, और यथावसर कठोरता के साथ उनको सुधार लेने का प्रयत्न भी करें। परिवार, संघ, समाज एवं राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को साथ लेकर गति करें। छोटे-वड़े हर व्यक्ति का आदर-सत्कार करें। उनके प्रति किसी भी प्रकार की घृणा एवं उपेक्षा-वृत्ति न रखें, अपितु उन्हें सहारा देकर आगे वढ़ाएँ, उनकी थकान को, उनकी दुर्वलता को यथावसर उचित सहयोग देकर दूर करें

तथा उन्हें साधना-क्षेत्र के प्रत्येक प्रसंग पर सबल, सजग एवं सशक्त साथी बनाएं।

इस तरह परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र के हर व्यक्ति को अपना अंग समझकर यदि उनकी सुव्यवस्था करेंगे, उन्हें साथ लेकर कदम बढ़ाएंगे, तो परिवार, संघ, समाज एवं राष्ट्र में सर्वत्र शान्ति का सागर लहरा सकेगा, सर्वत्र आनन्द-मंगल की जय-जय ध्वनि गूंजेगी, और सर्वत्र सब लोग प्रगति के पथ पर अग्रसर होते नज़र आएंगे।

दिनांक
२५-९-५६.

कुचेरा (राजस्थान)

—: १२ :—

धर्म का हृदय

सच्चे साधक का जीवन अथ से इति तक धर्म से ओत-प्रोत रहता है। वह अपने पारिवारिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य के, व्यवसाय तथा साधना के जिस किसी क्षेत्र में भी गति करता है, धर्म निरन्तर उसके साथ रहता है। वह जीवन के हर मोड़ पर उसे ठीक गति देता है, निरन्तर ऊपर उठने की ओर प्रेरित करता है।

परन्तु इसके विपरीत जब जीवन के साथ धर्म का सम्बन्ध औपचारिक रूप से अमुक क्षेत्र या काल तक जोड़ दिया जाता है, तो साधक जीवन की सही दिशा से भटकने लगता है। कुछ साधक ऐसे भी हैं, जो दिन-रात में एक-दो घंटे के लिए ही धर्म के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं। और कुछ साधक रविवार की प्रतीक्षा में रहते हैं, सप्ताह में एक दिन धर्म को देते हैं। कुछ साधक ऐसे हैं, जो चतुर्दशी या पक्खी के दिन धर्म के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। और कुछ साधक ऐसे भी हैं, जो वर्ष भर में सम्वत्सरी के दिन ही धर्म के साथ जीवन का सम्पर्क साधने आते हैं। तो क्या धर्म कोई ऐसा पदार्थ है कि जिसके साथ सप्ताह में, पक्ष में, महीने में या साल में एक-दो वार सम्बन्ध जोड़ा जाय और फिर छुट्टी ले ली जाय। इस प्रकार के धर्माराधन में जुए की सी गंध

आती है। एक वार दाव लगाया और समझ लिया कि खूब कमा लिया, अब क्या चिन्ता है ? यह पद्धति तो धर्म को लूटने की है, अर्जन की नहीं।

कुछ साधक ऐसे हैं जिनका धर्म, धर्म-स्थानक में, उपाश्रय में, मन्दिर में, या तीर्थस्थान आदि उपासना गृहों में अवरुद्ध रहता है। जब तक उपासना गृहों में रहते हैं तब तक तो जोर-जोर-से स्तुति पाठ करते हैं और उसमें झूम उठते हैं। ऐसा मालूम होता है कि इनके हृदय में धर्म का सागर ठाठें मार रहा है, किन्तु ज्यों ही उपासना-गृह से वाहर निकले कि वस; जीवन से धर्म भी वाहर निकल भागता है। धर्म-स्थानक से निकल कर घर पहुँचे, या दुकान पर, कि वहाँ धर्म नहीं रहा, जीवन धर्म से सर्वथा शून्य वन गया।

तो वह धर्म ही क्या है, जो आपके जीवन के कण-कण के साथ सम्पर्क नहीं जोड़ सका? आपको परिवार, समाज तथा राष्ट्र में एक सच्चे इन्सान की तरह जीने की कला नहीं सिखा सका। क्या ऐसा धर्म, धर्म है ? अथवा वह धर्म, धर्म है, जो जीवन के साथ एकमेक हो गया है, जीवन के हर साँस के साथ गतिशील है, धर्म-स्थान में और धर्म-स्थान से वाहर भी; अर्थात्—घर में और दुकान पर, सर्वत्र जीवन के साथ एकरस होकर प्रवहमान है ?

जैन-धर्म ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"वही धर्म, धर्म है, जो जीवन के हर क्षेत्र में, हर स्थान में और हर समय में जीवन के साथ सम्बन्धित रहता है, जो जीवन के कण-कण में व्याप्त है और निरन्तर जीवन-प्रवाह के साथ प्रवहमान है। जो जीवन से वाहर पड़ा है, वह धर्म, धर्म नहीं है। वह तो एक विजातीय पदार्थ जैसा है। इसलिए वह जीवन में चेतना जागृत नहीं कर सकता, जीवन को गति नहीं दे सकता, जीवन को ऊपर उठाने की प्रेरणा भी नहीं दे सकता।

जीवन के साथ धर्म का सम्बन्ध किसी अमुक समय तक ही नहीं,

अपितु निरन्तर वना रहना चाहिए। मनुष्य को ऐसी कला सीखनी चाहिए कि वह हर स्थान में, हर क्षेत्र में धर्म का प्रकाश लिए गति करता रहे। जब तक भारत की यह स्थिति रही, तब तक उसका जीवन-स्तर निरन्तर ऊपर उठता रहा, वह उन्नति भी करता रहा। पर, आज उसकी चिन्तन-धारा उल्टी दिशा में वह रही है। आज तो यह समझा जा रहा है कि जब तक धर्म-स्थान की सीमा में हैं, तब तक तो धर्म है, और उसकी सीमा के वाहर हुए कि धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि एक बीमार अस्पताल में भरती हुआ, वहाँ दवा लेने से ठीक हो गया और अस्पताल में रहा तब तक स्वस्थ रहा। पर, डॉक्टर से छुट्टी लेकर अस्पताल के दरवाजे से वाहर कदम रखा, कि पुनः बीमार हो गया। पुनर्वार अस्पताल में भरती हुआ तो स्वस्थ हो गया, परन्तु दरवाजे से वाहर कदम रखते ही फिर अस्वस्थ हो गया। और अन्त में डॉक्टर ने कहा—कि तुम अस्पताल के दरवाजे से वाहर कदम नहीं रख सकते। यदि अस्पताल के द्वार के वाहर हुए तो फिर तुम्हारे लिए मौत का वारन्ट तैयार है।

तब क्या जीवन की समस्या का समाधान अस्पताल में ही पड़े-पड़े जिन्दगी गुजारने में है, या अस्पताल से वाहर निकलकर स्वस्थता के साथ घर-गृहस्थी का काम करने में ? जहाँ तक मैं समझा हूँ, आप अस्पताल के जीवन को पसन्द नहीं करेंगे और ऐसे डॉक्टर को भी पसन्द नहीं करेंगे, जो हमेशा अस्पताल में ही रहने का परामर्श देता है। जिन्दगी के दस-बीस वर्ष अस्पताल की खाट पर सोते-सोते गुजारने के लिए नहीं हैं, अपितु परिवार के साथ हिल-मिलकर प्रमोद-भरा जीवन बिताने के लिए हैं।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि जब तक आप धर्म-स्थान में हैं, तब तक कुछ स्वस्थ हैं। वहाँ क्रोध की, अभिमान की, और घृणा की बीमारी कम है। पर, उसके बाहर निकलते ही क्रोध की ज्वाला

भभक उठती है, लोभ का अन्धड़ चलता है। घर में पहुँचे तो बच्चे पर उबल पड़े, पत्नी पर बरस पड़े, या भाई-बहन के साथ संघर्ष करने लगे। तो मैं पूछता हूँ कि दस-बीस वर्ष की साधना के बाद आपने क्या पाया? यह तो वैसा ही हुआ कि अस्पताल के बाहर कदम रखा कि बीमार के बीमार। यह भी कोई जीवन है? जीवन तो ऐसा होना चाहिए कि धर्म-स्थान में तथा उसके बाहर सर्वत्र एकरूपता बनी रहे और अन्तर-जीवन में धर्म की ज्योति निरन्तर जलती रहे। कारण यह, कि धर्म कोई बाहरी पदार्थ नहीं है। वह तो आत्मा की अपनी ज्योति है, आत्मा का अपना तेज है।

आचार्य कुन्दकुन्द से पूछा गया कि धर्म क्या है? तो उस महान् आचार्य ने यह नहीं कहा कि—"अमुक ढंग से अमुक स्तोत्र पढ़ना धर्म है! अमुक प्रकार की वेश-भूषा धारण करना धर्म है! अमुक तरह से माला फेरने में धर्म है! अमुक तरह के क्रिया-काण्ड करने में धर्म है! अमुक सम्प्रदाय की सम्यक्त्व लेने में धर्म है! अमुक पंथ के या सम्प्रदाय के साधु का दर्शन करने में धर्म है!" उन्होंने धर्म के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है—"वत्थु-सहाओ धम्मो," अर्थात्—वस्तु का अपना स्वभाव ही—निज-गुण ही धर्म है।

अग्नि का धर्म तेज है, क्योंकि वह अग्नि का स्वभाव है। अग्नि को किसी भी स्थान में जलाएँ, किसी भी समय में जलाएँ, उसमें से तेज प्रस्फुटित होगा ही। स्थान-विशेष, या काल-विशेष उसके स्वभाव को बदल नहीं सकते। उसके लिए व्यक्ति, स्थान, और काल कोई महत्त्व नहीं रखते। चाहे उसे किसी ब्राह्मण के घर में जलाएँ या शूद्र के घर में, तीर्थस्थान में जलाएँ या घर में, दिन में जलाएँ या रात में, वह जलाने पर अपने सहज स्वभाव के अनुसार उष्णता तथा प्रकाश देने का काम करेगी ही। उसका यह काम नहीं है कि ब्राह्मण के घर में जलाने पर तो उष्णता या प्रकाश दे, परन्तु शूद्र के घर में अन्धकार

फैला दे। वह तो सर्वत्र एक ही काम करेगी, जो उसका अपना स्वभाव है।

तो अभिप्राय यह हुआ कि धर्म है—वस्तु का अपना स्वभाव। यदि अग्नि में तेज कहीं बाहर से डाल दिया जा सकता तो वह व्यक्ति-विशेष के अधिकार में आ जाती, या कोई जाति-विशेष या राष्ट्र-विशेष उस पर अपना आधिपत्य जमा लेता। और इस स्थिति में वह फिर अपने वास्तविक रूप में नहीं रह पाती। विभिन्न स्थितियों के कारण विभिन्न रूपों में विकृत हो जाती और सर्वत्र समान रूप से स्वभाव-सिद्ध कार्य नहीं कर पाती। अतः संसार के पदार्थों का जो स्वभाव है, जो निज गुण है, वस्तुतः वही उनका धर्म है।

आत्मा का वही अपना धर्म है, जो उसका सदा सर्वदा सहज भाव से प्रवाहशील रहने वाला स्वभाव है। आत्मा का धर्म—व्यक्ति, परिवार, जाति, समाज तथा राष्ट्रों की क्षुद्र सीमाओं से सर्वथा परे, सर्वत्र एक-रस रहने वाला धर्म है। आत्मा के सद्गुण अपने लिए बँधी-बँधाई संकुचित कारा को कभी प्रश्रय नहीं देते। यह नहीं, कि यदि आप अपने माता-पिता की विनय करें, आदर-भक्ति करें, अपने गुरु का सत्कार-सम्मान करें, वह तो धर्म है; और यदि दूसरे गुणी जनों का सम्मान करें, तो वह पाप है। आपके मानस में अपने पिता के प्रति जितना पूज्य भाव है, उतना ही पड़ौसी के पिता के प्रति भी होना चाहिए। आप अपनी माता का जितना सम्मान करते हैं, पड़ौसी की माँ भी आपसे उतना ही सम्मान पाने का अधिकार रखती है। गाँव की एक साधारण वृद्धा भी आपसे यह अधिकार चाहती है कि आप उसका भी अपनी माँ के रूप में सत्कार करें। तो बात यह है कि आप में जो विनय का निज गुण है, आत्म-स्वभाव है, वह सर्वत्र एक समान हो। आपके जीवन में यदि वस्तुतः विनय-धर्म प्राणवान है तो जहाँ कहीं भी गुणाधिक व्यक्ति मिले, फिर भले ही जाति या वंश आदि के रूप में वह कोई भी क्यों न हो,

आपके मानस में उसके प्रति सत्कार-सम्मान की एक सहज मधुर प्रमोद भावना जागृत होनी ही चाहिए।

धर्म किसी क्षेत्र, पंथ, या, काल-विशेष के खूँटे से बँधा हुआ नहीं है। वह तो सर्वत्र फैला हुआ है, धर्म-स्थान के अन्दर और उसके बाहर भी व्याप्त है। धर्म-स्थान में या बड़ों के सामने यदि झूठ बोलना बुरा है, और पाप है, तो वह सारे संसार में जहाँ-कहीं भी बोला जाय, अधर्म और पाप ही माना जाएगा। पिता के सामने लड़का झूठ बोलता है, तो पिता उसे धमकाता है, पीटता है, और अपनी सारी शक्ति लगा देता है कि मेरे सामने झूठ क्यों बोला? परन्तु थोड़ी देर बाद ही दरवाजे पर एक व्यक्ति पुकारता है, पर वह उससे मिलना नहीं चाहता है, अतः उसी लड़के से, जिसे कि घन्टा भर पहले झूठ बोलने के अपराध में पीटा था, कहता है—आगन्तुक से कह दो कि "पिता जी घर पर नहीं हैं।" तो पुत्र असमंजस में पड़ जाता है कि वह क्या करे? अभी-अभी पिता जी झूठ बोलने के अपराध में तमाचे जड़ रहे थे और अब वे स्वयं ही झूठ बुलवा रहे हैं? संभव है, आज्ञा का पालन नहीं किया तो फिर चाँटा जड़ दें। तो बालक यह सिद्धान्त-सा बना लेता है कि पिता जी का यह अभिप्राय है कि पिता के सामने झूठ नहीं बोलना, परन्तु दूसरों के सामने भले ही झूठ बोलें; कोई अपराध नहीं है।

इस तरह आप बालक के अखण्ड धर्म-जीवन को विभिन्न टुकड़ों में बाँट देते हैं। आप चाहते हैं कि आपकी सन्तान आपके सामने तो सत्य बोले, आपका विनय करे। उसकी सारी अच्छाइयाँ आपके लिए ही हों, दूसरों के लिए नहीं। तो उसका जीवन घर और बाहर दो तरह का हो जाता है।

एक लड़के को स्कूल में पढ़ाया गया—"पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है"।

लड़का पढ़ कर घर पहुँचा तो पिता ने पूछा कि—आज क्या पढ़ा है?

लड़के ने कहा—"पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है।"

पिता ने एक चपत जमाते हुए कहा—"मूर्ख! तू कुछ नहीं जानता। यह गलत है कि—पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है। सत्य तो यह है कि—सूर्य घूमता है, और पृथ्वी स्थिर है।"

अगले दिन लड़का स्कूल पहुँचा और अध्यापक ने कल का पाठ पूछा तो उसने कहा—"सूर्य घूमता है, पृथ्वी स्थिर है।"

यह सुनते ही मास्टर ने भी एक तमाचा लगा दिया और कहा—"मूर्ख, तुझे एक छोटा-सा वाक्य भी याद नहीं रहा। कल ही तो बताया था कि—पृथ्वी घूमती है, और सूर्य स्थिर है।"

दोनों जगह तमाचे पड़ने लगे तो बालक असमंजस में पड़ गया। बहुत कुछ सोचने के बाद उसने अपना एक नया ही सिद्धान्त निश्चित कर लिया।

कुछ दिनों बाद स्कूल में इन्सपेक्टर आया और परीक्षा के प्रश्न के रूप में उसी लड़के से पूछा कि "बताओ—पृथ्वी और सूर्य दोनों में से कौन घूमता है?" तो उसने उत्तर दिया कि—"स्कूल में तो पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है, और घर पर—सूर्य घूमता है, पृथ्वी स्थिर है।"

इन्सपेक्टर हँस पड़ा और साथ ही चकराया भी कि यह क्या मामला है? वह समझ नहीं पाया कि आखिर, लड़का कहता क्या है? क्यों वह इस तरह की बेतुकी तात करता है?

इन्सपेक्टर ने बालक से समाधान माँगा, तो उसने बताया कि "घर में यह कहने पर पिटाई होती है कि—'पृथ्वी घूमती है, सूर्य स्थिर है', और यह कहने पर स्कूल में पिटाई होती है कि—'सूर्य घूमता है, पृथ्वी स्थिर है।'

प्रस्तुत कहानी पर आप हँस रहे हैं, किन्तु यह बताइए कि बेचारा

बालक क्या करे ? वह स्कूल और घर के दो परस्पर विरोधी पाटों के बीच पिस रहा है। वह ऐसा न कहे, तो क्या कहे ?

आज लड़कों पर यह दोष मढ़ा जाता है कि उनमें विनय नहीं रहा, उनमें आस्तिकता नहीं रही। पर, आप जानते हैं कि हाई-स्कूलों और कालेजों में उन्हें किस तरह की शिक्षा मिलती है? वहाँ उन्हें मांस और अंडे के गुण बताए जाते हैं। और इधर घर में आप उन्हें अहिंसा-धर्म का पाठ पढ़ाते हैं। तो इन दो तरह के संस्कारों में वह सामंजस्य कैसे स्थापित कर सकता है? जब तक घर की और कालेज की पढ़ाई में एकरूपता, एक समान चेतना नहीं आ पाएगी, तब तक बच्चों का जीवन एक प्रवाह में कैसे प्रवाहित हो सकता है? तो इस तरह व्यक्ति, परिवार, समाज, संघ, तथा राष्ट्र सभी दो पाटों के बीच में पिस रहे हैं।

श्रमण-संघ बनने से पूर्व के साधु-जीवन की ओर झांकते हैं तो वहाँ पर भी साधक का जीवन दो पाटों के बीच में पिसता हुआ-सा नजर आता है। गुरु अपने शिष्य को सिखाता था—"बड़े आएँ, गुरु आएँ तो सम्मान में एकदम खड़े हो जाना चाहिए। यदि खड़े नहीं हुए तो आशातना लगेगी और उसका प्रायश्चित्त आएगा। दूसरी ओर यदि अन्य संप्रदाय का बड़े से बड़ा मुनि या आचार्य भी आ गया और उसके सम्मान में उठ गये तो अपराध है और प्रायश्चित लेना होगा।" बेचारा मुनि भी उसी बालक की-सी दुविधा का अनुभव करता था। इस तरह पाप के दोहरे पाट में शिष्य की जिन्दगी कुचल दी जाती थी। दुर्भाग्य है कि तत्कालीन सन्त-मानस में न तो अन्य सम्प्रदाय के विशिष्ट गुण सम्पन्न व्यक्ति का आदर-सम्मान करने की भावना जगी, और न आज भी जग पाई है।

एक समय की बात है कि अलग-अलग सम्प्रदायों के कुछ सन्त एक छोटे से गाँव में मिले। गाँव में घर थोड़े थे, अतः एक-दो सिंघाड़े के

साधुओं को तो आहार-पानी मिला, परन्तु कुछ अन्य सन्तों को नहीं मिला, वे घूम-फिरकर खाली पात्र लिए वापस लौट आए।

अब एक विकट समस्या खड़ी हो गई कि क्या किया जाय? यदि परस्पर आहार-पानी का लेन-देन करते हैं तो साधुता खतरे में पड़ जाती है। और यदि एक-दूसरे को दिए बिना खाएँ तो कैसे खाएँ? यह तो हो नहीं सकता कि साथ के कुछ सन्त भूखे-प्यासे बैठे देखा करें और दूसरे आनन्द से खाते रहें?

प्रश्न टेढ़ा बनता जा रहा था कि क्या किया जाय? उस मण्डली में मैं भी था। मैंने पूछा—"आपने जो परम्परा बना रखी है, क्या आप इसे अच्छा समझते हैं? यदि आपका हृदय इतना कठोर है कि हम तो खाएँगे, भले ही दूसरे भूखे रहें, प्यासे रहें, तब तो बात अलग है। पर, यदि आपके हृदय में मानवीय सहज स्नेह की रस-धारा बह रही है, तो ऐसी परिस्थिति में इन रूढ़ बन्धनों को, जड़ परम्पराओं को, निष्प्राण सीमांत रेखाओं को तोड़ देना ही श्रेयस्कर है। भगवान् महावीर का तो यह उपदेश है—'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।' 'जो प्राप्त सामग्री का परस्पर संविभाग नहीं करता, वह मोक्ष नहीं पा सकता।' हाँ तो, यदि आप दूसरों के घर से गवेषणा करके लाई हुई भिक्षा में से स्नेह वात्सल्य के नाते संविभाग नहीं कर सकते, और वह भी समान-धर्मी साधुओं के साथ, तो फिर विश्व के साथ और प्राणी-जगत के साथ आपकी उदारता का, विश्व-बन्धुता की भावना का प्रसार कैसे होगा? मेरे अन्दर तो अभी इन्सानियत की ज्योति टिम-टिमा रही है, अतः मैं तो इन्हें दिए बगैर नहीं खा सकता।" सरल और स्पष्ट हृदय से कही गई बात असर कर जाती है। अस्तु, सब की वात्सल्य भावना जगी और उस दिन सत्साहस के साथ उस बुराई को तोड़ दिया गया, जो एक-दूसरे सन्त के जीवन में सम्प्रदाय के नाम पर भेद की दीवार बनकर खड़ी थी।

परम्पराओं की ग्रन्थियाँ कितनी उलझी हुई हैं कि एक-साथ रही हुई

दो जिन्दगियाँ, एक-दूसरे का आदर भी नहीं कर सकतीं। कल्पना कीजिए, पिता किसी एक सम्प्रदाय में दीक्षित हुआ और पुत्र किसी दूसरे सम्प्रदाय में। तो, जो पिता-पुत्र वर्षों तक एक-दूसरे के साथ रहे, एक-दूसरे के जीवन में माधुर्य घोलते रहे, एक-दूसरे के सहयोगी बनकर रहे, वे ही इस परम्परा के बन्धन में इतनी दृढ़ता से जकड़ दिए जाते हैं कि वे एक-दूसरे को वन्दन तक नहीं कर सकते, एक-दूसरे से सुख-शान्ति की बात नहीं पूछ सकते। यदि पिता भूखा और प्यासा है और पुत्र के पास आहार-पानी है, तो वह अपने ही पिता को आहार-पानी देकर उसकी भूख-प्यास नहीं बुझा सकता। यदि पिता के पास आहार है तो वह अपने बुभुक्षित पुत्र की भूख शान्त नहीं कर सकता। उसे आदर-सम्मान पूर्वक पास नहीं बैठा सकता।

इस तरह, स्नेह और वात्सल्य से साथ-साथ चलने वाली दो जिन्दगियों के बीच में यह विषाक्त सम्प्रदायवाद तथा रूढ़ परम्पराओं का पहाड़-सा खड़ा हो जाता है, जो पिता-पुत्र को परस्पर स्नेह और वात्सल्य की नजर से देखने तक नहीं देता। इस तरह जो धर्म अलग-अलग दो सम्प्रदायों में प्रव्रजित भाई-भाई के तथा माता-पुत्री के बीच में भेद की दीवार बनकर खड़ा हो जाता है, प्रकृति-प्रदत्त स्नेह सम्बन्ध को भी निभाने नहीं देता, वह धर्म, धर्म नहीं है। धर्म जोड़ने का काम करता है, तोड़ने का नहीं। वह कैंची नहीं है, जो टुकड़े-टुकड़े करता रहे। वह तो वह सुई है, जो टूटे हुए दो दिलों को भी जोड़ दे। अस्तु, जो धर्म एक-दूसरे का आदर करना नहीं सिखाता, एक-दूसरे को एक-दूसरे के दुःख-सुख में, आपत्तियों में सहयोग देने की प्रेरणा नहीं देता, वह जीवित धर्म नहीं है, वह तो मुर्दा धर्म है। और मुर्दा किसी से स्नेह नहीं कर सकता, किसी को सहारा नहीं दे सकता, बुराइयों से लड़ नहीं सकता। उसका काम है पड़े-पड़े सड़ते और गलते रहना, और अन्त में एक दिन बदबू छोड़कर समाप्त हो जाना।

एक बात याद आ रही है—"रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में तथा

पोप गद्दी पर बैठा। एक दिन पोप का पुराना शिक्षक एक पादरी उससे मिलने आया, तो उसके सम्मान में पोप खड़ा हो गया। इस पर पोप के नीचे के एक अधिकारी ने कहा कि—"आप पोप हैं, आपको किसी के सम्मान में खड़ा नहीं होना चाहिए।"

पोप ने कहा—"मैंने इससे ज्ञान लिया है, एक दिन यह मेरा गुरु रहा है और गुरु का आदर करना मेरा अपना धर्म है।"

अधिकारी ने कहा—"भले ही ये आपके गुरु रहे हों। किन्तु इस समय आप पोप हैं और पोप किसी भी व्यक्ति का आदर करने के लिए खड़ा नहीं हो सकता। हुजूर, यह वैधानिक प्रश्न है!"

पोप ने मुसकराते हुए कहा—"अभी मैं नया-नया पोप बना हूँ, अभी मेरी इन्सानियत मरी नहीं है। अस्तु, मैं अभी इस इन्सानियत से परे के तुम्हारे विधान पर चल नहीं सकता। अभी तो मेरी आत्मा का जीवित कानून मुझे अपने से ज्येष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्ति के सम्मान में खड़े होने की प्रेरणा देता है। और जब तक मेरा यह आत्म-धर्म जिन्दा रहेगा, तब तक मैं बड़ों का आदर करता रहूँगा।"

आज मनुष्य ने कुछ ऐसा विधान-सा बना लिया है कि वह अपने परिवार, अपने पंथ, अपने मत, और सम्प्रदाय के लिए कुछ और रूप रखता है, और दूसरों के लिए कुछ और ही तरीका अपनाता है। यदि आपके सामने दूसरे पंथ का, दूसरे धर्म का व्यक्ति भूखा-प्यासा छटपटा रहा है, जीवन की अन्तिम साँस छोड़ रहा है, फिर भी पंथों की मान्यता के जाल यदि आपको उसकी सेवा करने की इजाजत नहीं देते, उसे दो बूँद जल देने से इन्कार करते हैं, तो यह धर्म नहीं, अधर्म है। यह कितना अमानवीय विचार है कि अपनी सम्प्रदाय के साधुओं को तो जरूरत से भी ज्यादा आहार दे सकते हो, दूध-दही, मिष्टान्न आदि से पात्र भर सकते हो; पर, दूसरी सम्प्रदाय के बुभुक्षित व्यक्ति को एक कौर भी खाने को नहीं दे सकते ! सम्प्रदाय-विशेष भले

ही इसे धर्म करार देते हों; पर, मेरा आत्मा, मेरा मन इसे धर्म मानने से इन्कार करता है।

हाँ तो, मैंने यह शब्द-चित्र आपके सामने रखा है कि माता-पिता, आचार्य आदि ज्येष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्तियों को आदर देने की जो वृत्तियाँ हैं, उनमें एक जगह धर्म और दूसरी जगह पाप बताना, यह जैन-धर्म का सूत्र नहीं है। जैन-धर्म का सिद्धान्त तो सर्वत्र एक रूप रहा है। वह अपने और पराये का भेद करके नहीं चला है, वह धर्म को टुकड़ों में नहीं बाँटना चाहता। मिश्री सबको मिठास देगी, चाहे कोई अपने पंथ का व्यक्ति खाए या दूसरे पंथ का, उसके माधुर्य में कोई अन्तर नहीं आता।

तो आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—"वस्तु का अपना स्वभाव ही, निज गुण ही धर्म है।" हाँ तो, यदि मनुष्य अपने आत्म-स्वभाव में अवस्थित हो जाय, उसकी साधना सर्वदा-सर्वत्र एक रूप बन जाय, तो जीवन की सभी समस्याओं का हल हो सकता है। अमुक उपासना-गृह में धर्म है और उसके बाहर सर्वत्र पाप है, यह धर्म की आवाज नहीं हो सकती। भगवान् महावीर के धर्म ने एक दिन स्पष्ट शब्दों में आघोष किया था कि—"धर्म किसी स्थान-विशेष में या किसी अमुक तरह के क्रिया-काण्ड की कारा में बन्द नहीं हो सकता, वह तो सब जगह है। घर पर या दुकान पर यदि विवेक रखा जाय, सहिष्णुता और सन्तोष से काम लिया जाय, तो वहाँ भी धर्मार्जन कर सकते हो। तुम्हारे जीवन में यदि सदाचार और सद्विचार है, तो पाप-बन्ध के स्थान में भी धर्म का प्रकाश पा सकते हो।"

वस्तुपाल और तेजपाल के विषय में कहा जाता है कि उन्हें ऐसा वरदान प्राप्त था कि जहाँ-कहीं ठोकर मारते, वहीं खजाना निकल आता था। जगत सेठ के सम्बन्ध में भी किंवदन्ती प्रचलित है कि वह जहाँ हाथ डालते, वहीं स्वर्ण राशि पा लेते। एक बार उन्हें नदी के पानी में खड़ा कर धन माँगा गया। उन्होंने पानी से मुट्ठी भरी और वह जल-

धारा स्वर्ण बन गई। यह एक किंवदन्ती है, यह असत्य भी हो सकती है। पर, यदि आपके जीवन में विवेक है, करुणा और प्रेम है, एक-दूसरे को सहयोग देने की भावना है, दुःखी के प्रति हमदर्दी है, तो आप जहाँ-कहीं खड़े होंगे, या जिस किसी क्षेत्र में भी कार्य करेंगे, वहीं धर्म का खजाना आपके हाथ में होगा।

भोजन करते समय आपके अन्तर-मानस में शान्ति है, दूसरे का सम्मान है तो वहाँ भी धर्मार्जन कर सकते हैं। श्रावण की बदली उमड़-घुमड़ कर बरस रही है, आप छाता लिए जा रहे हैं, और रास्ते में कोई बूढ़ा काँपता और ठिठुरता हुआ चल रहा है; यदि उसे छाते का सहारा दे दिया, उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं तो उसे अपने कन्धे का सहारा देकर गति दे दी, तो वहाँ भी धर्म का प्रकाश पा सकते हैं। मार्ग के बीच में केले का छिलका पड़ा है। आपने देखा कि जल्दी में किसी का पैर इसके ऊपर पड़ गया तो वह फिसल पड़ेगा, उसकी हड्डी-पसली चूर-चूर हो जाएगी, इसलिए उसे विवेक-पूर्वक उठाकर एक किनारे कर दिया तो आपने रास्ते चलते भी धर्म कमा लिया। घर से बाहर कूड़ा-करकट फेंकना तो है, पर उसे इस तरह फेंका कि राह चलते किसी राहगीर पर पड़कर उसके शरीर तथा वस्त्रों को गन्दा बना दे, या दूसरे के दरवाजे पर तथा सार्वजनिक स्थानों में फेंक दिया और जनता के मार्ग को गन्दा बना दिया, तो यह तरीका गलत है। दूसरे शब्दों में वह एक सामाजिक पाप है। परन्तु विवेक-पूर्वक ऐसे ढंग से डाला कि जहाँ अपना, पड़ौसी का तथा गाँव के किसी भी व्यक्ति का अहित न हो, तो वहीं धर्म की ज्योति जग सकती है।

यदि जीवन में विवेक का दीप बुझ चुका है, तो धर्म-स्थान में भी पाप-कर्म का बन्ध हो सकता है। पर्युषण पर्व के आध्यात्मिक दिनों में, जब कि उपाश्रयों में तपस्या, सामायिक, पौषध के ठाठ लगा करते हैं, उसके साथ धर्म कार्यों के लिए चन्दे-चिट्ठे होते हैं और जब पुराने

बही-खाते खुलते हैं तो कभी-कभी आपस में वाग्युद्ध भी हो जाता है। एक बार एक ऐसे ही प्रसंग पर संघर्ष बढ़ चला, आपस में काफी तू-तू, मैं-मैं हुई। एक सज्जन काफी जोर-जोर से चिल्ला रहे थे और किसी अन्य सज्जन पर दोषारोपण कर रहे थे। सामने वाले सज्जन ने कहा—"अजी साहब ! अठाई है, जरा धीरे-बोलिए। आप में इतनी शक्ति भी तो नहीं, जो इस प्रकार बेतुके चिल्लाते रहें।" इतना सुनना था कि वे सज्जन और अधिक जोर से गरजे कि—"अठाई है तो क्या हुआ, एक-दो को पछाड़ने की तो अब भी हिम्मत रखता हूँ।" मैं पूछता हूँ—क्या पर्युषण पर्व ऐसे ही मनाया जाता है ? क्या ऐसी अट्ठाईयाँ धर्म की कोटि में आएँगी ? क्या आप केवल भूखों मरने तक ही धर्म को सीमित मानते हैं ? नहीं, कोई भी समझदार इस प्रकार विवेकहीन भूखे मरने में धर्म नहीं मान सकता। आप शरीर को नहीं, मन को मारिए। शरीर के मारने में समस्या का हल नहीं है। यह शरीर एक-दो बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार मरा है। नारकी में यह शरीर अनन्त बार मर चुका है। मनुष्य, तिर्यञ्च, देव आदि योनियों में भी इस शरीर को अनन्त-अनन्त बार मारा गया है, फिर भी कर्म-बन्धन की अनादि परम्परा समाप्त नहीं हुई।

हाँ तो, शरीर के मारने में तथा तप के द्वारा शरीर को सुखाने मात्र में ही धर्म नहीं है, अपितु धर्म तो वहाँ है जहाँ राग-द्वेष की लोह-शृंखला को तोड़कर सुख-दुःख में जीवन का, आत्मा का सन्तुलन बनाए रखा जाता है।

भगवान् महावीर का धर्म, धर्म-स्थानक में या उपाश्रय में, या अन्य उपासना गृहों में ही जिन्दगी को सुधारने की बात नहीं कहता, वह तो जीवन की हर साँस के साथ प्रकाश लेकर गति करने की बात कहता है। भगवान् महावीर का धर्म— अपने ही पंथ के, अपने ही सम्प्रदाय के व्यक्तियों के सत्कार की बात भी नहीं कहता। वह तो सबके सम्मान की, सबके यथोचित आदर की बात कहता है। भगवान्

महावीर का अन्तर्दर्शन तो यह कहता है कि आपके धर्म की ज्योति अग्नि की तरह सब काल, सब क्षेत्र, और सब सम्प्रदायों में समान रूप से जलती रहे। धर्म को अलग-अलग पंथों और सम्प्रदायों में बाँटकर नहीं चलाया जा सकता। पन्थों और सम्प्रदायों के कट-घरे में धर्म को कैद नहीं किया जा सकता। वह तो सदा-सर्वदा देश, काल, व्यक्ति और परिवार की सीमाओं से परे रहकर ही प्रकाश दे सकता है।

दिनांक कुचेरा (राजस्थान)
२३-६-५६.

—: १३ :—

पारस-मणि

इस विराट संसार में मनुष्य एक सीमित केन्द्र पर खड़ा है। उसके सामने भू-मण्डल पर, समुद्र में, आकाश में जिधर भी नजर डालते हैं, सर्वत्र एक विराट प्राणि-संसार बसा हुआ दिखाई देता है। सब प्राणियों में एक समान चैतन्य-तत्त्व व्याप्त है। यदि मनुष्य पंच-भूतों से निर्मित भौतिक शरीर धारण किये हुए है, तो दूसरे प्राणियों ने भी पंच-भौतिक शरीर धारण कर रखा है। फिर भी आचार्यों ने तथा धर्म-शास्त्रों ने मनुष्य को विशिष्टता प्रदान की है, और उसी की महानता का वर्णन किया है। बुद्धिवाद का सजीव प्रतिनिधि होने के नाते मनुष्य को दुनिया का सर्व-श्रेष्ठ प्राणी माना गया है।

अस्तु, इसी पर हम विचार करेंगे कि यह वर्णन किस दृष्टि से किया गया है? मनुष्य को इतनी विशिष्टता क्यों प्रदान की गई है, और उसकी महिमा क्यों गाई गई है? जब तक मानव-जीवन की गहराई में उतरकर इस प्रश्न पर विचार-विमर्श नहीं करेंगे, तब तक सही तथ्य को प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

कदाचित् आप यह भी सोचते होंगे कि केवल शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से ही मानव को विशिष्टता प्रदान की गई है और तदनुसार

उसकी महिमा का गुण-गान किया गया है। तो, हमें सूक्ष्म-दृष्टि से देखना है कि हमारे शरीर के अन्दर क्या है? शरीर के ऊपरी आवरण को हटाकर भीतरी भाग में देखें कि—वहाँ क्या हो रहा है? आप देखेंगे कि कहीं रक्त का संचार हो रहा है, कहीं मांस इकट्ठा है, कहीं चर्बी भरी है, कहीं मल-मूत्र की दुर्गन्धित-धारा बह रही है; इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर घृणित पदार्थों का भण्डार है। यदि इस सुन्दर, सुडौल और आकर्षक दीखने वाले शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग की चमड़ी कट कर अलग हो जाय और अन्दर से मांस का लोथ वाहर उभर आए, रक्त की धारा वह निकले, तो यह सुन्दर-सलौना, मनोमोहक शरीर भयावना-सा प्रतीत होने लगता है। जिस दिव्य-भव्य देह को देखते हुए नेत्र थकते नहीं थे, मन की प्यास बुझती नहीं थी, हृदय की लालसा तृप्त नहीं होती थी, वास्तविकता का ज्ञान होने पर अब उस ओर नेत्र उठते नहीं, दृष्टि-पात करते हुए भी भय लगता है और घृणा होती है। अतः शरीर-सम्पदा या रूप-लावण्य से मनुष्य को विशिष्टता एवं महत्ता नहीं मिली है, और न इसके कारण उसकी महिमा गाई गई है।

यदि यह भी कहा जाए कि विपुल धन-सम्पत्ति तथा वाहरी वैभव के कारण ही मनुष्य का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है, तो यह भी एक गलत समझ है। स्वर्ग के अपार वैभव की तुलना में मनुष्य का वैभव एक कौड़ी का भी मूल्य नहीं रखता। एक चक्रवर्ती सम्राट् के सामने यदि फटे-पुराने चिथड़े लपेटे कोई भिखमंगा आकर खड़ा हो जाए, तो चक्रवर्ती के विराट-वैभव के सामने उस भिखमंगे के चिथड़ों का क्या मूल्य होगा? कुछ नहीं! वस, यही स्थिति मानव के वैभव एवं ऐश्वर्य की है, जिस पर आज का इन्सान इतरा रहा है, अकड़ रहा है। परन्तु वह नहीं जानता कि—साधारण से देव के ऐश्वर्य के सामने उसका वैभव भिखमंगे के चिथड़े-सा प्रतीत होता है।

अस्तु, शारीरिक सौन्दर्य एवं धन-सम्पत्ति के कारण मनुष्य का कोई महत्त्व नहीं है। तो फिर उसके पास ऐसी कौन-सी विशिष्ट शक्ति

है, कौन-सा अनुपम ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य है; जिससे प्रभावित होकर स्वयं भगवान्-महावीर ने मानव का गुण-गान किया? और उसके जीवन को देवों से भी श्रेष्ठ बताया? आप शास्त्रों में पढ़ते हैं और सुनते हैं, कि भगवान् के पास जब दर्शन करने या प्रवचन सुनने कोई बालक भी आता, तो वे उसे मधुर भाषा में कहते—"देवानुप्रिय; हे देवताओं के प्रिय! जब कोई वृद्ध आता, तो उसे भी उसी सम्बोधन से सम्बोधित करते—"हे देवानुप्रिय!" और कोई पुरुष आता अथवा महिला आती, तो उसे भी—"देवानुप्रिय" कहकर बुलाते। जब कोई सम्राट् आता या कोई दरिद्र आता, तो उसे भी 'देवानुप्रिय' कहकर सम्बोधित करते। यहाँ तक कि- शूद्र एवं महा-शूद्र भी आता तो उसे भी यही कहते कि—"तेरा जीवन वह जीवन है, जो देवों को भी प्रिय है।"

इस प्रकार उस महा-मानव ने मानव-समाज के प्रत्येक वर्ग; अर्थात्-बालक, युवा, वृद्ध, महिला तथा चक्रवर्त्ती सम्राट् से लेकर दर-दर भीख माँगने वाले दरिद्र को, और प्रत्येक वर्ण; अर्थात्—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र; सभी को जीवन की विशिष्टता के सम्बन्ध में एक ही सम्बोधन दिया—"देवानुप्रिय;" अर्थात्—तेरा जीवन देवों को भी प्रिय हो। महा-मानव महावीर के इस समतावादी दृष्टिकोण पर आप शायद आश्चर्य प्रकट करेंगे कि भगवान् ने उन शूद्र जिन्दगियों में ऐसी क्या विशेषता देखी, जो चक्रवर्त्ती सम्राटों की तुलना में साधारण मनुष्यों के जीवन को भी देवताओं का प्रिय बताया?

सिद्धान्त की बात यह है कि जन-साधारण की दृष्टि आमतौर से मनुष्य के दैहिक बल-वैभव और रूप-सौन्दर्य पर ही अटक जाती है, और सीमित होने के कारण आगे नहीं बढ़ पाती है। परन्तु प्रबुद्ध एवं विशिष्ट-ज्ञानियों की तीव्र एवं सूक्ष्म दृष्टि धन-वैभव और बाहरी रूप-सौष्ठव की भौतिक सीमा को लाँघकर उस अभीष्ट सूक्ष्म-बिन्दु तक पहुँच जाती है, जहाँ आत्म-तत्त्व का अनन्त-अनन्त

सौन्दर्य चमक रहा है, दिव्य-प्रकाश जगमगा रहा है, अलौकिक तेज प्रस्फुटित हो रहा है।

वस्तुतः महापुरुष बाहरी रूप और भौतिक शक्ति को नहीं देखते, वे तो आत्मा के अनन्त एवं सूक्ष्म-रूप तथा आध्यात्मिक शक्ति की ओर ही झाँकते हैं और उसी विराट शक्ति को जागृत करने के लिए वे मनुष्य को उसके वास्तविक रूप का भान कराते हैं।

महाभारत में एक वर्णन आता है कि एक बहुत गरीब व्यक्ति था। रात-दिन भीख माँगता फिरता, फिर भी दो रोटियाँ मुश्किल से प्राप्त करता था। इस तरह का दुःखमय जीवन गुजारते हुए, एक दिन उसे एक साधक के दर्शनों का लाभ मिला और उसने उस साधक को अपने दुःखी जीवन की करुण-कथा सुनाई और कुछ वरदान देने के लिए प्रार्थना की। साधक ने सांत्वना के भाव से कहा—"मैं वरदान तो नहीं दे सकता, परन्तु तुम्हें एक साधना बता देता हूँ, जिसे साधने से इन्द्र तेरी सेवा में उपस्थित हो जाएगा और फिर तू उससे मन-वांछित वरदान पा सकेगा।" वह साधक उसे साधना-मन्त्र तथा साधन-विधि बताकर आगे बढ़ गया।

तदनुसार हिमालय की गुफाओं में साधना शुरू हुई और निरन्तर बारह वर्ष तक चलती रही। बारह वर्ष में वह कठिन साधना पूरी हो गई और अमरावती के विलास-वैभव को छोड़कर देवाधिपति इन्द्र हिमालय की कन्दराओं में समाविस्थ उस साधक की सेवा में उपस्थित हो गया। इन्द्र ने भिक्षुक से कहा कि—"तुमने मुझे क्यों याद किया? बताओ, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ?"

भिखारी ने कहा—"मैं बहुत दरिद्र हूँ, भूखा-नंगा रहता हूँ। एक साधक की बताई हुई साधना-शक्ति से आज आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर सका हूँ। अब आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि आप मेरी रोटी की समस्या को हल कर दें!"

इन्द्र ने कहा—"तेरे मस्तिष्क में कुछ विचार करने की, सोचने-

समझने की शक्ति भी है, या केवल हड्डियाँ ही हड्डियाँ भरी हैं ? मालूम होता है, तेरे दिमाग में ज्ञान, बुद्धि और विवेक का दीपक नहीं जगा, दिव्य प्रकाश की किरणें नहीं चमकीं।"

सुरपति बोले—"अरे, भोले पंछी ! तू बारह वर्ष की कठोर साधना साधकर जब देवेन्द्र को अपने चरणों में बुला सकता है, तो क्या अपनी जिन्दगी को चलाने के लिए दो रोटी का प्रबन्ध नहीं कर सकता ? जब तू साधना के बल पर इतना बड़ा एवं अटूट विश्वास प्राप्त कर सका कि—साधना के द्वारा देवेन्द्र को बुला लूँगा, तो फिर जीवन के छोटे-मोटे प्रश्नों को सुलझाने के लिए विश्वास प्राप्त नहीं कर सका, जिसके लिए तुझे इन्द्र से भीख माँगनी पड़ी ? यह तो ऐसा हुआ कि हिमालय के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर तो तू बिना कहीं रुके चढ़ गया, किन्तु गाँव के बाहर खड़े रेती के छोटे-से टीले पर नहीं चढ़ सका !"

इस प्रकार देवेन्द्र ने उस दरिद्र का जो मजाक और उपहास किया, वह केवल उस तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इन्द्र ने उस दरिद्र को लक्ष्य करके आज के मानव-जगत का, सारी मनुष्य-जाति का उपहास किया है। एक ओर तो मनुष्य आज साधना, तपश्चर्या तथा भगवत्-स्मरण के बल पर इन्द्र को बुलाने के लिए, ईश्वर का दर्शन पाने के लिए साहसपूर्ण दौड़ लगा रहा है। परन्तु दूसरी ओर वह अभाव और अज्ञान के अन्धेरे में इतना भटक गया है कि अपनी साधारण जिन्दगी को आनन्दमय बनाने की व्यवस्था भी नहीं कर सकता। अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह आये दिन देवों के सामने, इन्द्र के सामने हाथ पसारता है, भूत-प्रेतों के दरवाजे खटखटाता है, पीर-पैगम्बरों की समाधि पर सिर रगड़ता है।

वास्तव में, मनुष्य के पास विराट शक्ति है ! वह अपनी साधना के द्वारा देवेन्द्र को भी अपने चरणों में झुका सकता है और अपने आपको स्वर्ग से भी ऊपर उठा सकता है।

हाँ तो, भगवान् महावीर जब कभी उपदेश देते थे, तब हर एक साधक के अन्तर-जीवन में यही दिव्य-ज्योति जगाते कि—"तू अनन्त शक्ति का अनुपम पुंज है, मनुष्योचित आकांक्षाओं का आगार है, और मानवीय साधना का स्वामी है।" उनके पास जब कोई स्वर्ग-अपवर्ग की आकांक्षा लेकर आता, तो वे कहते—"मैं स्वर्ग और मोक्ष बाँटने नहीं आया हूँ। स्वर्ग या अपवर्ग कोई लेने-देने की बाजारू चीज नहीं है, और न किसी को कुछ देने-लेने का मेरा काम ही है। मेरा मुख्य कार्य तो केवल इतना ही है कि—साधक के जीवन में अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन का दिव्य प्रकाश, अनन्त शक्ति का अनुपम स्रोत तथा अनन्त बल-वीर्य का जो अद्वितीय खजाना अभाव एवं अज्ञान की अन्धेरी चट्टान के नीचे दबा पड़ा है, उसके अलौकिक रहस्य का उद्घाटन कर देना। परन्तु उस अन्तर्निहित शक्ति को प्रकाश में लाने का काम स्वयं आत्मा का है। मनुष्य के हाथ में विराट शक्ति है। वह उस शक्ति के सदुपयोग से अपना उत्थान भी कर सकता है और दुरुपयोग से पतन के गर्त में भी गिर सकता है।"

भगवान् महावीर ने कहा—मानव ! आज तू जो दुःख, विपत्ति या कष्ट की स्थिति में जिन्दगी गुजार रहा है, कर्मों के बन्धन में आबद्ध है, तो ये दुःख, विपत्ति, कष्ट और बन्धन तेरे ही अन्दर से उद्भूत हुए हैं ! तू ही इनका एकमात्र स्रष्टा और निर्माता है! किसी बाहरी ताकत ने तुझे नहीं बाँध रखा है। जैसे मकड़ी स्वयं जाला बुनती है और अपने द्वारा निर्मित जाल में स्वयं फँसकर छटपटाती हुई जिन्दगी को समाप्त कर देती है, ठीक उसी तरह तू ने ही अपने दुःखों, विपत्तियों, कष्टों तथा बन्धनों का जाल गूँथा है और उस जाल में आबद्ध हुआ छटपटा रहा है और उन बन्धनों से मुक्त होने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। परन्तु कोई भी बाहरी ताकत और बाहरी उपाय इन बन्धनों से तुझे उन्मुक्त नहीं कर सकता। यदि किसी बाहरी ताकत में तुझे उन्मुक्त करने की सामर्थ्य होती, तो वह कभी भी प्रार्थना के विवशतापूर्ण

अवसर की प्रतीक्षा नहीं देती। यदि वह दयालु ताकत संसार का कल्याण एवं उद्धार करने वाली होती, इस नारकीय संसार पर स्वर्गिक-सौन्दर्य उतारने वाली होती, या नरक को स्वर्ग के रूप में परिवर्तित करने वाली होती, तो यह संसार कभी का सुधर गया होता। परन्तु यह संसार तो अनन्त-अनन्त काल से इसी रूप में और इसी गति से चला आ रहा है। इसे बदलने की शक्ति किसी बाहरी ताकत में नहीं है। हाँ, मनुष्य यदि चाहे तो स्वयं ही अपने आपको बदल सकता है और उन्नति के अभीष्ट शिखर पर पहुँच सकता है।

भगवान् महावीर ने तो आत्मा की अनन्त शक्ति को ही महत्त्व दिया है और साथ ही यह भी बताया है कि मानव, स्वयं कर्म-पाश में आबद्ध होता है और अपने ही पुरुषार्थ से उन कर्म-बन्धनों से मुक्त होता है। यह सर्वथा निराधार और नितान्त असत्य है कि प्रार्थना से प्रसन्न होकर कोई सर्व-शक्तिमान् ईश्वर हमारे बन्धन तोड़ देगा। परन्तु कुछ लोगों ने निर्मूल धारणाएँ बनाली हैं। प्रार्थना, स्तोत्र आदि में परमात्मा से इस प्रकार की प्रार्थना की जाती है कि—"प्रभो, मैंने जो गलतियाँ और भूलें की हैं, आप उन्हें क्षमा कर दें।" मनुष्य के अन्तर्मन में आज यही भावना चक्कर काट रही है कि—"तू जो दुष्कर्म करेगा, प्रार्थना करने पर परम-पिता परमात्मा, उसे क्षमा कर देगा।" अपनी मनगढ़न्त धारणा के आधार पर मनुष्य ने एक बात सीख ली; कि—"गलतियाँ, भूलें, अपराध या दुष्कर्म करके ईश्वर से क्षमा माँग लो, वह हमें कर्म-बन्धन से मुक्त कर देगा।"

इस प्रकार मनुष्य दुष्कर्म से तो बचना चाहता नहीं, किन्तु उसके दुष्परिणाम से बचना चाहता है और उसके लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है, परन्तु यह तरीका गलत है। यदि आप पाप के बुरे फल से बचना चाहते हैं तो आपको पाप के दुष्परिणाम से नहीं, बल्कि पाप-कर्म से बचना चाहिए। यदि आप पाप-कर्म नहीं करेंगे, दुष्कर्म में प्रवृत्ति नहीं करेंगे—तो उसके दुष्फल का द्वार तो स्वतः बन्द हो जाएगा।

भगवान् महावीर ने जन-जन को यही आदर्श संदेश सुनाया कि—"यदि तू पाप के बुरे परिणाम से बचना चाहता है, तो गलती मत कर, पाप-कर्म मत कर। यदि पाप की ओर प्रेरित होगा या दुष्कर्म करेगा तो उसके दुष्फल से कदापि नहीं बच सकता।" यह तो वैसी ही बात हुई कि कोई व्यक्ति जलती हुई आग में हाथ डाले और फिर परमात्मा से प्रार्थना करे कि—प्रभू! मेरा हाथ जले नहीं, तो यह कभी नहीं हो सकता। जाज्वल्यमान अग्नि में हाथ डालने पर वह निश्चय ही जलेगा। एक-दो नहीं, हजार-लाख परमात्मा भी उसकी जलन को मिटा नहीं सकते। इसी-लिए भगवान् महावीर का कर्म-सिद्धान्त मनुष्य को सचेत करता है कि—तू ने जो अच्छा या बुरा कर्म किया है, उसका फल मिले विना नहीं रहेगा। अतएव निष्कर्ष यही निकला कि कर्मों के जाल को बाँधने वाला और तोड़ने वाला स्वयं मनुष्य ही है। कोई भी वाहरी ताकत मनुष्य के बाँधे हुए कर्मों को नहीं तोड़ सकती, उन्हें तोड़ने के लिए कोई वाहरी सहारा भी नहीं मिल सकता। मनुष्य अपने ही पुरुषार्थ से अपने जीवन को ऊँचा उठा सकता है और अपने सफल जीवन के लक्ष्य की परिपूर्ति कर सकता है।

आत्मा को कर्म-वन्धन से मुक्त बनाने के लिए जैन-शास्त्रों में वारह भावनाओं का वर्णन आता है। उनमें एक एकत्व भावना है। परन्तु मनुष्य एकत्व भावना के गूढ़ अर्थ को समझ नहीं सका और संकुचित दृष्टिकोण के कारण उसके विराट रूप को देख नहीं सका। दुर्भाग्यवश कुछ लोग उस भावना को आज ऐसे संकुचित अर्थ में ले गए हैं, कि जिससे मानवता की ज्योति धुँधली पड़ गई है और मानवीय उत्तर-दायित्व का भाव समाप्त-प्राय हो रहा है। एकत्व भावना के मूल में भगवान् महावीर का उद्देश्य तो कुछ और ही था, परन्तु आज के विवेक शून्य मानव-मानस ने समझ कुछ और ही लिया है।

भगवान् ने कहा—"मनुष्य तू अकेला है, अपने वन्धन को तोड़ने

वाला स्वयं तू ही है, तुझे सहारा देने वाला कोई नहीं।" कुछ लोगों ने इसका यह अर्थ निकाला कि हम अकेले हैं। इस दुनिया में कोई किसी का नहीं है, यह जिन्दगी एकाकी है। आप भोजन करने के लिए घर गए और यदि घर पर भोजन बनने में कुछ देर हो गई, तो क्रोध में तमतमाते हुए भूखे ही घर से लौट पड़े। रास्ते में मित्र मिले और पूछने लगे कि दोस्त क्या बात है? आज उन्मने क्यों हो? तो बस उबल पड़े कि—"क्या बताएँ? दुनिया में कोई किसी का नहीं है। दिन भर जी तोड़कर मेहनत करो, फिर भी ठीक समय पर भोजन नहीं मिल पाता। माता, पत्नी, पुत्र, बहन सभी स्वार्थ के रिश्ते हैं।"

हाँ तो, दो रोटी के साधारण से प्रश्न पर एकत्व भावना को ले चले। एकत्व की भावना का ऐसा नारा लगाया कि पत्नी को धक्का देकर एक तरफ फेंक दिया; और माता-पिता को, पुत्र को, भाई को, बहन को भी एक ओर धक्का दे दिया। रोटी के मिलने में जरा-सी देर हो गई तो झट से भगवान् की वाणी जीवन के कण-कण में गूँजने लगी कि—"दुनिया में कोई किसी का नहीं है। यह परिवार, यह समाज, यह संघ, यह राष्ट्र और यह विश्व किसी का नहीं है। मनुष्य सब जगह अकेला है। कोई किसी का भला नहीं कर सकता, कोई किसी को सहारा नहीं दे सकता।"

एकत्व भावना का सिद्धान्त कब ध्यान में आता है? जब कभी किसी की सेवा का प्रसंग उपस्थित होता है। आपके द्वार पर कोई जरूरतमंद व्यक्ति आया और उसने कुछ पैसों का सवाल रखा। आपके पास धन-सम्पत्ति भी है, परन्तु वह धन तिजोरी की कैद में बंद पड़ा है, किसी आपदा-पीड़ित के काम नहीं आता है, तो वह मुर्दा धन है। इसका कारण यह कि आप का वह धन किसी के आपत्ति काल में काम नहीं आ सकता। जो व्यक्ति अथवा पदार्थ किसी के उपयोग में न आए, उसमें और मुर्दे में क्या अन्तर है? कुछ नहीं। अस्तु, जन-सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर आप एकत्व भावना का घड़ा-घड़ाया उत्तर तैयार रखते हैं

कि—"भाई। हम क्या कर सकते हैं? तू ने जैसा कर्म किया है, वैसा ही फल भोग रहा है।" हां, आपको भारत का सुविख्यात कर्म-सिद्धान्त याद तो रहा! आपको भारतीय-दर्शन के एकत्ववाद की सचाई मालूम तो रही! परन्तु कब और कहां? जबकि जरूरतमन्द व्यक्ति सामने खड़ा है!! उसकी डगमगाती नौका को जरा-सा सहारा दे दिया जाए, तो वह किनारे लग सकती है। ऐसे समय आपको याद आता है कर्म-सिद्धान्त। और इसी समय याद आता है एकत्व भावना का निर्मल स्वरूप कि—"मनुष्य अपने आप में अकेला है! कौन किसको सहारा दे सकता है!!" परन्तु जब आपका स्वयं का काम बीच में अटक गया हो और उसमें किसी भी ओर से सहयोग नहीं मिल रहा हो, तब आपका कर्म-सिद्धान्त और आपकी एकत्व भावना कहां चली जाती है? घर में विवाह-शादी है, बरतनों का प्रबन्ध करना है। किसी मिलने वाले से बरतन मांगने गए, किन्तु उत्तर मिला कि मेरे पास जो बरतन थे, वे तो मैं दूसरे को दे चुका। बताइए, क्या उस समय आप एकत्व को याद करते हैं? या वहां से बड़बड़ाते हुए लौटते हैं कि—मैं तो इसके कितनी ही बार काम आया। परन्तु देखो, इससे आज ही तो काम पड़ा और आज ही इन्कार कर दिया। दुनिया धोखे की टट्टी है, कौन किसका है?

कर्मवाद का सिद्धान्त दूसरों के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए है। एकत्व की भावना भी दूसरों को स्वार्थी कहने के लिए नहीं है, अपितु स्वयं को ही जिन्दगी के सही मोर्चे पर खड़ा रखने के लिए है। जिस समय जीवन के चारों ओर घोर अन्धकार फैला हो, कष्टों की बिजलियाँ कड़क रही हों, अभावों का तूफान चल रहा हो, और कुचक्रों का चक्र गतिमान हो, उसी समय एकत्व भावना का महत्त्व है। किन्तु वह भी इसलिए नहीं कि—मैं तो मरा जा रहा हूँ और मुझे कोई सहयोग नहीं देता, सब स्वार्थी हैं। अपितु उसका महत्त्व इसलिए है कि—आपत्तियों एवं कष्टों से लड़ने की समुचित शक्ति स्वयं मेरे अन्दर मौजूद है। मुझ पर जो कष्ट आ पड़ा है, उसमें दूसरों को नहीं डालूँगा; बल्कि शान्ति एवं

सहिष्णुता से हँसते-हँसते सारी विपत्तियों को स्वयं ही सहूँगा। यह है एकत्व भावना का सही अर्थ।

वस्तुतः एकत्व-भावना वहाँ प्रकट होनी चाहिए, जहाँ मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर चारों ओर दुःख का अन्धेरा छाया हो। परन्तु जहाँ दूसरों को सहारा देने या दूसरों की सेवा करने का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ एकत्व भावना को याद करना—जैन-सिद्धान्त का सन्देश नहीं है। आज आप देखेंगे कि—परिवार संकट में है, समाज अशान्ति की तपती दुपहरी में झुलस रहा है, राष्ट्र की नौका आन्तरिक और बाह्य राजनीतिक संघर्ष के अँधड़ में डगमगा रही है और विश्व आधुनिक विज्ञान की प्रेरणा से युद्ध की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसा क्यों है? इसका कारण स्पष्ट ही है कि—हमें जहाँ सिद्धान्त का उपयोग करना आवश्यक है, वहाँ उसका उपयुक्त प्रयोग नहीं करते हैं। और जहाँ नहीं करना चाहिए, वहाँ उसका अनुपयुक्त प्रयोग कर रहे हैं।

भारतवर्ष की जनता को भारतीय दर्शनों के गम्भीर विचार तो अभी भी याद हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के, कर्मयोगी कृष्ण के, महा-श्रमण महावीर के, तथा तथागत-बुद्ध के उपदेश तो स्मृति-पट पर अभी भी अंकित हैं, अभी भी जन-जन की स्मृति में है। परन्तु उनका उपयोग जहाँ करना चाहिए, वहाँ नहीं किया जा रहा है। कर्म-सिद्धान्त का नारा तो बुलन्द किया जाता है, परन्तु हल्की-सी बीमारी के आते ही, भागते हैं भूत-प्रेतों के दरवाजे पर। जरा-सी भी कुछ गड़बड़ हुई कि—झटपट ज्योतिषी को ग्रह दिखाने जा पहुँचते हैं, स्याने-दीवानों से झाड़-फूँक करवाते हैं। क्या यह आचरण मर्यादा पुरुषोत्तम राम की आचार संहिता के अनुकूल है? क्या कर्मयोगी कृष्ण के कर्म-काव्य से इसका अंश-मात्र सम्बन्ध है? क्या सन्मति और सिद्धार्थ की साधना किसी भी रूप में इसका समर्थन करती दिखलाई देती है?

यह सब क्या तमाशा है? इसके निष्कर्ष में मैं यह कहना ही पर्याप्त समझता हूँ कि इस अशोभनीय आचरण का एक-

मात्र सम्बन्ध मनुष्य की अपनी ही मानसिक संकीर्णता, हीनत्व-भावना और संकुचित दृष्टिकोण से है। और जब तक समाज इस त्रिदोष से मुक्त न होगा, तब तक अभीष्ट शान्ति के दर्शन दुर्लभ हैं।"

मैं व्यावर चातुर्मास करने जा रहा था। अजमेरी दरवाजे से प्रवेश करना था। दरवाजे के बाहर रास्ते में एक ज्योतिषी जी मिले। उन्होंने कहा कि आप इस दरवाजे से प्रवेश न करें। मैंने पूछा क्यों? ज्योतिषी जी ने कहा—इस दरवाजे से प्रवेश करेंगे तो दिशा-शूल सामने रहेगा और वह आपकी सुख-शान्ति के लिए घातक है। अतः सबसे अच्छा तो यह है कि आप आज न पधारें। यदि आज ही पधारना है तो फिर शहर के बाहर-बाहर घूमकर दूसरे दरवाजे से प्रवेश करें। मैंने कहा—ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हारे दिशा-शूल निवारण के लिए मैं सारे शहर की परिक्रमा लगाता फिरूँ और दिशा-शूल के अन्ध-विश्वास में सर्व साधारण जनता को उलझाने का निमित्त बनूँ; ऐसा मैं कदापि नहीं कर सकता।

अस्तु, जब हमें कर्म-सिद्धान्त पर इतना अटल विश्वास है कि—हमारे सुख-दुःख को कोई बाहरी ताकत नहीं बदल सकती, तब फिर दिशा-शूल के वहम में क्यों पड़ें?

परन्तु आज के मानव का दिमाग कुछ ऐसा बन गया है कि धर्म-ग्रन्थों के स्तोत्र पढ़कर तथा सन्तों के मुख से मांगलिक वचन सुनकर जैसे ही बाहर निकले और यदि बीच में बिल्ली राह काट कर निकल गई तो बस, वहीं जीवन की गति अवरुद्ध हो गई। एक बिल्ली ने बीच में आकर स्तोत्र-पाठ, और मांगलिक आदि की सब शक्तियों को खत्म कर दिया। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि—आपकी आत्म-शक्ति, आपका पुरुषार्थ, आपका धर्म, आपका तप-त्याग बड़ा है, या उस क्षुद्र जीव बिल्ली की ताकत बड़ी है? इसी प्रकार यदि आप चलने को तैयार हुए और किसी के नाक में गुद्-गुदी चली, फलतः उसे छींक आगई कि आपके सारे तन-मन में खल-बली मच जाती है! छींक क्या, एक तरह

का भूकम्प-सा आ गया? भला, जरा-सी छींक ने आपके बने बनाए काम को गुड़-गोबर कर दिया? यदि आप घर से निकले और रास्ते में तेली या सुनार मिल गया, तो भगदड़ मच गई। यदि कोई बिना तिलक लगाए ब्राह्मण मिल गया, तो भी भाग खड़े हुए। यदि कोई सती-साध्वी विधवा-बहन सामने आगई, तो उसे कोसने लगे, अपने कार्य के बिगड़ने का सारा दोष उसी के मत्थे मढ़ने लगे। यदि कोई गधा इधर-उधर भटकता हुआ दाएँ-बाएँ निकल गया, तो बस, उसी पर बरस पड़े। आप ही कहिए, यह सब क्या है? क्या मानवीय भाग्य के सारे क्रिया-कलाप, सारे विधि-विधान इन्हीं के हाथ में हैं? क्या जीवन की सारी समस्याओं का हल बिल्लियों, कुत्तों और गधों के हाथ में है, या आकाश के ग्रह-नक्षत्रों की गति के अन्तर्गत है?

आज का मनुष्य भ्रान्तियों और अन्ध-विश्वासों के जाल में इतना उलझ गया है कि वह जीवन के वास्तविक सत्य को देख ही नहीं पाता। एक परिवार में किसी भाई के यहाँ लड़का हुआ, तो सारे घर में हर्ष, उल्लास और आनन्द छा गया। बाजे बजने लगे, वायु-मण्डल में गीतों के स्वर गूँजने लगे और घर-घर से बधाइयाँ आने लगीं। परन्तु, ज्यों ही ज्योतिषी जी को ग्रह दिखाने पहुँचा कि—चेहरे का रंग उड़ गया। ज्योतिषी ने बताया कि—"और तो सब ठीक है, परन्तु बालक की जीवन-रेखा पर मृत्यु-योग पड़ा है। यदि वह सोलह वर्ष से आगे निकल गया, तब तो ठीक है, अन्यथा उसका जीवित रहना कठिन है।" यह वाक्य सुनना था कि सारे घर में सन्नाटा छा गया, सब के हृदय शोक-संताप से जल उठे।

एक दिन दर्शन करने आए तो मैंने पूछा—क्या बात है? उदासी क्यों है? उक्त भाई ने अवरुद्ध कंठ से सारी व्यथा कह सुनाई। मैंने कहा—कौन कह सकता है कि भविष्य में क्या होगा और क्या नहीं? यह तो आयुष्कर्म का खेल है। जितना आयुष्य होगा; वही काम आएगा। परन्तु क्या तुम सोलह वर्ष तक इसी प्रकार रोते-रोते बालक का

पालन-पोषण करते रहोगे? यदि समय पर पढ़ाओगे, क्या तब भी रोते-कल्पते ही पढ़ाओगे? और जब कभी उसके विषय में कुछ सोचोगे, तो क्या एकमात्र मौत को सामने रखकर ही सोचोगे? नहीं। ऐसा कभी नहीं होना चाहिए। तुम्हें तो हर्ष और उल्लास के साथ अपने नैतिक कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए। जो होना है, वह तो होगा ही। व्यर्थ ही आँसू बहाने से क्या मिलने वाला है? क्या आप जैन-धर्म के कर्मवाद पर विश्वास नहीं करते?

हाँ तो, मैं बता रहा था कि ज्योतिष और शकुन-आदि मनुष्य के जीवन में आनन्द पैदा नहीं करते, अपितु कभी-कभी मनुष्य इनसे और अधिक गड़बड़ा जाता है और वह व्यर्थ की चिन्ताओं के बोझ से दब जाता है। इसीलिए जैन-धर्म ने कहा है—"मनुष्य, तू आकाश के दूरस्थ सितारों पर जो भरोसा रख रहा है, वह गलत है। आकाश के सितारे तेरा न तो कुछ बना सकते हैं, और न कुछ बिगाड़ ही सकते हैं। अतः तू ग्रह-नक्षत्र और भूत-पिशाच आदि की अपेक्षा अपने जीवन और अपनी आत्म-शक्ति पर अधिक भरोसा रख। तू अपने जीवन का स्वनिर्मित सम्राट् है। तेरा ईश्वर तू स्वयं है। क्या तेरा मस्तक भूत-प्रेतों के सामने झुकाने के लिए है? क्या तेरा कदम कुत्ते बिल्लियों से डर कर कर्म-मार्ग से वापस लौट जाने के लिए है? नहीं, यह सब ठीक नहीं है।"

"वास्तव में तेरे अन्दर तो इतनी ताकत है कि तू देवी, देवताओं को ही नहीं, देवेन्द्र को भी अपने चरणों में झुका सकता है। बस, आवश्यकता है—अपने को समझने की, और अपनी ताकत को परखने की।"

भगवान् महावीर के जीवन की एक घटना है, जो बड़ी ही विलक्षण है। यदि आप उस पर कुछ भी ध्यान देंगे, तो मालूम होगा कि जीवन का सही सिद्धान्त क्या है? भगवान् राज्य-वैभव को ठुकरा कर तप कर रहे हैं, जंगल में ध्यानस्थ खड़े हैं। उनके पास बैलों को चरते

छोड़कर ग्वाला गाँव में चला जाता है, किन्तु वापस आकर देखता है तो बैल नहीं मिलते हैं। नादान गवाला क्रुद्ध हो जाता है। भगवान् को चोर समझता है, फलतः उनके शरीर पर रस्से से प्रहार करने लगता है। इतने में ही इन्द्र, इन्द्रपुरी को छोड़कर भगवान् की सेवा में उपस्थित होता है, गवाला चला जाता है। किन्तु देवेन्द्र विनम्र भाव से भगवान् के श्रीचरणों में रहने की प्रार्थना करता है और कहता है कि—"भगवन्! आप पर भयंकर उपसर्ग आने वाले हैं, अतः मैं आपकी सेवा में रहूँगा, यथावसर उपसर्गों को दूर करने का प्रयत्न करूँगा।"

भगवान् ने उक्त प्रसंग पर एक सूत्र कहा है। वह सूत्र इतना महत्त्व-पूर्ण है कि इन २५०० वर्षों में ऐसा दिव्य सूत्र दूसरा कोई नहीं प्राप्त हुआ। भगवान् ने कहा—"देवेन्द्र! कोई भी साधक—देवता, इन्द्र, अथवा चक्रवर्ती आदि की ताकत से मोक्ष नहीं पा सकता, अपने कर्म-बन्धन को नहीं तोड़ सकता, अपनी ईश्वरीय शक्ति को प्रकट नहीं कर सकता! ऐसा न तो कभी अतीत में हुआ है, न भविष्य में भी होने वाला है, और न वर्तमान में ही हो सकता है। जितने भी साधक हैं, वे सब अपने ही बल और पुरुषार्थ से कर्म-बन्धन को तोड़ते हैं। कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए साधक को अकेले ही संघर्ष करना होता है। अपने कृत-कर्मों से युद्ध करने में किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है।" यह है—एकत्व भावना का ज्वलन्त उदाहरण और प्राणवान् सन्देश!!

एकत्व भावना का सिद्धान्त मनुष्य को निरन्तर अन्तरात्मा की ओर प्रेरित करता है। वह बताता है कि—"अरे, मानव! कर्म-बन्धनों को तोड़ने की शक्ति तो तेरे ही पास है। परन्तु अपनी अज्ञानता के कारण तू उसका गलत उपयोग कर रहा है।" उक्त भाव को समझाने के लिए एक आचार्य ने रूपक प्रस्तुत किया है—

एक दरिद्र टूटी-फूटी झोंपड़ी में रह रहा था। दो-चार-दिन भूखे रहने

के बाद एक दिन, दो दिन की बासी रोटी मिली, किन्तु दाल-साग कुछ नहीं था। अस्तु, एक पत्थर पर नमक-मिर्च पीसने लगा। इतने में एक विद्वान योगी द्वार पर आया, जोर से अलख जगाई। दरिद्र झोंपड़ी से बाहर आया और भीगी आंखों से कहने लगा—आप देख नहीं रहे, मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैं तो ऐसा भाग्यहीन हूँ कि स्वयं ही दो दिन के रूखे-सूखे बासी टुकड़े खा रहा हूँ। बताइए, ऐसी विषम स्थिति में आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?

योगी की पैनी दृष्टि उस पत्थर पर पड़ी, जिससे वह नमक-मिर्च पीस रहा था। देखते ही योगी ने कहा—अरे; तू अपने आपको दरिद्र कह रहा है! तेरे पास तो अतुल धन-वैभव है, तेरे पास तो इतनी सम्पत्ति है कि जिसकी बराबरी बड़े-बड़े धन-कुबेर भी नहीं कर सकते !!

दरिद्र ने कहा—इन शब्दों में आप मेरा उपहास कर रहे हैं! आप मुझे धन-कुबेर कहते हैं! आपकी बात मेरी समझ में नहीं आती !!

योगी ने वह पत्थर मँगाया और उसे अच्छी तरह से देखा, और फिर कहा कि तू नहीं जानता कि यह क्या है? भले आदमी, यह साधारण पत्थर नहीं है, यह तो पारस-मणि है। इस पत्थर का स्पर्श होते ही लोहा—सोना बन जाता है। अपने कथन की यथार्थता के लिए योगी ने दरिद्र के चिमटे को पारस से छूआ, तो चिमटा सोना बन गया। "अपने ही पत्थर का यह चमत्कार!" यह कहते हुए भिखारी योगी के चरणों में गिर पड़ा।

हाँ तो, आचार्य कह रहे हैं कि यह तो एक रूपक है। इसमें जो सन्देश अन्तर्निहित है, वह यह है कि—"संसार में जितने भी मानव हैं, चाहे वे किसी भी जाति, समाज, पंथ अथवा राष्ट्र के हों, सब अपने आप में पारस-मणि हैं। वे जीवन की प्रत्येक साँस को और प्रत्येक गति-विधि को अपने सत् पुरुषार्थ से सोना बना सकते हैं, अपार ऐश्वर्य प्राप्त कर सकते हैं।"

परन्तु खेद है कि आज का अभाव-ग्रस्त मानव कषायों की चटनी पीसने में ही उस पुरुषार्थ का उपयोग कर रहा है। जब कभी पति-पत्नी आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, तो क्या करते हैं? जीवन की पारस-मणि से क्रोध और अभिमान की चटनी पीसते हैं। इसी तरह एक ही माता के दो पुत्र थोड़े-से लोभ-लालच में आकर लड़ पड़ते हैं। लाख-दो लाख की विपुल-सम्पत्ति के लिए नहीं, बल्कि दो-चार बर्तनों के बँटवारे के लिए झगड़ने लगते हैं। और कभी-कभी तो इतनी बुरी तरह झगड़ते हैं कि सारी बिरादरी में हो-हल्ला मचा देते हैं, हाईकोर्ट तक जा पहुँचते हैं।

वस्तुतः कितने खेद की बात है कि आज का मानव पारस-मणि से घृणा और द्वेष की चटनी पीस रहा है। कुछ लोग क्रोध, मान, माया और लोभ की चटनी पीस रहे हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो संसार के तुच्छ भोगों की चटनी पीस रहे हैं। किन्तु दुर्भाग्य से उनका अपना पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन लोहा बना हुआ है, उसे स्वर्ण नहीं बना पाते।

यदि मानव अपने जीवन के मूल्य को पहचान कर उसका ठीक तरह से उपयोग करे, तो वह अपनी पत्नी के जीवन को सोना बना सकता है। अवारा बन रहे लड़के की जिन्दगी को भी सोना बना सकता है। इसी प्रकार यदि समाज और राष्ट्र में भी स्नेह, अनुराग, उत्साह, माधुर्य की पारस-मणि का उपयोग करें, तो उन सभी को सोना बनाया जा सकता है। इस पारस-मणि का प्रयोग परिवार, समाज और राष्ट्र तक ही मर्यादित नहीं है, अपितु इसके द्वारा आत्म-चमत्कार भी हो सकता है। आप अपनी आत्मा को, जो अनन्त-अनन्त काल से नरक के अन्धेरे गर्त में और पशु-योनि में सड़ती चली आ रही है, उसे भी सत्-संयम और सत् साधना से सोना बना सकते हैं। परन्तु अपार खेद है कि आप कभी यह विचार नहीं कर पाते कि—"हमारा जीवन साधारण पत्थर नहीं, बल्कि विशिष्ट एवं मूल्यवान् पारस-मणि है। हम कीड़े-

मकोड़े की तरह रेंगते हुए जिन्दगी गुजारने के लिए नहीं, बल्कि इन्सान की तरह शानदार जीवन व्यतीत करने के लिए आए हैं।

वास्तव में हमारा जीवन महत्त्व-पूर्ण है। हम अपने दुःख-दैन्य को निवारण करने आए हैं। हम परिवार और समाज में, संघ और पंथ में, देश और विश्व में फैले हुए दुःख-दैन्य को, घृणा-द्वेष को, वैमनस्य को निवारण करने आए हैं। हम अपने जीवन को ऊपर उठाने आए हैं, अपने कर्म-बन्धन को तोड़ने आए हैं। हम स्वयं तैरने तथा संसार के अन्य मनुष्यों को तैराने आए हैं। मृत्यु-लोक को स्वर्ग बनाने आए हैं। मानव-मानव के जीवन में प्रेम, स्नेह, सहयोग, वात्सल्य और सत्कर्म की दिव्य-ज्योति जगाने आए हैं।

हाँ तो, मनुष्य के जीवन में यदि इस तरह की भावना जाग उठे, और तदनुसार वह अपनी इस विराट भावना को यथा-शक्ति क्रियात्मक रूप दे सके, तो निस्सन्देह एक दिन ऐसा आएगा कि—परिवार, समाज, राष्ट्र और समूचा संसार—अभाव और अज्ञान के लौह आवरण से मुक्त होगा, और स्वर्ण बनकर चमक उठेगा।

दिनांक
७-१०-५६ कुचेरा (राजस्थान)

—: १४ :—

जीवित और मृत

मनुष्य का जीवन दो भागों में विभक्त है—एक शरीर, और दूसरा आत्मा। शरीर जब तक सशक्त है, प्राणवान् है, तब तक वह गति करता है, हरकत करता है, क्रिया करता है। उसे जीवित रखने के लिए प्राण-वायु आवश्यक है। हम निरन्तर प्राणवायु लेते हैं और छोड़ते हैं। हमारी एक-एक साँस पर यह शरीर टिका हुआ है। प्राणवायु का आवागमन बन्द हो जाए, साँस की गति अवरुद्ध हो जाए, तो शरीर निष्प्राण हो जाता है। प्राणवायु के अभाव में वह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। सम्भव है कुछ लोग प्राणायाम के द्वारा कुछ काल तक शरीर को बाहरी प्राणवायु के बिना भी जीवित रख सकते हैं। योगाभ्यास के साधक कुछ घंटों से लेकर छह महीने तक बाहरी प्राणवायु लिए बिना जीवित रह सकते हैं। उस योग-साधना के काल में वह साधक साधना के पहले ग्रहण की हुई प्राणवायु से काम चलाता है। निष्कर्ष यह निकला, कि प्राणवायु के अभाव में शरीर स्थिर नहीं रह सकता। कभी-कभी विशिष्ट योग-साधना के बल से बाहरी प्राणवायु ग्रहण किए बिना भी अधिक से अधिक छह महीने तक अन्दर में संग्रहीत प्राणवायु से शरीर को टिकाए रख

सकते हैं। परन्तु आत्मा को सतेज, प्राणवान् एवं चेतनाशील रखने के लिए धर्म की प्राणवायु का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। धर्म के अभाव में आत्मा एक समय भी जीवित नहीं रह सकता है।

धर्म-हीन जीवन, मृत-जीवन कहा जाता है। मनुष्य दो प्रकार से मृत बनता है—शरीर से, और आत्मा से। जैन-धर्म की भाषा में उसे द्रव्य-मृत और भाव-मृत कहते हैं। द्रव्य-मुर्दा क्या है ? शरीर में से प्राणवायु का, चेतना का निकल जाना। लोक भाषा में इसे (शरीर का अन्त) मरना कहते हैं। जब आत्मा में से शुभ संकल्प, अच्छे विचार, शुद्ध आचार निकल जाता है, और आत्मा संसार की विषय-वासना में घूमने लगता है, तब उसे भाव-मुर्दा कहते हैं।

मुर्दा स्वयं सड़ता है, दुर्गन्ध फैलाता है, और वायुमण्डल को इतना विषाक्त बना देता है, कि उसके निकट के क्षेत्र में मनुष्य का रहना कठिन हो जाता है। इसी तरह भाव-मुर्दा भी सड़ता है। इतना सड़ता है, कि वह जिस परिवार में, जिस समाज में, जिस संघ में, और जिस देश में रहता है, वहाँ सड़े-गले विचारों की, बुरे संकल्पों की, विषय-वासना की, कलह-कदाग्रह की तीव्र दुर्गन्ध फैलाता रहता है।

द्रव्य-मुर्दा जब सड़ता है, तो उसमें कीड़े पड़ने लगते हैं, और वे कीड़े उसके शरीर को खा-खाकर ऐसा विकृत एवं विद्रूप बना देते हैं, कि उस ओर देखते ही घृणा-सी पैदा होने लगती है। इसी तरह भाव-मुर्दा में क्रोध, मान, माया, लोभ-लालच, स्वार्थ, दंभ के कीड़े पड़ते हैं। वे जर्म या कीड़े इतने भयानक एवं घातक होते हैं, कि जो भी उसके निकट बैठता है, वह उसके घातक प्रहार से मुश्किल से ही बच पाता है। निर्मल, पवित्र एवं शुद्ध हृदय-युक्त बालक भी उसके साथ रहता है, उसके पास उठता-बैठता है, तो वह भी उस संक्रामक रोग के कीटाणुओं का शिकार हुए बिना नहीं रहता। आज छोटे-छोटे बच्चों को

अपने मुख से अभद्र एवं गन्दी गाली निकालते हुए देखते हैं। वे चलते-फिरते, हँसते-खेलते हुए गालियाँ निकालते हैं। वे गालियाँ आई कहाँ से ? उस पिता के संस्कारों से, जो धर्म-मार्ग पर नहीं चलता। जिन माता-पिताओं का जीवन धर्म से संस्कारित नहीं है, वे घर में, वाहर में जहाँ देखो, तहाँ सर्वत्र गाली वकते रहते हैं। मैं देखता हूँ, कि वे मनुष्य को गाली देते हैं, उसकी तो वात ही अलग, किन्तु पशुओं को हाँकते हुए भी उन्हें अभद्र एवं गन्दी गाली देते हैं। मनुष्य कितने पतन के गर्त में गिर गया है, वह जड़ पदार्थों तक को भी गाली देता है। इस प्रकार भाव मृत की गन्दगी छूत की वीमारी की तरह सारे परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र में फैल जाती हैं और सर्वत्र हाहाकार मचा देती है।

द्रव्य-मुर्दा अग्नि में जलते ही भस्म हो जाता है। द्रव्य-मुर्दे का एक-दो घंटे में फैसला हो जाता है। परन्तु भाव-मुर्दे का जलने से भी फैसला नहीं होता। वह नरक में गया, तो वहाँ भी वह घृणा, द्वेष, क्रोध, अभिमान की आग में जला, और निरन्तर जलता रहा। एक-दो वार ही नहीं, अनन्त वार जलता रहा; फिर भी उसकी समस्या का हल नहीं हुआ। पशु योनि में गया तो वहाँ भी वह विषय-वासना एवं कषायों की ज्वाला में जलता रहा, फिर भी उसकी दुर्गन्ध और उसकी सड़ाँद मिटी नहीं, दूर नहीं हुई।

आप देखते हैं, जव दो कुत्ते आपस में लड़ते हैं, तव वे क्रोध में जल-भुनकर ऐसे वेभान हो जाते हैं, कि एक दूसरे के प्राण लेने को उतावले-से होते हैं। इसी तरह दो पशु या आकाश में उड़ने वाले दो पक्षी आपस में लड़ते हैं, तो वे भी एक-दूसरे को मारने का प्रयास करते हैं। नदी एवं समुद्र में मच्छ-कच्छ आपस में लड़ते रहते हैं। एक-दूसरे को खाने की चेष्टा में लगे रहते हैं। छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े आपस में गुत्थम-गुत्था हो जाते हैं। समझ में नहीं आता, कि वे क्यों संघर्ष करते हैं ? उन्हें क्या वाँटना है ? उन्हें न कुछ लेना है, न कुछ देना है। परन्तु वात यह है कि मुर्दा

आत्मा जहाँ-कहीं जाता है, जिस किसी गति या योनि में जाता है, वह वहाँ कषायों की, विषय-वासना की, स्वार्थ की, घृणा और द्वेष की आग में जलता है और उस कषाय के दावानल में जलकर भी वह भस्म नहीं होता, बल्कि पहले की अपेक्षा और अधिक भयंकर हो जाता है।

मनुष्य सोचता है कि देव गति मिल जाए, तो मैं वहाँ शान्ति का अनुभव कर सकूँगा। परन्तु तथ्य की बात यह है कि जो भाव-मुर्दे हैं, वे देव बन गए, तब भी सड़ते ही रहेंगे। शास्त्र में देवों का वर्णन आया है। उसे पढ़ते हैं तो उन मुर्दा देवों की स्थिति साधारण मनुष्य या पशु से श्रेष्ठ नहीं है। स्वर्ग में भी वह पशु की तरह लड़ता-झगड़ता रहता है। जैसे पशु अज्ञानता-वश अपने स्वरूप को नहीं पहिचानता, उसी तरह हजारों-लाखों देव भी अपने उज्ज्वल आत्म-स्वरूप को विस्मृत कर कषायों एवं विषय-वासना तथा काम-क्रोध की आग में निरन्तर जलते हैं। बताइए आप, कि उनके देव बनने का क्या महत्व रहा ? यदि देव बनने मात्र से ही जीवन में शान्ति मिल जाती, तो मनुष्य इतना परेशान क्यों होता ? मनुष्य, देव तो कई बार बन चुका है! किन्तु सही बात यह है, कि देव बनना भी समस्या का सही हल नहीं है।

मुर्दा चाहे जहाँ जाए, वह यत्र-तत्र-सर्वत्र दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध फैला-एगा। मुर्दे को भले ही झोंपड़ी में रखें या स्वर्ण के दिव्य महल में रखें; उसे भले ही नरक में रखें या मोहक स्वर्ग में रखें, वह तो सड़ता ही रहेगा। और तो क्या, यदि उसके शरीर को सुगन्धित इत्र, केशर, कस्तूरी एवं गुलाब-जल से छिड़का जाए, फिर भी उसमें से महक नहीं आ सकती। इस सौरभमय वातावरण में भी उसके चप्पे-चप्पे में अन्तर्निहित दुर्गन्ध उभर-उभर कर बाहर फैलेगी, और उस सौरभ संयुक्त वातावरण को दुर्गन्धमय बना देगी।

अभिप्राय यह हुआ कि मृत आत्मा जीवन का फैसला नहीं कर सकता। प्राणवान् आत्मा ही आस-पास के वातावरण को शान्त,

सरस एवं सुगन्धित बना सकता है। पर, प्राणवान् या जीवित आत्मा किसे समझें? प्राणवान् आत्मा वह है, जो हर समय कार्य करने के पहले विवेक की आँख से देखता है, और गहराई से सोचता है, कि मेरे इस कार्य का परिवार, समाज, पंथ, राष्ट्र या विश्व पर क्या असर पड़ेगा? वह सोचता है, कि मैं भले ही तीन, साढ़े तीन हाथ के शरीर में बन्द पड़ा हूँ, परन्तु मेरे विचार तथा आचार की अच्छी या बुरी शक्ति तीन लोक में प्रभाव डालती है। यदि जीवन में सद्गुणों की, सदाचार की तथा सद्विचार की सुगन्ध रहेगी, तो जहाँ उस आत्मा की छाया या प्रतिबिम्ब पड़ेगा, वहाँ के वातावरण में एक अलौकिक महक फैले बिना नहीं रहेगी। तो प्राणवान् आत्मा वह है, जो पहले सोचता है, और बाद में काम करता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो काम करने के पहले नहीं सोचते, किन्तु उस काम का गलत परिणाम सामने आने पर बाद में सोचते हैं। फिर पश्चात्ताप करते हैं, वे आधे मुर्दे हैं। पर, जो न तो काम करने के पहले सोचते हैं, और न परिणाम आने के बाद में ही पश्चात्ताप करते हैं, अथवा यों कहिए कि ठोकर खाने पर भी संभलते नहीं हैं, वे पूरे मुर्दे हैं। उनके जीवन में कभी भी चेतना अँगड़ाई नहीं ले सकेगी।

अस्तु, प्राणवान् आत्मा वह है, जो जीवन में इन्सान बनकर रहता है। वह कभी लड़ता है, तब भी इन्सान की तरह लड़ता है। वह कभी प्रेम करता है, तब भी इन्सान की तरह प्रेम करता है। उसके प्रेम में भी इन्सानियत का प्रकाश है, और उसकी लड़ाई में भी इन्सानियत का प्रकाश मन्द नहीं पड़ता। आप आश्चर्यान्वित होंगे, क्या लड़ने में भी इन्सानियत है? हाँ, क्यों नहीं? लड़ना भी एक कला है, लड़ने का भी एक शास्त्र है।

भारतीय संस्कृति जहाँ एक ओर प्रेम करने की कला सिखाती है, वहाँ दूसरी ओर वह लड़ने की कला भी सिखाती है। यदि लड़ने में कला नहीं होती, तो युद्ध-शास्त्र के निर्माण का क्या महत्त्व था! तलवार

के घाट के उतारने तथा कत्ल करने मात्र का अर्थ युद्ध नहीं है। एक सेनापति या एक वीर योद्धा हजारों-लाखों मनुष्यों को तलवार के घाट उतार देता है, फिर भी उसे कोई कातिल नहीं कहता। यदि सेनापति का काम कत्ल करना मात्र होता, तो फिर कातिल में और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। सेनापति कातिल नहीं है, यदि वह युद्ध-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार लड़ता है तो। क्योंकि उसके लड़ने में स्वार्थ की दुर्गन्ध नहीं होती, होती है केवल परमार्थ की मनोमोहक सुगन्ध।

भगवान् महावीर के उपासक महाराज चेटक भी लड़े थे, और कोणिक भी लड़ा था, परन्तु दोनों के लड़ने में वड़ा भारी अन्तर था। चेटक भगवान् की विराट धर्म-चेतना को जीवन में उतार कर लड़ा था, वह इन्सान की तरह लड़ा था। इसीलिए वह योद्धा होकर भी बारह व्रतधारी श्रावक बना रहा।

एक वार एक मुनि जी से वात हो रही थी। उन्होंने कहा—

"श्रावक लड़ते समय मरे, तो देव गति में नहीं जा सकता। युद्ध के वाद में की जाने वाली धर्म-क्रिया से भले ही स्वर्ग में चला जाए।" मैंने कहा—

"किसी राजा ने श्रावक के व्रत स्वीकार कर रखे हैं, और उस समय अन्याय-अत्याचार को रोकने के लिए युद्ध का प्रसंग आ पड़े तो, पहले वह समझौते के सारे तरीके अपनाता है, पर, समस्या का हल नहीं होता है। अन्त में युद्ध होता है, और समर-भूमि में लड़ते हुए एक सम्यक्-दृष्टि या व्रतधारी श्रावक बाणों से घायल होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तो वह मरकर कहाँ उत्पन्न होगा? नरक में या स्वर्ग में? शास्त्र-कारों ने तो उसके लिए देव गति वताई है।

वात यह है कि उसकी लड़ाई व्यक्ति से नहीं है, अन्याय से है। यदि युद्ध के वीच में, जवकि विजयश्री उसके गले में विजय-माल डालने वाली ही होती है, परस्पर में समझौते का कोई उचित मार्ग निकल आए और उससे अन्याय का उन्मूलन होता हो, तो वह उसी क्षण अपनी रक्त-

रंजित नंगी तलवार को म्यान में डाल लेगा। क्योंकि वह मनुष्य की तरह लड़ता है, पशु की तरह नहीं। वह कर्त्तव्य के लिए लड़ता है, स्वार्थ के लिए नहीं।

भारतीय इतिहास में राम और रावण का युद्ध प्रसिद्ध है। दोनों ही तरफ बहुत अधिक आदमी युद्ध में मरे। फिर भी रावण की गणना राक्षसों में हुई, और राम को भारतीय धर्म-ग्रन्थों ने मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया। इसका क्या कारण है? रावण लड़ रहा था—अपने स्वार्थ के लिए, अपनी दुर्भावना को पूरी करने के लिए, तथा अपनी भोगेच्छा का पोषण करने के लिए। और, राम अन्याय एवं अत्याचार मिटाने के लिए लड़े। राम—सीता के लिए, एक सीता के लिए ही नहीं, हजारों सीताओं के सतीत्व की रक्षा के लिए लड़े। उन्होंने कई बार रावण को समझाने का प्रयत्न किया। युद्ध के बीच में भी वे कहते रहे, मुझे लंका नहीं चाहिए। लंका के करोड़ों मन सोने में से मुझे एक माशा सोना भी नहीं चाहिए। मुझे रावण का और उसके साथी राक्षसों का संहार नहीं करना है। मेरा उद्देश्य तो अनाचार, दुराचार तथा अत्याचार का प्रतिकार करना मात्र है। यदि अब भी रावण न्याय-मार्ग स्वीकार करके सीता को लौटा दे, तो इसी क्षण युद्ध बन्द हो सकता है। राम ने कितनी बड़ी बात कही! यह थी इन्सानियत की लड़ाई!!

ऐसा ही एक अन्य उदाहरण भी है। दो राजाओं के बीच युद्ध हो रहा था। जब दोनों तरफ से शस्त्र समाप्त होने को आए, तो दोनों राजाओं में द्वन्द्व युद्ध होना तय हुआ। दोनों वीर योद्धा मैदान में आ खड़े हुए। आपस में गुत्थम-गुत्था होने लगे, पैंतरें बदलने लगे और एक-दूसरे को पछाड़ने के लिए अपनी-अपनी ताकत आजमाने लगे। थोड़ी ही देर में एक राजा नीचे दब गया, तो उसे एकदम आवेश आ गया और उस आवेश में उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी के मुँह पर थूक दिया। इस पर विजेता ने उसे उसी क्षण छोड़ दिया और कहा—आओ, हम फिर से लड़ेंगे।

विजेता के साथियों ने उससे कहा—"शत्रु आपके काबू में आ गया था। एक-दो रगड़ लगाकर उसे कुचल कर समाप्त करने का अच्छा अवसर मिल गया था। परन्तु ऐसे सुनहरे अवसर को हाथ से खोकर आपने बड़ी भूल की।" उस समय विजेता ने प्रेम एवं शान्ति की मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा—

"मैं चाहता, तो शत्रु के शरीर को क्षत-विक्षत कर सकता था, उसे मार सकता था। परन्तु उस समय युद्ध-शास्त्र मेरे विपरीत था। कारण? मेरा युद्ध उस व्यक्ति से नहीं, अपितु उसके सामाजिक अन्याय से था। पर, उसने ज्यों ही मेरे मुँह पर थूका, त्यों ही मेरे अन्दर व्यक्तिगत अभिमान जाग उठा। न्याय की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के मोह ने मुझे उद्वेलित कर दिया, अतः उस समय मैंने उसे छोड़ दिया। अब मैं उसके साथ फिर से लड़ूँगा। यदि पुनर्वार भी व्यक्तिगत ईर्ष्या या अभिमान जाग उठा, तो उसे फिर इसी तरह मुक्त कर दूँगा।

इतना सुनना था, कि पास में खड़े हुए प्रतिद्वन्द्वी का मन पानी-पानी हो गया। उसके हृदय का एक-एक कण राजा की न्याय-नीति के प्रति श्रद्धा भाव से आप्लावित हो गया। उसने आगे बढ़कर राजा के चरण छुए और अपनी भूलों के लिए क्षमा याचना की। सत्य-निष्ठ राजा के युद्ध ने नहीं, किन्तु उसकी युद्ध कला ने एक पथ-भ्रष्ट व्यक्ति के जीवन की दिशा बदल दी। इस प्रकार युद्ध में भी प्राणवान् आत्मा की इन्सानियत धुँधली नहीं पड़ती।

आप अपने व्यक्तिगत अहंकार एवं मान-प्रतिष्ठा को अलग रखकर, अन्याय एवं अत्याचार का उन्मूलन करने के लिए ही यदि लड़ रहे हैं, तो वह इन्सानियत की लड़ाई है। यदि आप अपने व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थ के लिए लड़ रहे हैं, तो वह पशुत्व की लड़ाई है। अब यह विचार करना आपका काम है, कि आप कौन-सी लड़ाई लड़ रहे हैं?

इसी तरह प्रेम के भी दो रूप हैं। पैसे से भी प्रेम किया जाता है। इसके लिए मारवाड़ में एक कहावत प्रसिद्ध है—"चमड़ी भले ही चली

जाय, पर दमड़ी न जाय"। इसी प्रकार विषय-वासना से, स्वार्थ से, दंभ से, जड़ रूढ़ियों से, गले-सड़े विचारों से, और पंथ की निष्प्राण परम्पराओं से भी प्रेम किया जाता है। परन्तु वह प्रेम एक मृत प्रेम है, जीवित प्रेम नहीं। प्राणवान् आत्मा का प्रेम, इन्सानियत का प्रेम होगा। और वह प्रेम अपने किसी चिर-परिचित व्यक्ति से, जाति से, पंथ से या समाज से ही नहीं, अपितु सारे विश्व के प्राणियों से होगा। सत्य से होगा, न्याय-नीति से होगा और धर्म से होगा।

यही बात सामायिक के सम्बन्ध में है। यदि व्यक्तिगत स्वार्थ से सामायिक करते हैं, तो वह आपके अन्तर-जीवन में ज्योति नहीं जगा सकती। मान लो, घर में कोई बीमार पड़ा है, सेवा का काम है, और उससे बचने के लिए आप सामायिक करने बैठ जाते हैं, तो वह सामायिक शुद्ध संकल्प से की जाने वाली प्राणवान् सामायिक नहीं है, बल्कि वह एक मुर्दा सामायिक है।

इसी तरह घर में किसी से लड़ाई हो गई, कुछ कहा-सुनी हो गई, कि एक-दो दिन भोजन ही नहीं किया, उपवास कर लिया। तप में भी लड़ते रहे, कषायों की आग में जलते रहे, तो ऐसा तप किस काम का? तप की आग शरीर को जलाने के लिए नहीं, अपितु क्रोध, मान, माया, लोभ, वासना, स्वार्थ एवं दंभ को जलाने के लिए है। हाँ, तप से शरीर तपता तो अवश्य है, परन्तु आपका उद्देश्य केवल शरीर को तपाने का नहीं, शरीर के माध्यम से कषायों को तपाने का है। आप घी खरीदते हैं, और यदि उसमें छाछ घुली-मिली है, तो उसे घी से अलग करने के लिए आप घी के बरतन को अग्नि पर रखते हैं। उस समय यदि आप से कोई पूछे कि—क्या बरतन तपा रहे हो? तो आप क्या उत्तर देंगे? यही तो कहेंगे, कि हमारा उद्देश्य बरतन तपाने का नहीं है, और न घी को ही गर्म करने का है। हमारा उद्देश्य तो घी में घुली-मिली छाछ को अलग करने का है। और यह कार्य बरतन तथा घी को गर्म किए बिना नहीं हो सकता।

इसी तरह लम्बी तपश्चर्या की जाती है, वह केवल शरीर को जलाने के लिए नहीं, अपितु मन के मैल को जलाने के लिए है। मन में भरे पड़े लोभ-लालच, स्वार्थ, दंभ, ईर्ष्या, द्वेष और घृणा के कचरे को जलाकर भस्म करने के लिए है। परन्तु एक-दो, पाँच उपवास करने पर भी यदि उत्तेजना बढ़ रही है, कषायों की आग भभक रही है, तो उसका अर्थ यही रहा कि—'खाली बरतन गर्म कर रहे हैं,' इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं रहा। इसलिए वह तप एक प्रकार से मुर्दा तप है। प्राणवान् तप अपने जीवन को शुद्ध एवं शान्त बनाता है और आस-पास के वातावरण को भी शान्त बनाता है।

भारतीय-दर्शन की साधना शरीर के माध्यम से मन में घुसे हुए विकारों को नष्ट करने के लिए है, जीवन को मांजने के लिए है। आप जब-जब सामायिक करें, तप करें, दान करें, तब-तब दया का, करुणा का झरना बहता रहे, इन्सानियत की भावना अधिक चमके, ईश्वरत्व की ज्योति जगती रहे। आपका त्याग-तप जन-जन के मन में प्रेम, स्नेह, और वात्सल्य की वर्षा करता रहे। तभी आपका जप-तप, सेवा-शील, संवर-सामायिक आदि क्रिया-काण्ड प्राणवान् गिना जाएगा।

भगवान् महावीर के विषय में आप पढ़ते हैं, सुनते भी हैं, कि वे वन में ध्यान लगा रहे हैं। एक, दो, तीन, चार महीने बीत गए किन्तु मुँह में एक कण अन्न नहीं गया, एक बूँद पानी भी नहीं गया, फिर भी उनके जीवन में शान्ति का झरना झर रहा है। उनके दिव्य मुख पर अहिंसा, सत्य, दया एवं तप का भव्य तेज चमक रहा है। आस-पास का वातावरण भी शान्त बन जाता है। सिंह और हिरन भी जन्म-जात वैर-विरोध को भुलाकर एक साथ आ बैठते हैं।

एक आचार्य ने कहा—इधर से सिंहनी आती है और उधर से हिरनी आती है। हिरनी का बच्चा सिंहनी का दूध पीता है और सिंह-शावक हिरनी का दूध पीता है। सिंहनी और हिरनी दोनों ही अपनेपन की भावना को भूल चुकी हैं। यदि हिरनी में से भय जाता रहा है, तो

सिंहनी में से भी क्रूरता निकल चुकी है। दोनों शान्त हैं, दोनों एक-दूसरे के स्नेह-सूत्र में बँधी हैं। यह है—अहिंसा का दिव्य-तेज, जो क्रूर एवं हिंसक प्राणी को भी शान्त बना देता है।

आपसे अभी इतनी आशा तो नहीं की जा सकती कि आप सिंहनी का क्रूरत्व और हिरनी का भय मिटा दें। पर, इतना तो होना ही चाहिए कि आप जिस परिवार में, समाज में, संघ में, राष्ट्र में रह रहे हैं, वहाँ अहिंसा, सत्य, शील, प्रेम, स्नेह, सेवा एवं सद्भावना की सुगन्ध फैला दें। जिससे पड़ौसी भी यह जान सकें कि यहाँ हैवान नहीं, इन्सान रह रहे हैं! राक्षस नहीं, देव बस रहे हैं! दानव नहीं, मानव रहते हैं!!

शास्त्र में तीन प्रकार के मनुष्य बताए हैं—एक उत्तम, दूसरे मध्यम और तीसरे अधम। उत्तम पुरुष वह है, जो दूसरे की प्रेरणा के बिना स्वतः धर्म-कार्य में प्रवृत्त होता है। दान का प्रसंग आने पर अपने आप दान देता है। सेवा का अवसर उपस्थित होने पर अपने आप सेवा में संलग्न हो जाता है। शील का अवसर उपस्थित होने पर स्वतः शील पालता है। उस महापुरुष की सारी शक्ति अपने आप गतिशील है। वह उस निर्झर की तरह है, जो वर्षों से पहाड़ की चट्टान के नीचे दबा रहा, परन्तु एक दिन उसकी शक्ति जगी तो पहाड़ की चट्टानों को तोड़कर वह निकला, और तब से फिर निरन्तर प्रवहमान है। महापुरुष का जीवन अपने आप प्रवाहित होता है।

मध्यम पुरुष वह है, जो दूसरे से प्रेरणा पाकर दान, शील, तप, और त्याग का आचरण करता है। झरना स्वयं प्रस्फुटित होता है, परन्तु कुएँ को खोदना पड़ता है, बहुत-कुछ गहरा खोदने पर जमीन के अन्दर से जल का स्रोत निकल आता है।

झरना अपने आप प्रवहमान है। उसके निर्मल एवं मधुर जल को प्रत्येक पशु-पक्षी सुगमता से पी सकता है। आदमी भी उसके किनारे पहुँच कर झट से पानी पीकर अपनी प्यास बुझा सकता है। परन्तु कुआँ अपने आप बहता नहीं है, अतः उसका पानी सुगमता से नहीं पिया जा

सकता, पुरुपार्थ करके ही कुएँ का जल पिया जा सकता है। कुछ लोग ऐसे हैं, जो उपदेश से या शास्त्र से प्रभावित होकर सदाचार एवं सद्विचार के मार्ग पर चलते हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो न तो अपने आप चलते हैं, और न दूसरे की प्रेरणा से धर्म-कर्म करते हैं। वे अधम मनुष्य अन्धे हाथी की तरह क्रोध, मान, माया, लोभ एवं वासना के अन्धकार में इधर-उधर भटक रहे हैं। न तो उनमें अपनी बुद्धि है, और न वे दूसरे की बुद्धि का उपयोग करते हैं।

एक बात याद आ रही है। एक राजा ने अपने मंत्रियों से कहा—मेरी कन्या का सम्बन्ध ऐसे वर के साथ करके आओ, जिसमें सौ तरह की अक्ल हो। मंत्री चारों तरफ तलाश करने लगे। बड़े-बड़े राजकुमारों को देखा। कई राजकुमार गुण सम्पन्न भी थे, रूपवान् भी थे, कला-कौशल में भी प्रवीण थे। परन्तु एक साथ सौ तरह की अक्ल किसी भी राजकुमार में नहीं मिली। सब निराश होकर खाली हाथ लौट आए। परन्तु एक तरुण मंत्री आया और उसने कहा—महाराज सौ अक्ल तो किसी भी राजकुमार में नहीं मिली, परन्तु मैंने एक राजकुमार को देखा है, जिसमें ९८ अक्ल हैं। राजा ने प्रसन्न होकर कहा—दो ही तो कम हैं! कोई बात नहीं। इतनी कमी तो चल सकती है। किन्तु दो अक्ल कौन-सी नहीं हैं? मंत्री ने कहा—उस राजकुमार में एक तो अपनी अक्ल नहीं है और दूसरी, दूसरे की अक्ल मानता नहीं। बस, इन दो बातों की कमी है, और सब कुछ है। राजा ने कहा—जिस मनुष्य में न तो अपनी बुद्धि है, और न वह दूसरे की हित-शिक्षा मानता है, उसकी और अक्ल किस काम की?

इसी तरह, जो व्यक्ति न तो स्वतः सन्मार्ग पर गतिशील है, और न दूसरे का उपदेश मानकर दया-दान, सेवा-भक्ति, त्याग-तप के मार्ग पर चलता है! यदि ऐसा मनुष्य दुनिया भर का ऐश्वर्य पा ले, तब भी जीवन का क्या कल्याण कर सकता है? वज्र ऋषभनाराच संहनन

पा ले और इतनी बड़ी ताकत प्राप्त करले कि हिमालय को भी अंगुली पर उठा ले, परन्तु यदि उसके जीवन में धर्म, दया, सेवा-वृत्ति एवं सद्भावना नहीं है, तो वह शक्ति, वह वैभव उसे नरक में, और कभी-कभी सातवीं नरक तक में ले जाएगा। अभिप्राय यह हुआ कि दुनिया की जितनी भी चीजें हैं, तथा जितना भी धन-वैभव, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, और विचार-चिन्तन हैं, वे सब-के-सब धर्म के अभाव में शून्य-मात्र हैं।

अस्तु, जिसके विवेक की आँख खुली हैं, सद्-बुद्धि का दरवाजा खुला है, वही जीवन एक जीवित जीवन है, वही प्राणवान् आत्मा है। और वही गुलाब का महकता हुआ फूल है, जो स्वयं भी महक रहा है, और जहाँ जाता है वहाँ के वातावरण को भी सुगन्ध, सौरभ एवं खुशबू से भर देता है। वह दिवंगत होने के बाद भी अपने सद्गुणों की महक छोड़ जाता है, और वह महक चिर काल तक दुनिया के कोने-कोने को सुगन्धित बनाती रहती है।

दिनांक
१२-१०-५६

कुचेरा (राजस्थान)

—: १५ :—

विजय-पर्व

मनुष्य के अन्तर-मन में एक कल्पना, एक भावना निरन्तर चक्कर लगाती रही है। मनुष्य के जीवन में ही नहीं, प्राणि-मात्र के मानस में अनन्त-अनन्त काल से विचारों की एक तरंग उठती रही है। वह है अपने आपको विजेता के रूप में देखने की अदम्य लालसा।

आप देखेंगे, एक बालक भी जब कभी अपने साथियों के साथ खेलता है, तब वह अपने मन में यह भावना छिपाए रखता है कि मैं इन सब साथियों पर विजय पाऊँ। परिवार में रहने वाला हर व्यक्ति यह चाहता है कि सारा परिवार मेरे इशारे पर काम करे, मेरी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी न हिले। व्यापारी, व्यापार के क्षेत्र में यह तमन्ना लिए खड़ा है कि सारे व्यापार पर मेरा अधिकार हो, सारा बाजार मेरे इशारे पर उठे और गिरे। युद्ध के मोर्चे पर खड़ा हुआ प्रत्येक सैनिक यही भावना रखता है कि मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करूँ। इस तरह जीवन के हर मोड़ पर खड़ा मानव—विजय के स्वप्न देख रहा है।

आज विजया-दशमी है। आज का पर्व जीवन के कण-कण में विजय की ज्योति जगा रहा है। विजय पाने के लिए दो तरह की

शक्ति चाहिए। एक आचार्य ने कहा है—"मनुष्य-जीवन में दो वर्ण रहते हैं—एक ब्राह्मण, और दूसरा क्षत्रिय।" इसका क्या अर्थ हुआ ? ज्ञान, ब्राह्मणत्व का प्रतीक है और कर्म, क्षत्रियत्व का। ज्ञान, जीवन को यह प्रेरणा देता है कि काम करने से पहले विचार करो, चिन्तन-मनन करो कि तुम्हारा यह काम समाज और राष्ट्र के लिए हितकर है या नहीं ? जो हरकत तुम कर रहे हो, उससे परिवार के रोते हुए चेहरे मुस्कराएँगे या हँसते हुए चेहरे भी रो उठेंगे। जो कदम तुम रख रहे हो, उससे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में जो आग जल रही है, वह बुझेगी, या और उग्र-रूप में प्रज्वलित हो उठेगी। इस तरह प्रवृत्ति करने से पहले पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों की सही रूप में जानकारी करना, ब्राह्मणत्व (ज्ञान) का द्योतक है। और ज्ञान के बाद समाज, संघ एवं राष्ट्रीय जीवन के विकास के लिए यथोचित शुभ-कर्म करना, क्षत्रियत्व (कर्म) का लक्ष्य है।

अभिप्राय यह हुआ कि जीवन में दोनों वर्णों का सामंजस्य होने पर ही आप अपने जीवन में, तथा परिवार के जीवन में विजय पताका फहरा सकेंगे। महाभारत के युद्ध में संहार के लिए तलवारें चमक रहीं थीं, चारों तरफ बाणों की वर्षा हो रही थी। सब के मन में चिन्ता की एक अमिट रेखा झलक रही थी कि इस युद्ध में विजय किस की होगी ? स्वयं अर्जुन के मन में भी सन्देह झूल उठता था, कि न मालूम विजय-श्री किस के गले में विजय-माल डालेगी ? चारों ओर मन में अन्धकार छाया हुआ था। कोई भी किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहा था। उसी समय गीता के सन्देश में अर्जुन को अपनी समस्या का हल मिल गया। गीता की समाप्ति पर व्यास ने एक महत्त्वपूर्ण श्लोक कहा है—

"यत्र योगेश्वरः कृष्णः, यत्र पार्थो धनुर्धरः,
तत्र श्री विजयो भूतिर् ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥"

"जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहीं श्री है,

वहीं विजय है और वहीं संसार का ऐश्वर्य है। और मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह लड़खड़ाती जवान से नहीं कह रहा हूँ, शून्य दिमाग से वकवास नहीं कर रहा हूँ, परन्तु मेरी वाणी के पीछे गंभीर सोच, समझ और दृढ़ चिन्तन-मनन हैं।"

श्री कृष्ण और अर्जुन से आपका क्या अभिप्राय था ? इस सम्बन्ध में एक टीकाकार ने महत्त्वपूर्ण बात कही है—"कृष्ण का काम था ज्ञान की आँख देना। और महाभारत के युद्ध में श्री कृष्ण शुरू से अन्त तक ज्ञान की ज्योति देते रहे। उन्होंने युद्ध-क्षेत्र में कभी भी धनुष-बाण नहीं उठाया। वह पहले ही प्रतिज्ञावद्ध होकर आए थे कि इस युद्ध में मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा। अतः कृष्ण का दिमाग तो काम करता रहा, पर हाथ मौन रहे।"

हाँ तो, कृष्ण ज्ञान के प्रतीक हैं। कृष्ण, अर्जुन में ज्ञान और विवेक की ज्योति जगाते हैं, कर्त्तव्य का मार्ग दिखाते हैं; परन्तु उस मार्ग पर गति नहीं करते। कृष्ण का मुख्य कार्य है केवल मार्ग वताना, मंजिल दिखाना। उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का, तथा मंजिल तक पहुँचने का काम है, अर्जुन का। कृष्ण—ज्ञान है, और अर्जुन—कर्म। कृष्ण—ब्राह्मण है, तो अर्जुन—क्षत्रिय।

अस्तु, जहाँ सच्चा ज्ञान है, मन और मस्तिष्क में चिन्तन चमक रहा है, विवेक का प्रकाश जगमगा रहा है और साथ में शुद्ध,सात्विक कर्म भी हो रहा है, तो समझना चाहिए कि वह अवश्य विजयी होगा। दुनिया की कोई ताकत उसे परास्त नहीं कर सकती।

मनुष्य तभी विजय पा सकेगा, जव वह ज्ञान और कर्म का समन्वय साध सकेगा, जीवन में दोनों को आत्म-सात् कर लेगा। परिवार, समाज, एवं राष्ट्र भी तभी विजय ध्वज लहरा सकेंगे, जव वे अपने जीवन-क्षेत्र में ज्ञान और कर्म को एक आसन पर विठा सकेंगे। जव तक ज्ञान-और कर्म अलग-अलग दिशा में भटकते रहेंगे, तव तक लौकिक एवं

आध्यात्मिक, किसी भी क्षेत्र में विजय नहीं पा सकेंगे । कवि की भाषा में कहूँ तो—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की ॥"

ज्ञान और कर्म के बीच में समुद्र जैसी खाई पड़ी है, तो कहना यह होगा कि समाज का और राष्ट्र का दुर्भाग्य ही है जो दोनों में मेल नहीं बैठा सकते । और आज हो भी यही रहा है कि ज्ञान एवं कर्म दोनों की गति-प्रगति एक दिशा में नहीं है । यही कारण है कि परिवार और समाज बर्बाद हुए जा रहे हैं ।

कहा जाता है कि यदि पाण्डवों के पक्ष में कृष्ण और अर्जुन नहीं होते तो पाण्डवों की विजय नहीं हो पाती। इसका रहस्य क्या है? बात यह है कि जीवन-युद्ध में ज्ञान और कर्म दोनों ही चाहिए । अकेला ज्ञान भी जीवन-युद्ध में विजयी नहीं हो सकता, और न अकेला कर्म ही । न अकेला दिमाग चल सकता है, और न अकेले पैर । मार्ग पर गति करने के लिए दिमाग और पैर दोनों ही अपेक्षित हैं ।

अमुक वर्ग या अमुक पंथ धर्म-शास्त्रों के नाम पर लड़ सकते हैं, वेदों तथा पुराणों की दुहाई देकर वाद-विवाद कर सकते हैं, उनकी सत्यता प्रमाणित करने के लिए संघर्ष कर सकते हैं, किन्तु उनके आदेशानुसार गति नहीं कर सकते। बाईबल के पीछे लड़ सकते हैं और लड़ते भी रहे हैं, परन्तु ईसा के उस उपदेश को कि "कोई दाएँ गाल पर चपत मारे, तो बायाँ गाल भी उसके सामने कर दो",कितने व्यक्तियों ने जीवन में जीवित रखा है? उस युग में और आज के युग में कितना बड़ा अन्तर हो गया है। उस युग में धर्म-शास्त्रों का, या यों कहिए कि धर्म शास्त्रगत ज्ञान का उपयोग कर्म के क्षेत्र में होता था । जीवन के मोर्चे पर ज्ञान-राशि का उपयोग एक-दूसरे के विनाश में नहीं, अपितु विकास में होता था । और आज शास्त्रों का उपयोग, केवल अपने मिथ्याभिमान के पोषण के लिए किया जा रहा है, संप्रदाय की दीवारों को फौलादी

बनाकर उनकी छाया में अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया जा रहा है। अपने क्षणिक स्वार्थों की संतुष्टि के लिए दूसरों के महानतम हितों की उपेक्षा की जा रही है। और समस्त ज्ञान-विज्ञान का एकमात्र उपयोग यही हो रहा है। आज शास्त्रों का उपयोग उपदेश-दान के लिए है, वाद-विवाद करने के लिए है, परन्तु जीवन के क्षेत्र में गति-प्रगति करने के लिए नहीं। अतः जितने पंथ या जितनी परम्पराएँ चल रही हैं; उनके विकास के पंख कट चुके हैं। उसका एकमात्र यही कारण है कि वे विवेक के प्रकाश में कर्म नहीं करते।

मनुष्य सर्वत्र युद्ध कर रहा है। वह घर में जाता है, तो पत्नी से लड़ता है, पुत्र से लड़ता है, भाई-बहन से लड़ता है, माता-पिता से लड़ता है। और घर से बाहर कदम रखता है, तो पड़ौसी से लड़ता है, मोहल्ले वालों से लड़ता है, शहर वालों से लड़ता है। जहाँ जाता है, लड़ाई की पुड़िया साथ ले जाता है। आज मानव एक जंगली जानवर की तरह घूमता है और यत्र-तत्र खड़ा होकर देखता है, तो दुर्योधन की तरह उसे भी सारा परिवार, समाज और राष्ट्र बेईमान, मक्कार और शत्रु रूप में परिलक्षित होता है। वह सब को दबाकर, सब पर शासन करना चाहता है। और चाहता है कि सारा संसार मेरी बात माने, मेरे कदमों पर चले। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा—"अरे पागल ! तू विश्व-विजेता बनने का सुनहरा स्वप्न देख रहा है, परन्तु पहले अपने आप पर तो विजय प्राप्त कर !"

आज मनुष्य विराट आकाश पर विजय पाना चाहता है। वह मंगल ग्रह और चन्द्र पर विजय पाने का स्वप्न देख रहा है। चन्द्रलोक की यात्रा के लिए नये ढंग के राकेट बना रहा है और आकाश में एक विशेष प्रकार का हवाई अड्डा बनाने की योजना बना रहा है। वह प्रकृति के जर्रे-जर्रे पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील है। परन्तु दुर्भाग्य है कि वह अपने आप पर विजय नहीं पा सका। वह अतल समुद्र पर तो नियंत्रण कर चुका, किन्तु जीवन की एक नन्हीं-सी बूँद को काबू में नहीं ला

सका। वह अपनी इन्द्रियों पर, अपने मन पर विजय नहीं पा सका। स्वयं बीमार पड़ा है, जान खतरे में हैं, डॉक्टर ने इन्कार कर रखा है कि मिठाई मत खाना। फिर भी वह मिठाई खा लेता है और तबीयत ज्यादा बिगड़ने पर डॉक्टर कहता है कि मेरे इन्कार करने पर भी तुमने मिठाई क्यों खाई? तो कहता है—क्या करूँ साहब, मन नहीं माना। दमे की शिकायत है, श्वास जोरों से चल रहा है, कफ पड़ता है, खाँसी में बुरी तरह उलझ रहे हैं, फिर भी तमाखू के जहरीले कस खींचे जा रहे हैं। साँस लेने में तकलीफ होती है, बीमारी बढ़ती है, फिर भी उस बुरी आदत का परित्याग नहीं कर पाते।

हाँ तो, मनुष्य कितना दुर्बल है, कितना कमजोर है कि वह अपने मन को, अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित नहीं रख सकता। उसके जीवन-राज्य में विद्रोह मचा हुआ है, कोई भी इन्द्रिय उसके आदेश का पालन नहीं करती। कितना भोला है मानव, कि वह अपनी इन्द्रियों पर तो विजय पा नहीं सकता, पर चलता है वह विश्व विजेता बनने को! प्रकृति के जर्रे-जर्रे को अपने अधिकार में लाने के लिए तो नित्य नये कदम उठा रहा है, पर मन के नन्हे से पुर्जे पर विजय पाना उसके वश की बात नहीं है।

दुनिया पर विजय पाने के पहले अपने पर विजय पाने का प्रयास करें। मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में करें। अस्पताल में कोई बीमार है और आप उसकी सेवा में हैं, दो-चार दिन सेवा की आवश्यकता है। किन्तु आप कुछ ही घंटों में क्यों भाग खड़े होते हैं? किसी के पूछने पर यह क्यों कहते हैं कि—"क्या करूँ, मेरा तो वहाँ एक क्षण भी मन नहीं लगता। ये दो घंटे भी दो वर्ष की भाँति गुजरे हैं।" हाँ तो, मैं पूछता हूँ—यह मन क्या बला है? यह आपका सेवक है या स्वामी? मन तो ऐसा होना चाहिए कि उसे जिस मोर्चे पर खड़ा कर दें, वहीं डटा रहे। एकान्त जंगल में बैठे हों, तो वहाँ भी मन लगा रहे। सेवा के काम में संग्लन हैं, तो उसमें भी मन रम जाए। वह इधर-उधर भागता न फिरे। आपकी आज्ञा का पूरा-पूरा पालन करे। उसकी लगाम आपके

हाथ में हो। आपकी लगाम उसके हाथ में नहीं होनी चाहिए, अन्यथा मन एवं इन्द्रियों के गुलाम के लिए विश्व-विजय कोरा स्वप्न है।

अपने आप पर विजय पाने का अर्थ है—मनुष्य हर परिस्थिति में अपने मन एवं अपनी इन्द्रियों को काबू में रख सके। कल्पना कीजिए, यदि कहीं खाने के लिए मनोनुकूल भोजन मिला, स्वादिष्ट और मसालेदार; फिर भी भूख से एक ग्रास भी ज्यादा नहीं खाया, बल्कि जितना खाना चाहिए था, उससे कुछ कम ही खाया। और यदि कहीं पर मन के विपरीत रूखा-सूखा भोजन मिला, तब भी बिना किसी हिचक के, बिना किसी खीज के यथावश्यक पेट भर भोजन कर सकें। तो समझना चाहिए कि आप अपने मन और इन्द्रियों पर ठीक-ठीक विजय पा सके हैं। परन्तु अच्छा खाना मिला कि स्वाद में बेभान होकर आवश्यकता से अधिक खा लें और मन के विपरीत रूखा-सूखा भोजन देखकर भूख होते हुए भी यह बहाना बनाएँ कि मुझे भूख नहीं हैं, तो यह आपकी मन के सामने सबसे बड़ी पराजय है। सच्ची विजय है मन को जीतने में, मन के प्रतिकूल वातावरण होते हुए भी मन में उद्वेग एवं उबाल नहीं आने देने में। किसी ने बात-बे-बात पर दो चार कड़वी-मीठी, या खरी-खोटी सुना दी, तब भी मन में किसी तरह का मलाल न आए, मन में प्रतिशोध की भावना न जगे। दूसरी ओर किसी के द्वारा झूठी-सच्ची प्रशंसा सुनकर भी मन गर्व से फूल न जाए। सुख-दुःख में, सम्पत्ति और विपत्ति में, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में मन का सहज सन्तुलन बनाए रखना ही सच्ची विजय है।

परन्तु आज मनुष्य विपरीत दिशा में कदम बढ़ा रहा है। वह दुनिया को जीतने का स्वप्न देखता है। आज विजया-दशमी है। कहा जाता है, आज के दिन राम ने रावण पर विजय प्राप्त की थी और उस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आज भी रावण का पुतला बनाकर जलाया जाता है। बहुत से बालक भी कहते हैं कि चलो रावण को मारने चलें। तो अभी तक जिन्हें पूरी तरह लंगोटी बाँधना भी नहीं आता

है, वे भी रावण को मारने चले हैं। पर, आपको पता है रावण के पास कितनी विराट् शक्ति थी? यदि आज भी वह पुतला जरा-सा हुँकार उठे, तो मैं समझता हूँ, चारों तरफ भगदड़ मच जाएगी, बड़े-बड़े योद्धाओं का भी वहाँ ठहरना कठिन हो जाएगा। तो उसमें कितना बल था। यह ठीक है कि उसमें कुछ गलतियाँ थीं, और वह अपनी उन गलतियों के कारण ही मरा। लोग कहते हैं कि राम ने रावण को मारा। परन्तु मैं कहूँगा कि रावण ने ही अपने आपको मारा। यदि रावण नैतिक जीवन पर, सदाचार पर दृढ़ रहा होता, तो एक राम क्या, हजार राम मिलकर भी उसे नहीं मार सकते थे। सचाई तो यह है कि रावण को राम ने नहीं, काम ने मारा है। उसके जीवन में निहित दुर्वासना एवं स्वार्थ ने ही उसका सर्वनाश किया है।

अस्तु, रावण को मारने का अर्थ है—विकारों को, बुरे विचारों को, स्वार्थ को मारें। मन के कोने में दुबके अहंकार को, द्वेष को पछाड़ें। हमें आज अन्दर के रावण से लड़ना है। अन्दर में जो जात-पाँत का अहंकार पनप रहा है, पंथों का अहंकार पनप रहा है, सड़ी-गली परम्पराओं का अहंकार पनप रहा है, अन्ध-विश्वास गहरी जड़ें जमा रहा है, उसी से संघर्ष करना है, उसी का जड़ से उन्मूलन करना है। मैं पूछता हूँ, क्या आज आप जात-पाँत के रावण को जला सकेंगे?

आज आप कागज का पुतला जलाकर प्रसन्न हो रहे हैं कि हमने रावण को जला दिया, मार दिया। परन्तु वह मरा कहाँ? वह तो जिन्दा है और इतना ताकतवर बना हुआ है कि आपके ऊपर ही अधिकार जमाए बैठा है, और वह एक ही रावण नहीं, हजार-हजार रावण अन्दर में मौजूद हैं। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, दुर्भावना, जात-पाँत, पंथ-भेद आदि दुनिया भर के रावण आपके अन्दर धूम मचा रहे हैं। और आप बाहर में कागज का रावण जलाकर राम की विजय का

उत्सव मना रहे हैं। परन्तु यदि एक शायर की भाषा में कहूँ, तो—

"संसार कयामत के दहाने पै खड़ा है,
रावण तो हजारों हैं पर राम कहाँ है?"

आज संसार कयामत के कगार पर खड़ा है। सर्वनाश के किनारे पर पहुँच गया है। यदि जरा भी और आगे बढ़ा तो मौत के मुँह में ही समझो। आज संसार को फैसला करना है कि वह राम के शासन में रहे या रावण के? परन्तु फैसला हो कैसे? क्योंकि दुनिया में रावण तो हजारों-लाखों हैं, पर राम कहाँ है? यत्र-तत्र-सर्वत्र रावण का ही शासन नजर आता है।

संसार में विषय-कषाय का जाल फैला है। मनुष्य धन और वैभव के पीछे बेतहाशा दौड़ रहा है। वह स्वर्ण के पीछे पागल बन गया है। आपके ध्यान में होगा कि सोने के मृग ने राम को भुलावे में डाल दिया और जब राम उसके पीछे दौड़े, तो उनकी क्या स्थिति हुई? सीता को हाथ से गँवा बैठे। पर, आज तो हजारों-लाखों राम सोने के मृग के पीछे दौड़ लगा रहे हैं, और सोने के मोह में इतने पागल बन गए हैं कि उन्हें अपने समाज, देश, धर्म, और संस्कृति का भी कुछ पता नहीं है। वे सर्वस्व की बाजी लगाकर वासना एवं धन-दौलत के पीछे दौड़ रहे हैं और इधर धर्म, संस्कृति और शान्ति की सीता को अहं का और मम का रावण भगाए ले जा रहा है, इसका उसे जरा भी भान नहीं है। एक शायर ने कहा है—

"हम खुदा थे गर न होता दिल में कोई मुद्दआ,
आरजूओं ने हमारी हमको बन्दा कर दिया।"

प्रत्येक आत्मा खुदा है, ईश्वर है, भगवान् है, और 'जिन' है। प्रत्येक आत्मा में विराट् शक्ति है, ईश्वरीय ज्योति जगमगा रही है। हर एक मानव में राम का अलौकिक तेज चमक रहा है। परन्तु इस सोने के

मृग के पीछे, अथवा यों कहिए कि वासना एवं धन-वैभव के पीछे मनुष्य उन्मत्त की तरह दौड़ लगा रहा है। उसे अपने पन का परिज्ञान ही नहीं है कि वह कौन है? उसे बनना चाहिए था—मन एवं इन्द्रियों का स्वामी, परन्तु वह उनका गुलाम बन गया है। उनकी गुलामी से मनुष्य इतना दुर्बल हो गया कि कोई निन्दा करता है, तब भी वह पागल बन जाता है और कोई जरा-सी प्रशंसा करता है, तब भी वह पागल बन जाता है। वह न तो काँटों की नोंक पर चल सकता है, और न फूलों की कोमल पगडन्डी पर ही। हाँ तो, मनुष्य के जीवन में अभी तक वह कला नहीं आई कि वह दुःख-सुख के प्रबल वेग में भी अपने आपको स्थिर रख सके।

आज का दिन केवल कागज के रावण को जलाने का नहीं, अपितु अन्दर के रावण को जलाने का है। कषायों को, विषय-वासना को, दुर्भावनाओं को जलाने का है। यदि आप व्यक्तिगत, पारिवारिक, तथा सामाजिक जीवन में प्रविष्ट अहंकार और अन्ध विश्वासों के रावण को जला सके; गलत धारणाओं, निष्प्राण रूढ़ियों, सड़ी-गली परम्पराओं, तथा अपने अन्दर की भूलों से लड़ सके, वास्तव में तभी आप सच्ची विजय के अधिकारी हैं। और सारा संसार आपको विश्व विजेता के रूप में आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देख सकता है और आपकी विजय पताका विश्व के कोने-कोने में लहरा सकती है।

दिनांक
१५-१०-५६.

कुचेरा (राजस्थान)

—: १६ :—

अन्तर्मुख वृत्ति

भगवान् महावीर राजभवनों का परित्याग कर निर्जन वन में घोर तपश्चरण करते हैं। वे जब कभी भिक्षा के लिए गाँव या नगर में आते हैं, तब वहाँ के निवासी उनसे पूछते हैं कि—आप कौन हैं? भगवान् अपना परिचय एक ही वाक्य में देते हैं—"मैं भिक्षु हूँ।"

मूल आगम साहित्य में भी यह वर्णन है। पीछे के आचार्यों ने भी अपने बनाए ग्रन्थों में ऐसा ही वर्णन किया है। और जब हम उक्त वर्णनों को पढ़ते हैं, तो मन गद्गद् हो उठता है कि—'वह महापुरुष अपनी विराट साधना में कितना विनम्र होकर चला था!'

वह विराट पुरुष अपना परिचय दे सकता था। परिचय देने के लिए उनके पास विपुल सामग्री थी। वे यह कह सकते थे कि—"मैं कुण्डनपुर के महाराज सिद्धार्थ का पुत्र हूँ! वैशाली के महाराज चेटक का भानजा हूँ! बड़े-बड़े सम्राटों से मेरा अमुक-अमुक पारिवारिक सम्बन्ध है।" यह भी तो कह सकते थे कि—"मैं बड़ा दीर्घ तप करता हूँ! देखो, आज ही चार महीने के तप का पारणा है!" वे यह भी कह सकते थे कि—"मैं ऐसे विकट वनों में ध्यानस्थ रहा हूँ, जहाँ हर कदम पर मौत नाचती है, परीषहों एवं कष्टों का तूफान चलता है। किन्तु उन भयंकर तूफानों में

का आग्रह करते हैं।' किन्तु भगवान् महावीर तो राग-द्वेष से परे की उसी शान्त मुद्रा में धीर गम्भीर कदमों से चल पड़ते हैं, पुनः निर्जन वन-भूमि की ओर !!

हाँ तो, उस महापुरुष ने जो भी तप-साधना की, उसकी एक-एक अमृत बूँद को वह अन्दर ही पीता गया। एक बूँद भी, बूँद ही क्यों, बूँद का एक कण भी उसने बाहर नहीं बिखेरा। जो कुछ किया, उसे आत्मसात् करता रहा, अपने ही अन्दर पचाता रहा।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो किसी चीज को अपने अन्दर हजम नहीं कर सकते। एक आदमी सुमधुर पौष्टिक भोजन तो करता है, परन्तु उसे पचा नहीं सकता। वह भोजन करके उठा कि झट उल्टी कर देता है। आप ही कहिए, उस भोजन का क्या अर्थ हुआ ? कुछ नहीं, अपितु जीवन के लिए यह तो एक भयंकर खतरे की घंटी है।

हाँ तो, कुछ साधक ऐसे हैं, जो एक ओर तो तप-साधना का पौष्टिक भोजन करते हैं, और दूसरी ओर उसका अमर्यादित प्रदर्शन करके उल्टी कर देते हैं। एक मास का लम्बा तप किया। पारणे का समय निकट आते ही तपस्वी जी को चिन्ता होने लगी कि—तप-महोत्सव की पत्रिका छपी या नहीं ? यदि नहीं छपी है, तो बातों-बातों में कहना शुरू होता है कि—"हमने अमुक शहर में चातुर्मास किया था, तो वहाँ के संघ ने बहुत ठाठ-बाट से तपोत्सव मनाया, पत्रिकाएँ छपवाईं, प्रभावना वितरण की। तुम लोग तो यहाँ कुछ नहीं करते ! तुमने हमारा चौमासा कराया है, या तमाशा ?" और यदि इच्छानुसार पत्रिकाएँ छप जाती हैं, तपोत्सव पर एक-दो हजार आदमियों की भीड़ जमा हो जाती है, तो उसे देखकर मन में बड़ी प्रसन्नता होती है, और बस इतने में तप-साधना की सफलता समझ ली जाती है। उक्त तपस्वी ने एक महीने के तप का पौष्टिक भोजन तो अवश्य किया; किन्तु विज्ञापन के रूप में ढिंढोरा पीटकर, उसने एक प्रकार से तप की उल्टी कर दी। वह उसे पचा नहीं सका।

यही बात दान के सम्बन्ध में भी है। दान दिया, परन्तु मन में यह जानने की उत्कण्ठा लगी है कि—"जनता में मेरे दान की प्रशंसा हो रही है या नहीं, समाचार पत्रों के मुख-पृष्ठ पर दानवीर के लम्बे-चौड़े विशेषण के साथ मेरा नाम छपा है, या नहीं ?"

दान का भोजन, एक बहुत अच्छा आध्यात्मिक भोजन है। आत्मा को परिपुष्ट करने वाला है। शास्त्रकारों ने दान को अमृत भोजन कहा है। परन्तु जब दानदाता अपनी उदारता एवं दानशीलता का विज्ञापन करने बैठता है, तो वह अपने दान की उल्टी कर देता है, उसे अन्दर में अच्छी तरह पचा नहीं पाता है।

दुर्भाग्य से आज धर्म के प्रत्येक क्षेत्र में यही कुछ होरहा है। बाहर में तो आडम्बर बढ़ रहे हैं, किन्तु अन्दर में साधक का जीवन खोखला होता जा रहा है। कल्पना कीजिए—एक बीमार स्वर्ण भस्म खाता है और महीनों तक खाता रहता है। फिर भी उसकी दुर्बलता दूर नहीं होती। क्या कारण है ? कारण स्पष्ट है कि—स्वर्ण भस्म का तो सेवन किया, परन्तु जैसा उसका परहेज चाहिए था, वह नहीं पाला गया।

आज समाज में काफी धार्मिक क्रिया-काण्ड होता है, तप-साधना भी होती है, फिर भी समाज प्रतिदिन दुर्बल क्यों हो रहा है ? क्या आप इस प्रश्न का समाधान चाहते हैं ? समाधान स्पष्ट है कि—साधना की स्वर्ण भस्म तो खाई जाती है, परन्तु उसके अनुकूल परहेज नहीं रखा जाता, अपितु उल्टी कर दी जाती है। आप ही कहिए, ऐसी स्थिति में यदि वह हृष्ट-पुष्ट बने, तो कैसे बने ?

आज तो छोटी-से-छोटी क्रियाओं का भी लम्बा-चौड़ा जमा खर्च होता है। आप चातुर्मास में जितनी सामायिक करते है, पौषध-उपवास करते हैं, भजन-वन्दन करते हैं, वह सब खूब बढ़ा-चढ़ाकर रजिस्टर में नोट करते जाते हैं। आजकल तो तपस्या का भी सट्टा खेला जाने लगा है। कागज के छोटे-छोटे टुकड़ों पर—बेला, तेला, चोला, पंचोला आदि तपों के अंक लिखकर एक पात्र में डाल देते हैं, और फिर भद्र भाई बहनों

से एक-एक पर्चा उठवाते हैं। बस, जिसके हाथ में जो अंक आता है, उसे वही बेला, तेला आदि तप करना होता है। इसमें यह नहीं देखा जाता कि—साधक तेला आदि दीर्घ तप करने की क्षमता रखता भी है, या नहीं ? उसकी शारीरिक स्थिति इतना बड़ा तप करने की है भी, या नहीं ? मैं तो कहूँगा—जैन-धर्म का यह सिद्धान्त नहीं है कि किसी को जबरदस्ती तप कराया जाए। जैन-धर्म और तो क्या, एक नवकारसी का तप भी जबरदस्ती नहीं कराता है। आपको मालूम होगा कि जैन-धर्म की प्रक्रिया जबरदस्ती त्याग कराने की नहीं है, अपितु स्वयं अपनी इच्छा से त्याग करने की है। प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में ही पाठ बोलते हैं, "इच्छामिणं भन्ते......।" हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। अन्य पाठों में भी प्रायः यही बात है कि—'मैं अमुक साधना करना चाहता हूँ।' हाँ तो, जैन-धर्म की मूल प्रक्रिया स्वयं करने की है, कराने की नहीं। परन्तु आज तो प्रदर्शन का युग है, अतः येन-केन-प्रकारेण साधना कराई जाती है। और फिर साधना का जितना अमृत भोजन किया जाता है, सम्वत्सरी के महापर्व पर पत्रिका के रूप में अनर्गल विज्ञापन करके उसकी उल्टी कर दी जाती है।

जब से साधना के क्षेत्र में विज्ञापनबाजी को महत्त्व मिला है, तब से साधना का रस सूखता जा रहा है। एक आम का हरा-भरा वृक्ष है। आप उसकी जड़ों को दिखाने के लिए आस-पास की सारी मिट्टी अलग कर दें और लोगों को एक-एक जड़ दिखाने लगें, तो क्या वह वृक्ष हरा-भरा रह सकेगा ? फिर से पल्लवित या पुष्पित हो सकेगा ? नहीं, कदापि नहीं ! उसका एक-एक पत्ता सूख जाएगा, जड़ों के ऊपर की मिट्टी हटने के बाद वह विराट वृक्ष जीवित नहीं रह सकता। वह उसी हालत में हरा-भरा एवं प्राणवान् रह सकता है, जबकि उसकी जड़ें जमीन में दूर तक गहरी जमीं हो और उसके ऊपर काफी मात्रा में मिट्टी का स्तर हो।

आप भी तप का विराट कल्प-वृक्ष लगा रहे हैं। किन्तु पत्रिका,

साहित्य, साहमीवच्छल और ढोल-ढमाके के रूप में उसकी जड़ों को खोद-खोदकर बाहर दिखा भी रहे हैं, तो वह कल्प-वृक्ष सूखेगा नहीं, तो क्या होगा ? वस्तुतः हमारी साधना की जड़ें गहरी होनी चाहिएँ। वह जितनी गुप्त रहेंगी, उतना ही साधना का महत्त्व चमकेगा।

शरीर को सशक्त रखने के लिए आप भी भोजन करते हैं, और एक बच्चा भी भोजन करता है। परन्तु दोनों के भोजन की प्रक्रिया में अन्तर क्या है? इतना ही तो अन्तर है कि बच्चा जो कुछ खाता है, जिसका रसास्वादन करता है, उसे इधर-उधर प्रकट करता-फिरता है। वह जहाँ भी बच्चों से मिलता है, सबको यही कहता है कि मैंने आज रसगुल्ला खाया है, या अमुक पदार्थ खाया है। परन्तु आप अपने खाए हुए पदार्थों का ढिंढोरा नहीं पीटते। यदि आप भी गली-गली में अपने भोजन का विज्ञापन करते फिरते हैं, तो आप भी बच्चे हैं। बच्चे में अज्ञान है, अतः वह ढिंढोरा पीटता है। परन्तु आप में समझ है, इसीलिए आप सोचते हैं कि भोजन शरीर की क्षति-पूर्ति के लिए करते हैं, प्रदर्शन करने के लिए नहीं। अस्तु, आप साधारण या असाधारण कुछ भी भोजन करेंगे, उसका सब जगह ढिंढोरा नहीं पीटेंगे। परन्तु बच्चा जो कुछ भी खाएगा, उसका सर्वत्र ढिंढोरा पीटता रहेगा। क्योंकि आपका सांस्कृतिक हाजमा दुरुस्त है, और बालक का नहीं है।

साधना के लिए भी यही बात है, कि—साधना आत्मा और मन को माँजने के लिए है। चाहे वह कम हो या ज्यादा, अपने जीवन को सशक्त बनाने के लिए है, न कि बाहर में विज्ञापन करने के लिए। साधना के क्षेत्र में प्रदर्शन का कोई महत्त्व नहीं है। भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर बात कही है—साधक! तू दान, शील आदि की जो भी साधना कर रहा है, वह इस लोक में सुख पाने की इच्छा से मत कर! परलोक में स्वर्गीय सुखों को पाने के लिए भी मत कर! सम्भव है, आसक्ति वश ऐसी स्थिति में चले जाओ कि—तुम्हारी साधना तो ऊँची है और माँग बैठे थोड़ा, तो समस्या का हल नहीं होगा।

और यदि साधना है थोड़ी और माँग बैठे ज्यादा, तब भी समस्या का सही हल नहीं होगा। अतः न तो सांसारिक सुखेच्छा से, न परलोक की सुखेच्छा से लालायित होकर तप करें, और न यश-कीर्त्ति पाने की भावना से ही साधना करें।

तब फिर किस लिए करें? अपने आप में जो अर्हन्त का, सिद्ध का, परमात्मा का स्वरूप अन्तर्निहित है, उसे पाने के लिए, उसे उद्‌बुद्ध करने के लिए—तप, त्याग, दान, शील आदि की साधना करें। अभिप्राय यह हुआ कि जब साधना को तोलने लगो तो तुला के दूसरे पलड़े पर न परिवार के, न धन-वैभव के, न यश-कीर्त्ति के, न नरक-स्वर्ग के बाट रखो। अर्थात् साधना को तोलने के लिए स्वर्ग-नरक, धन-वैभव एवं यश-कीर्ति की आकांक्षा भी नहीं चाहिए। उसे तोलने के लिए तो जीवन की पवित्रता, निर्मलता, निश्छलता एवं निष्कपटता ही चाहिए।

भारतीय मनीषियों ने साधना के तीन रूप माने हैं। जो साधक साधना करता है; परन्तु उसका प्रदर्शन नहीं करता, तो उसकी वह साधना 'दूध' है। यदि उसमें इतनी ताकत नहीं है कि वह अपनी साधना को अपने अन्दर हजम कर सके, तो वह अपनी साधना को अपने साथियों के सामने प्रकट कर देता है, अतः वह साधना दूध से 'पानी' बन गई। उसमें इतनी ताकत तो नहीं रही, जितनी दूध में है, फिर भी पानी सूखे गले को तर तो कर सकेगा। परन्तु जब साधक साधना के पहले भी ढोल पीटता है और जब तक साधना चलती है, तब तक प्रदर्शन करता रहता है और उसकी समाप्ति के बाद भी उसका विज्ञापन करता रहता है, तो उसके लिए कहा गया कि—उसकी वह साधना न 'दूध' रही, और न 'पानी' ही, वह तो 'जहर' बन गई। नवनीत था तो अमृत, परन्तु जब उसे काँसे के बर्तन में अधिक मथा, तो वह जहर बन गया।

हाँ तो, दान आदि क्रिया ऐसी हो कि बाहर तो क्या, अपने साथ रहने वालों को भी उसका पता न लगे। गुजरात के इतिहास में जगडूशाह का वर्णन आता है। वह उस युग का धन-कुबेर रहा है। उसके जीवन-

काल में एक बार भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। भूख से छटपटा कर लोग मरने लगे, गाँव के गाँव उजड़ने लगे, सब ओर हा-हाकार मच गया। तो शाह ने देखा कि जो ये धन के ढेर लगे हैं, वे किस काम आएँगे। अब समय आ गया है कि इस वैभव का सदुपयोग किया जाय। नहीं तो एक दिन मुझे तो जाना ही है और यह सारा वैभव भी यहीं पड़ा रहेगा। अतः समय पर इससे क्यों न लाभ उठा लूँ? यदि इस समय लाभ न उठा सका, तो न मालूम, फिर यह अवसर कब मिलेगा? यह थी शाह की उदार दृष्टि।

परन्तु आज मनुष्य आगे की, परोक्ष की बात सोचता है। वह अपने सामने गुजरने वाले समय को नहीं देखता। एक प्यासा आदमी गंगा के किनारे बैठा है। सामने गंगा की निर्मल धारा बह रही है और वह आने-जाने वाले पथिक से पूछे कि—भाई! बताओ तालाब और कुआँ कहाँ है? मुझे बहुत प्यास लग रही है! यह सुनकर, आप उसकी मूर्खता पर हँसेंगे और उसे कहेंगे—अरे मूर्ख! तेरे सामने गंगा का स्वच्छ पानी बह रहा है, इसे छोड़कर कुएँ और तालाब के बन्द एवं गन्दे पानी को पूछता है!!

आज के साधकों की भी कुछ ऐसी ही स्थिति हो रही है। वर्त्तमान जीवन में जो साधना की निर्मलगंगा बह रही है, उससे लाभ न उठाकर, भविष्य के सुनहरे स्वप्न देखते हैं। आपके शरीर में सेवा करने की शक्ति है, और सेवा करने का सुन्दर अवसर भी मिला है। परन्तु आप कहें कि 'जब वज्रऋषभ नाराच संहनन मिलेगा, तब सेवा करूँगा!' तो इससे अधिक मूर्खता और क्या होगी? भविष्य में जब मिलेगा, तब मिलेगा? वर्त्तमान स्थिति में यथाप्राप्त साधना-सामग्री का तो उचित उपयोग कर लो।

जैन-धर्म के उस महारथी ने विचारा कि मुझे आज अपने भाइयों की सेवा का सुअवसर मिला है, उसका लाभ उठाना चाहिए। उन्होंने एक स्थान पर धन के ढेर लगाए और अपने चारों ओर कनात का घेरा

डालकर उसमें यथा स्थान बनाये गए छेदों से भूखी जनता को धन वितरण करने लगा।

जब उससे पूछा गया कि'—आपने अपने को कनात में क्यों छिपा रखा है?' तो उसने कहा—'दुष्काल का समय है। इस वक्त अच्छे खानदान के व्यक्ति दान लेने आ सकते हैं और अच्छे घराने की बहनें भी दान लेने आ सकती हैं। अपनी और दूसरी बिरादरी के लोग भी दान लेने आ सकते हैं। यदि उस समय मैं खुले रूप में दान देने बैठूं, तो दान लेने में उन्हें शर्म आ सकती है, या दान देते हुए मेरे अन्दर अभिमान जाग सकता है कि—मैं अमुक व्यक्ति को दान देता हूँ। और कालान्तर में कोई कुछ कहे तो उसे यह कहकर दबा सकता हूँ कि—तू मेरे सामने क्या बकझक कर रहा है? क्या याद नहीं है, दुर्भिक्ष के समय मैंने तेरी सहायता की थी? इस तरह कभी समय पर मैं अपने आप पर नियंत्रण न रख सकूँ और मेरे अन्दर अहंभाव जाग उठे, तो उससे बचने के लिए मैं कनात के आवरण में छिपकर दान देता हूँ। जिससे मुझे यह मालूम न हो कि मैं किस को दान दे रहा हूँ।" तो जगड़ूशाह की इस उदात्त भावना ने उसे अजर-अमर बना दिया। वह लाखों-करोड़ों का दान देता रहा, फिर भी उसने कभी भी यह जानने का प्रयास नहीं किया कि मैंने किस व्यक्ति को कितना दान दिया, तथा मेरी यश-कीर्त्ति कितनी फैली?

अस्तु, हमारी साधना की पद्धति इस तरह की हो, कि हम उसका विज्ञापन न करें, अपनी आत्म-प्रशंसा से दूर रहें। भले ही वह साधना श्रावक-समाज की हो या साधु-समाज की। आप में योग्यता है तो सर्वोत्कृष्ट क्रिया-काण्ड एवं आचार पाल सकते हैं, कठोर तप कर सकते हैं, ऊँची साधना साध सकते हैं। चारित्र एवं साधना का सम्बन्ध आपके जीवन से है। और मैं तो यह समझता हूँ कि—जो कोई भी श्रावक या साधु अन्तमुंख एवं शान्तमना होकर मौन भाव से चारित्र का

आराधन करेगा तो उसकी साधना की महक अपने आप चतुर्दिक् में फैलती जाएगी।

दुर्भाग्य है, आज तो साधना के, क्रिया-काण्ड के, उत्कृष्ट चारित्र-पालन के प्रशंसा-पत्र बटोरे जाते हैं। एक साधक ने यत्र-तत्र से इकट्ठे किए हुए अभिनन्दन पत्रों की गाँठ बाँध रखी थी। मैंने उनसे कहा—आपके ये अभिनन्दन पत्र कब तक जीवित रहेंगे? बड़े-बड़े सम्राटों की स्मृतियों को भी आज काल के थपेड़ों ने विस्मृति के अन्धकार में इतनी दूर फेंक दिया है कि ढूंढ़ने पर भी उनका नाम-निशान तक नहीं मिलता, तो ये कागज के टुकड़ों पर लिखे हुए प्रशंसा-पत्र कितने दिनों तक जिन्दा रहेंगे? यह तो दुर्बल साधक के मन का व्यामोह है कि—इन प्रशंसा पत्रों से मेरी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहेगी।

जो तप-साधना की जाती है, वह अभिनन्दन पत्र पाने के लिए नहीं, अपितु अपने जीवन को ऊपर उठाने के लिए है। धन्ना-मुनि ने तप किया और उत्कृष्ट तप किया। शास्त्र में उसका विस्तृत वर्णन है। किन्तु कहीं पर, किसी के सामने धन्ना-मुनि को अपनी, अपने तप की प्रशंसा करते देखते हैं? नहीं। यदि उस घोर-तप की प्रशंसा करते हुए देखते हैं, तो भगवान् महावीर को देखते हैं। और वह भी जब श्रेणिक पूछता है कि—"भगवन्! आपके एक से एक बढ़कर चौदह हजार शिष्य हैं, उनमें सबसे उत्कृष्ट करनी करने वाला शिष्य कौन है?" तब भगवान् ने कहा—"हे श्रेणिक! मेरे चौदह हजार शिष्यों में सर्वोत्कृष्ट तप करने वाले धन्ना-मुनि हैं।" तो जिन साधुओं ने अभिनन्दन पत्र इकट्ठे किए हैं, जिन सम्राटों ने सोने के महल खड़े किए हैं, ऐश्वर्य का ढेर लगाया है, उनका तो आज कोई नाम-निशान नहीं है। परन्तु भगवान् महावीर ने धन्ना-मुनि के सम्बन्ध में जो एक-दो शब्द कहे, वे २५०० वर्ष से साहित्याकाश में गूंजते आरहे हैं जीवित हैं और हमारी परम्परा के अनुसार इसी प्रकार अविराम गति से गूंजते ही रहेंगे।

परन्तु आज जो पत्रिकाएँ छपवाते हैं, तपोत्सव करते हैं, तो ये प्रशंसा के प्रदर्शन कब तक जिन्दा रहते हैं ? आप पत्रिका में छपवाते हैं कि—हमारे यहाँ जैन-धर्म दिवाकर अमुक मुनि विराजते हैं और आप आकाश में नित्य प्रति देखते हैं कि जब एक दिवाकर उदय होता है, तो वह सारे अन्धेरे को दूर कर देता है। परन्तु दुर्भाग्य है, आज समाज में अनेकों जैन-धर्म दिवाकर उदित हैं, फिर भी समाज के अज्ञान, अन्ध-विश्वास, भ्रम, सड़ी-गली परम्पराओं के अन्धेरे को दूर नहीं कर सके, समाज में प्रसारित भ्रान्त धारणाओं को, अनैतिक प्रवृत्तियों को हटा नहीं सके। कारण ? कारण स्पष्ट है—प्रशंसा की चाह। धन्ना के मन में प्रशंसा पाने की वासना नहीं थी। उस महापुरुष ने कभी नहीं चाहा कि—भगवान् मेरे तप की प्रशंसा करें।

अभिप्राय यह है कि जहाँ इच्छा नहीं है, तमन्ना नहीं है, वहीं साधना की पराग या यश कीर्त्ति चतुर्दिक में फैल जाती है। और वही सच्चा साधक है, वही सच्चा सन्त है। जिसके हृदय में साधना का प्रदर्शन करने की चाह है, प्रशंसा की भूख है, वह भिखारी है। यदि कोई यश या प्रतिष्ठा पाने के लिए दान देता है, तप करता है, उत्कृष्ट चारित्र पालता है, तो वह भी भिखारी है। यदि साधु भी अपने चारित्र का विज्ञापन करता है और दूसरों को शिथिलाचारी या असाधु बताता है, तो वह भी भिखारी है।

अस्तु, जब साधक अपनी साधना एवं अपने क्रिया-काण्ड की प्रशंसा के पुल बाँधने लगता है तथा दूसरे की निन्दा-बुराई करता है, तब उसकी वह अमृतमय साधना जहर बनकर उसके त्याग-निष्ठ जीवन को समाप्त कर देती है। इसका कारण ? जब साधक अपना सारा जीवन दूसरे के छिद्र देखने में लगा देता है, तो उसे अवकाश ही नहीं मिल पाता कि वह अपने जीवन के अन्दर झाँककर अपने दोषों को देखकर दूर कर सके। और भगवान् महावीर के शब्दों में—अपने परिचय-पत्र को विस्मृति के एक कोने में फेंक दे। यदि कभी पूछने पर परिचय देना

भी पड़े, तो बस, इतना ही परिचय पर्याप्त है कि—"मैं एक भिक्षु हूँ, एक श्रमण हूँ, एक साधक हूँ, या एक श्रावक हूँ।"

आज के साधक को अपनी सामायिक, तप, दान, शील एवं श्रावकत्व की तथा साधुत्व की साधना के अमृत को, साधना के मक्खन को अपने अन्दर हजम करना है। अपनी आत्म-श्लाघा तथा दूसरे की निन्दा-बुराई करने से बचना है। अपनी साधना का विज्ञापन करने की मनोवृत्ति का त्याग करना है। अपनी प्रतिष्ठा के व्यामोह को छोड़ना है।

अस्तु, किसी तरह का बाहरी प्रदर्शन किए बिना, एकान्त जीवन-शुद्धि के लिए तप, दान, दया, शील, अहिंसा, सत्य, अणुव्रत एवं महाव्रत की साधना करेंगे—तो वह अन्तर्मुखी साधना आपके जीवन को ऊपर उठा सकेगी, उज्ज्वल बना सकेगी और आपकी यश-कीर्त्ति को अजर-अमर बना सकेगी।

दिनांक
२३-१०-५६ कुचेरा (राजस्थान)

—: १७ :—

प्रदर्शन ?

आप भोजन करने बैठे हैं। चाँदी के थाल में नाना प्रकार के मिष्टान्न भरे पड़े हैं। स्वादिष्ट पक्वान्नों की मनोमुग्धकारी सुगन्ध वायु-मण्डल में फैल रही है। आनन्द और उल्लास के क्षणों में आप थाल में से एक कौर मुँह में रखने जा रहे हैं कि उसी समय किसी ने सूचना दी कि—'इस भोजन में जहर मिला है।' सुनते ही आपके मन का सारा उल्लास समाप्त हो जाएगा। हाथ का कौर हाथ में ही रह जाएगा, क्योंकि मालूम होने पर कोई भी समझदार व्यक्ति उस विष-मिश्रित भोजन का एक कण भी मुँह में नहीं डालेगा ? यदि कोई स्वाद के वश होकर खा लेता है, तो उसका परिणाम होगा—मृत्यु ! जो जीवन के मधुर क्षणों को सदैव के लिए खो देगा।

हमारा जो जीवन चल रहा है, उस को हमने कितनी ही बार प्राप्त किया है। अनन्त-अनन्त काल से जीवन पाते रहे हैं और मरते भी रहे हैं। परन्तु कितनी देर के लिए ? मृत्यु एक, दो या तीन समय के लिए ही होती है। फिर नये शरीर में नया जीवन चालू हो जाता है। और उस जीवन को सुरक्षित रखने के लिए हम भरसक प्रयत्न करते हैं। परन्तु क्या हम अपनी आत्म-शक्ति, भाव-प्राण तथा अन्तर्-चेतना

को जीवित रखने के लिए भी कभी प्रयास करते हैं ? आत्म-चेतना को निष्प्राण बनाने के लिए अपने आध्यात्मिक भोजन में जहर तो नहीं मिला रहे हैं ?

आज हमें अपनी साधना के भोजन का निरीक्षण-परीक्षण करना है कि—कहीं उस अमृतमय भोजन में विष का पुट तो नहीं है ? आप उस विशुद्ध आत्म-साधना में वासना का जहर तो नहीं मिला रहे हैं ?

कल्पना कीजिए—एक सज्जन ने सामायिक की हुई है। दूसरा सज्जन आया, उसका भी सामायिक करने का विचार तो था, किन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि वह भाव होने पर भी सामायिक नहीं कर सका। अथवा यों कहिए कि अभी उसकी सामायिक करने की भूमिका आई नहीं थी, अतः वह सन्तों का दर्शन करके ही चल पड़ा।

अब पहला सज्जन, जो सामायिक स्वीकार किए हुए है—दूसरे से कहता है—"अरे! यहाँ आए हो, तो कम से कम एक सामायिक तो करो? कौन-सा लाखों-करोड़ों का व्यापार उजड़ रहा है, जो भागे जा रहे हो ? यों काम-काज तो सबके पीछे लगे ही रहते हैं, हम भी तो अपने घर का काम-धन्धा छोड़कर आए हैं।' यदि आपके अन्तर्मन में यह विचार-धारा काम कर रही हो कि—आगन्तुक सज्जन के मन में साधना की ज्योति जगे, उसे सामायिक करने की शुद्ध प्रेरणा मिले और आप भी यदि सद्भाव के साथ कह रहे हैं, तब तो ये अमृत वचन हैं।

परन्तु यदि आप अवज्ञा के भाव से उसकी मजाक उड़ा रहे हैं। और उसके कहने पर कि—"मेरे घर पर कुछ ऐसा कार्य है, जिससे मैं इस समय सामायिक नहीं कर सकता।" फिर भी आप उस पर व्यंग कसते रहें कि—बड़े काम करने वाले आए ! मानो, हम तो सब निठ्ठले हैं, काम-धन्धे वाले तुम ही हो न ? यदि वह और कोई कारण बताए, तब भी आप उसकी नुक्ता चीनी करते रहें। और आपके अन्तर्मन में अहंभाव जगे कि इसे मैं अपनी श्रेष्ठता बताऊँ कि—देख, मैं कितना धर्म-

परायण हूँ—कि घर का, दुकान का सारा काम-धन्धा छोड़कर सामायिक करता हूँ। यदि मन में इस तरह का अहंभाव उद्वेलित होता है, तो आपको अध्यात्म साधना का जो सुन्दर भोजन मिला था और जो काम-क्रोध आदि विकारों की दुर्बलता को दूर करके आत्मा को परिपुष्ट बनाने वाला था, आत्मा को अजर-अमर बनाने वाला अमृत था; परन्तु खेद है—आपके अहंकार की विषाक्त भावना ने उसे जहरीला बना दिया।

आपके जीवन में धर्म चेतना जगी है। आप साधना के मंच पर बैठे हैं, तपश्चर्या चल रही है। साधना की लहरें जीवन के हर कोने को छू रही हैं। आप किसी सज्जन से कहते हैं कि—"तुम भी तो एक उपवास करो ?" वह कहता है—"मेरे मन में विचारों की तरंगें तो उठती रहती हैं कि मैं भी तप करूँ, परन्तु शारीरिक स्थिति कुछ ऐसी है जिससे तप कर नहीं सकता।" उस समय आपका अहंकार जग उठे और आप उससे कहने लगें—"अरे! तुम एक दिन का भी उपवास नहीं कर सकते ? एक दिन का उपवास करने पर मर थोड़े ही जाओगे ?" यदि उस समय आप अहंकार की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, तो वह आपकी तप-साधना चाहे महीने भर की भी क्यों न हो, आप उसमें जहर घोल रहे हैं। और वह अहंभाव के विष से मिश्रित साधना आपके मन को, आपके जीवन को तथा आपकी आत्मा को उज्ज्वल नहीं बना सकती, आपके पापों को धो नहीं सकती।

तपश्चर्या पहले भी चलती थी और आज भी चल रही है। परन्तु कर्म-शृंखला को तोड़ने की जो प्रचण्ड शक्ति उसमें अतीत में थी, वह आज समाप्त क्यों हो गई ? इतना लम्बा उग्र तप करने पर भी आज साधक कर्म-बन्धन से उन्मुक्त क्यों नहीं हो पाता ? क्या आज की तप-साधना का मूल्य गिर गया है ? नहीं, कदापि नहीं। तप-साधना का मूल्य तो वही है। हाँ, हमने ही उसके विशुद्ध रूप में अभिमान का

जहर घोलकर उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया है, उसके मूल्य को गिरा दिया है।

तो, आज का साधु-समाज और श्रावक-समाज कुछ ऐसी परिस्थिति में से गुजर रहा है, जिससे समाज एवं साधु-संघ ऊँचा नहीं उठ पाता। साधक का काम है—अपने जीवन के मोर्चे पर स्वयं लड़ाई लड़ना, अपने आप में परिवर्तन लाना। हाँ, आप दूसरे को भी प्रेरणा दे सकते हैं, यथावसर उसे जगा भी सकते हैं। परन्तु किसी की अवज्ञा और अवहेलना करके उसे जबरदस्ती साधना के मार्ग पर घसीटने का काम आपका नहीं है। यदि वह शारीरिक या अन्य किसी दुर्बलता के कारण तप नहीं कर सकता है, तो आप अपनी तपस्या का विवरण बताकर उसे नीचा दिखाने की चेष्टा करें या उसकी अवहेलना करें, तो यह गलत है। साधक का काम अपनी मौन साधना करने का है, पर साधना का प्रदर्शन करने का नहीं। परन्तु आज के साधक के मन में कर्त्तव्य की भावना कम है और प्रदर्शन की ज्यादा। वह यत्र-तत्र साधना का ढिंढोरा पीटता रहता है। और जब से प्रदर्शन होने लगा है, तभी से श्रावक-समाज एवं साधु-समाज में साधना की वह चमक कम होती गई।

आज साधक साधना के जिस पथ पर गतिमान है, उस ओर दृष्टि डालते हैं, तो वह साधना के सही मार्ग से दूर पड़ा हुआ परिलक्षित होता है। क्योंकि आज के साधक, पंथ और सम्प्रदाय अपने क्रिया-काण्ड का प्रदर्शन करने में लगे हैं। वे अपने पंथ की कमजोरियों एवं भूलों की ओर कभी लक्ष्य नहीं देते। परन्तु दूसरे पंथ या धर्म के दोष एवं छिद्र देखने में कभी हिचकते नहीं। वे अपनी सारी शक्ति दूसरे के दोषों के अन्वेषण में समाप्त कर देते हैं।

जैन-धर्म की भाषा में इसे बहिर्दृष्टि कहा जाता है। अन्तर्दृष्टि से देखने वाला साधक भी दोषों का अन्वेषण करता है, किन्तु वह उन्हें अपने ही जीवन में देखता है। वह अपने उज्ज्वल जीवन-पट पर लगे

हुए काले धब्बों को दूर करने का प्रयास करता है। वह अपने अन्दर झाँककर देखता है कि—मेरे जीवन में कितने सद्गुण हैं, कितनी सच्चाई है, कितनी सद्भावना है? अपनी अच्छाई और बुराई की तुला पर उसकी दृष्टि रहेगी। वह यह भी देखेगा कि मैं अपने धर्म को जीवन में कितना उतार पाया हूँ। इस अन्तर्दृष्टि के द्वारा साधक अपने जीवन को नापता है। भगवान् महावीर की भाषा में वह सोचता है—

"किं मे कडं किच्च मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥"

"मैंने क्या कर लिया है, और क्या करना शेष है ? कौन-सा ऐसा शक्य कार्य है, जिसे मैं अभी नहीं कर पाया हूँ ?"

इस तरह साधक अपने जीवन की गति-विधि को देखता है और सोचता है कि मेरा विगत जीवन कैसे गुजरा है ? आज दिन-भर की जीवन यात्रा में मैंने क्या किया है ? यह जीवन इन्सान के रूप में गुजरा है या पशु के रूप में ? आज के जीवन में मुझे दर्प के सर्प ने कितनी बार डसा है ? मैंने कितना लोभ-लालच किया है ? आज के दिन मैं अपने अन्दर या बाहर कितना जलता रहा ? पर-निन्दा में कितना समय खर्च किया है ? तथा दूसरे की प्रशंसा करने में अपनी वाणी का मिठास या जीवन की मुस्कान कितनी खर्च की है ?

आत्म-शोधन की यह प्रक्रिया प्रतिक्रमण में बताई गई है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—अपने विगत जीवन का पर्यवलोकन; अर्थात्—अपनी गलतियों को देखना, अपने जीवन को तोलना तथा अपने आपको परखना। जीवन को तोलने का यह अर्थ नहीं है कि शरीर को तोला जाय। शरीर को तोलने का कोई मूल्य नहीं है। शरीर शास्त्र का विशेषज्ञ एक डॉक्टर शरीर के एक-एक भाग को तोले बैठा है। वह शरीर की प्रत्येक हरकत का या शरीर में होने वाली हर प्रक्रिया का परिज्ञान रखता है। परन्तु एक सच्चा साधक जीवन का, आत्मा का डॉक्टर है। वह शरीर को नहीं, आत्मा को

तोलता है। अतः प्रतिक्रमण अपनी जिन्दगी को तोलने के लिए है, मन को तोलने के लिए है। अपने जीवन में होने वाली अच्छाई-बुराई को तोलने के लिए है, हानि-लाभ को तोलने के लिए हैं।

हाँ तो, प्रातः प्रतिक्रमण के समय अपने आपको तोलें कि—रात भर गुजारने के बाद आप अच्छाई में कितने ऊपर उठे हैं ? आपके जीवन में सद्भावना का वजन कितना बढ़ा है ? सदाचार की शक्ति कितने अंश में बढ़ी है ? यदि जीवन में सद्गुणों का वजन घटा है तो कितना घटा है, क्यों घटा है, और किस मनोविकार से घटा है ? यही परिशोधन की प्रक्रिया शाम के प्रतिक्रमण के लिए भी है। दिन भर की भूलों को सायँकाल के समय तोलें। और इसी तरह पक्ष में एक बार पाक्षिक प्रतिक्रमण के रूप में तथा वर्ष में एक बार सम्वत्सरी या पर्युषण प्रतिक्रमण के रूप में अपने जीवन को निरखें-परखें।

अस्तु, अपने जीवन-शोधन का अर्थ है—प्रतिक्रमण। और अपना ही प्रतिक्रमण करने तक सीमित न रहें, बल्कि अपने प्रतिक्रमण के साथ परिवार, समाज, संघ, धर्म, पंथ एवं राष्ट्र का भी प्रतिक्रमण करें। अपने जीवन-शोधन के साथ परिवार आदि के जीवन को भी परखें, उसे भी तोलें। यह नाप-तोल उन सबके विकास को ध्यान में रखकर होनी चाहिए; घृणा, द्वेष और अपमान को लक्ष्य में रखकर नहीं।

परन्तु दुर्भाग्य है, आज का साधक अपने ही जीवन को कम तोल पाता है। होना तो यह चाहिए कि—साधक की दृष्टि अपने अन्तर्जीवन में ज्यादा रहे और बाहर में कम। परन्तु विज्ञापन के व्यामोह में पड़कर आज साधक विपरीत दिशा में आगे बढ़ रहा है। वह अन्तः-शोधन की अपेक्षा बहिर्-शोधन प्रणाली को अधिक महत्त्व दे रहा है। इसी कारण वह अपनी साधना का, अपने छोटे-मोटे हर क्रिया-काण्ड का विज्ञापन अधिक करता है। यह विज्ञापन इस बात का सूचक है कि आज के साधक का अन्तर्जीवन साधना के रस से शून्य है। जो कुछ था वह बाहर आ चुका है, अन्तर तो बिल्कुल खाली पड़ा है।

आप जानते हैं, बाहर में प्रदर्शन कब बढ़ता है ? जब कोई बड़ी गद्दी (फर्म) अन्दर से खोखली हो जाती है, तब उसे कुछ दिन टिकाए रखने के लिए बाहरी शो एवं प्रदर्शन बढ़ा दिए जाते हैं। जब मुर्दे को कुछ दिन रखना होता है, तो शव के ऊपर मसाला लगा देते हैं या कुछ ऐसे पदार्थ लगा देते हैं जिससे एक-दो दिन में सड़ने वाला वह मुर्दा शरीर कुछ समय टिका रहे। हाँ तो, पतन के समय विज्ञापन होने लगता है।

सम्भव है अपनी अच्छी हालत में किसी सेठ ने मोटर न रखी हो, परन्तु गिरती स्थिति में तो वह मोटर भी लाकर खड़ी कर देगा। अभिप्राय यह हुआ—जब मनुष्य भीतर से खोखला होने लगता है, तब अपनी बाहरी शान रखने के लिए वैभव का विज्ञापन करने लगता है। उसका बाहरी 'शो' बढ़ता है, बाहर में सुन्दर नारे लगने लगते हैं, दूसरों की दृष्टि से अपने अन्दर के खोखलेपन को या अन्तर-रहस्य को छिपाने के लिए। यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि—मनुष्य जिस बात का जितना ज्यादा प्रदर्शन करता है, उसके जीवन में उस वस्तु का उतना ही अभाव होता है।

इसी तरह जब जीवन के अन्दर साधना का रस सूख जाता है, तब साधक अपनी प्रतिष्ठा को टिकाए रखने के लिए बाहर में ढिंढोरा पीटने लगता है, साधना के नारे लगाने लगता है। फिर वह अपने अन्दर कुछ नहीं देखता। जो कुछ देखता है, सब बाहर ही देखता है। वह अपने अन्तर-सागर की अतल गहराई में डुबकी नहीं लगाता, बल्कि बाहर की आलोचना करने में और दूसरों पर छींटाकशी करने में उलझा रहता है। इस पर भारत के एक आचार्य ने बहुत बड़ी बात कही है—

"पीत्वा कर्दम-पानीयं भेको रटरटायते"

अर्थात्—"वर्षा ऋतु में मेढ़क गड्ढे में एकत्र गाँव के गन्दे पानी को पीकर रात भर इतने जोर से टर्राता है कि आस-पास में सोने वाले मनुष्य आराम से निद्रा नहीं ले पाते। परन्तु सागर के लाखों-करोड़ों मन पानी में अनेक मच्छ रहते हैं, फिर भी उनका स्वर सुनाई नहीं

देता। विराट् सागर की अतल गहराई में डुबकियाँ लगाने तथा सागर का निर्मल एवं स्वच्छ पानी पीने के बाद वे शोरगुल नहीं मचाते, बाहरी प्रदर्शन नहीं करते।"

किन्तु आज के साधक का जीवन-प्रवाह दूसरी ओर बह रहा है। आप गिनती में सामायिक के ढेर लगा देते हैं, लम्बी तपस्याएँ करते हैं, हजारों रुपये का दान देते हैं। और साधु भी उत्कृष्ट साधना करते हैं, क्रिया-काण्ड करते हैं, घोर-तप करते हैं। परन्तु इस गणना की साधना का क्या महत्त्व ? साधना के क्षेत्र में गिनती का, दिखावे का कोई महत्त्व नहीं है। आपकी महत्त्वपूर्ण साधना वह है—आप जो कुछ कर रहे हैं, उसके पीछे न तो किसी तरह का छिपा अहंभाव हो, और न दिखावे तथा प्रदर्शन की भावना ही हो। फिर भले ही आप एक उपवास या एक नवकारसी ही करते हैं, परन्तु निष्काम भाव से आनन्द एवं उल्लास के साथ करते हैं, अपने आत्म-सागर में चिन्तन-मनन की डुबकियाँ लगाते हुए करते हैं, तो वह जरा-सा तप, स्वल्प-सी क्रिया भी आपकी जिन्दगी को बदल सकती है। यदि जीवन में हर्ष, आनन्द एवं उल्लास की सरिता प्रवहमान नहीं है, जीवन का कोना-कोना सूखा पड़ा है, मन में अहंकार की आग प्रज्वलित है, हृदय में प्रदर्शन की भूख है, तो बड़ी से बड़ी तप साधना, उत्कृष्ट क्रिया-काण्ड एवं बाहरी धूम-धाम साधक के जीवन को उज्ज्वल नहीं बना सकते।

पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व के इतिहास को देखते हैं, तो भगवान् महावीर का जीवन हमारे सामने है। तप की परिसमाप्ति पर पारणे के लिए बड़े-बड़े सम्राट् एवं सेठ-साहूकार आमंत्रण करते रहे होंगे। बड़े-बड़े महलों तथा राजभवनों में भी शायद उन्होंने पारणे किये होंगे, पर आज उनकी कहीं चर्चा नहीं है। हाँ,चन्दना के बाकुले आज भी याद किये जाते हैं। क्या बात है? महलों में खीर एवं मिष्टान्न से किये गए किसी भी पारणे की कोई गौरव गाथा नहीं, किन्तु चन्दना के तुच्छ दान को इतना महत्त्व? और चन्दना जिस भूमिका में खड़ी है, वहाँ उसके हाथ में स्वर्ण

पात्र भी नहीं है। लोहे के टूटे-फूटे छाज में उड़द के उबले हुए कुछ दाने ही पड़े हैं।

चन्दना भी कौन है ? वह संसार की दरिद्र नारी, भेड़ बकरी की तरह बाजार में खरीदी गई दासी! राज-भवन में पलने वाली राज-कन्या की बोलियां लगाई गईं और संसार में श्रेष्ठ गिने जाने वाले धनिकों ने जिसके शील, कुल एवं आचरण को घृणा की दृष्टि से देखा ! जो निरन्तर दुःखों और कष्टों की नोंक पर ही चलती रही !!

फिर भी चन्दना के जीवन का महत्त्व है। अभिप्राय यही है कि प्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि में धन-वैभव का कोई महत्त्व नहीं है। इसीलिए चम्पा एवं कौशाम्बी के राज-भवन आज अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते। आज शतानीक के ऐश्वर्य को कोई याद भी नहीं करता, परन्तु चन्दना का आदर्श एवं त्याग-निष्ठ जीवन आज भी जीवित है। वह उसकी परम-पवित्र एवं उज्ज्वल भावना का, और श्रद्धा-भक्ति एवं सत्य-निष्ठा का महत्त्व है, जिसने उसके जीवन को और उसके दान को अजर-अमर बना दिया।

रामायण के पृष्ठों पर राम के ऐश्वर्य का लम्बा-चौड़ा वर्णन किया गया है। परन्तु जब राम के भोजन का प्रसंग आया, तो भीलनी के झूठे बेरों को ही महत्त्व मिला। यद्यपि राम ने बड़े-बड़े सम्राटों के यहाँ भी भोजन किया होगा, परन्तु इतिहास के पृष्ठों में उसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। और भीलनी के झूठे बेर—भक्तों, कवियों तथा लेखकों की कलम की नोंक पर चढ़कर मधुर बन गए, और अजर-अमर हो गए। वास्तव में वस्तु का अपने-आप में कोई मूल्य नहीं है। मूल्य है—भावना का, आनन्द का, उल्लास एवं प्रेम की तरंगों का। भीलनी ने जब यह सुना कि—राम इस ओर आ रहे हैं, तो उसके मन के कण-कण में आनन्द और हर्ष का सागर ठाठें मारने लगा और उसके उस निश्छल प्रेम ने ही उसके झूठे बेरों को अजर-अमर बना दिया।

महाभारत हमारे सामने है। कौरव और पाण्डवों के बीच होने

वाले महायुद्ध को टालने के लिए श्रीकृष्ण दूत बनकर दुर्योधन के पास पहुँचे, किन्तु शान्ति के तमाम प्रयत्न विफल हो गए। मानवता का पुजारी दानवता के सामने असफल ही रहा।

मानवता की समस्त दलीलें समाप्त हो चुकी थीं। श्रीकृष्ण जैसे विचारक एवं कर्मयोगी जब असफल होकर लौट रहे थे, तब दुर्योधन ने उन्हें भोजन का निमंत्रण दिया। श्रीकृष्ण ने दुःखित हृदय से कहा—दुर्योधन! तुमने मेरे तमाम शान्ति प्रस्ताव ठुकरा दिये, मेरे विचारों को तुमने कोई आदर नहीं दिया, अपितु उनकी खिल्ली उड़ाई है, मजाक की है। मेरे प्रति जब तुम्हारे हृदय में प्रेम, स्नेह, आदर, सम्मान नहीं है; तब मैं तुम्हारे यहाँ भोजन कैसे कर सकता हूँ? स्नेह-शून्य भोजन नीरस है, वह मुझे नहीं चाहिए!

श्री कृष्ण भूखे ही लौट रहे थे कि—उन्हें विदुर का ध्यान आ गया और वे सीधे गंगा के तीर पर विदुर के घर पहुँच गए। वहाँ न तो राज-भवन था, न गद्दी-तकिए थे, न स्वर्ण के थाल में परोसे हुए सुन्दर पक्वान्न ही थे; बल्कि एक छोटी-सी कुटिया थी, बिछाने को चटाई थी, वृक्ष के पत्तों की पत्तलें थीं और खाने लिए थी—साधारण शाक-भाजी। परन्तु उस रूखे-सूखे भोजन के साथ एक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। वह थी—प्रेम, स्नेह, आदर एवं उल्लास की उच्च भावना, जिसका बड़े-बड़े सम्राटों के जीवन में अभाव था। और उस सहज प्रेम ने ही विदुर की साधारण शाक-भाजी को अजर-अमर बना दिया। यह भी कहा जाता है कि विदुरानी प्रेम में इतनी विह्वल हो गईं कि—वह केले का गूदा तो एक तरफ फेंकती गईं और केले के छिलके कृष्ण को देती गईं, और श्रीकृष्ण उन्हें ही बड़े चाव से खाते रहे। हाँ तो, देखा आपने—कृष्ण के जीवन में यह एक ही महत्त्वपूर्ण भोजन रहा है, जोकि लेखकों की कलम का सहारा पाकर आज कागज पर अजर-अमर बन गया है।

मैंने भारतीय संस्कृति की तीन कथाओं का वर्णन किया है। भगवान् महावीर के अनेक पारणों में से चन्दना के यहाँ का वह पारणा

आज भी ज्योतिर्मय है। राम के अन्य भोजनों पर इतिहास मौन है, परन्तु भीलनी के झूठे बेर इतिहास के पृष्ठ पर आज भी चमक रहे हैं। श्री कृष्ण ने अनेक सम्राटों के यहाँ भोजन किया होगा, फिर भी विदुर की शाक-भाजी ही आज भी भक्तों की जबान पर चढ़ी हुई है—"दुर्योधन की मेवा त्यागी, साग विदुर घर खायो।"

अस्तु, भारतवर्ष ने मनुष्य की भावना को और उसकी अन्तर्दृष्टि को ही महत्त्व दिया है। यदि कोई थोड़ा-सा दान दे रहा है, किन्तु उसे श्रद्धा, निष्ठा, एवं प्रेम पूर्वक दे रहा है, तो उसका वह गिनती में थोड़ा-सा दिखाई देने वाला दान भी विज्ञापन के लिए दिए जाने वाले धनिकों के विराट् दान से भी श्रेष्ठतर है।

हाँ तो, साधक अपने अन्तर्जीवन में झाँककर देखे कि—आज क्रिया-काण्ड की, शिथिलाचार को दूर करने की, जो बुलन्द आवाज लगाई जा रही है, और ऊँची साधुता का चारों ओर जो ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसमें कहीं अहंकार तथा स्व-प्रतिष्ठा की यह प्रतिध्वनि तो नहीं गूँज रही है कि—"हमारे मानस में समाज का और धर्म का कितना बड़ा दर्द है ?" या इस वेदना की ओट में हमें अपना व्यक्तिगत अहंकार, स्वार्थी मनोभावना तथा पूजा-प्रतिष्ठा का दर्द तो कहीं बेचैन नहीं कर रहा है ?

जो बात साधु समाज के लिए कही गई है, वही बात आपके परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए भी है। आप जो कुछ भी कार्य कर रहे हैं—विवाह-शादी में, तपस्या में, सन्तों के चातुर्मास में या किसी अन्य उत्सव में जो भी प्रदर्शन करते हैं, उसमें आपका अहंकार तो कहीं नहीं छिपा है। आपका यह प्रदर्शन दूसरों के दिल को जलाने के लिए या दूसरों के मन को ठेस पहुँचाने के लिए तो नहीं है ? यदि व्यक्तिगत अहंकार का पोषण करने के लिए ही यह सब कुछ कर रहे हैं, तो समझना चाहिए कि—अभी तक आप साधना के सही मार्ग पर नहीं चले हैं।

बंग देश में सतीशचन्द्र विद्याभूषण एक महान् दार्शनिक और लेखक

हो गए हैं। एक दूर के यात्री ने उनकी प्रशंसा सुनी और वह उनके घर पहुँचा। वह आगन्तुक उस महान् दार्शनिक की माता के दर्शन करने आया था और यह भावना लेकर आया था कि—उस आदर्श माता के दर्शन पाकर अपने नेत्रों को सफल करूँ, जिसकी ममतामयी गोद में विद्याभूषण का जीवन प्रकाशमान बना है।

वहाँ पहुँचकर उसने देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया। पहले तो वह कल्पना भी नहीं कर सका कि—क्या यह महिला उस विश्व विश्रुत दार्शनिक की माँ हो सकती है? परन्तु पूछने पर मालूम हुआ कि—यही उस प्रतिभा-सम्पन्न पुत्र की माता है, जो अति साधारण वस्त्र पहने हुए है और जिसके हाथ में पीतल के कड़े शोभायमान हैं। फिर भी वह सहसा अपने कानों पर विश्वास नहीं कर सका कि—एक ऐश्वर्य-सम्पन्न पुत्र की माता इस दरिद्र अवस्था में रहती है? क्या, पुत्र अपनी माता का जरा भी आदर नहीं करता? इस प्रकार मन में कई तरह की कल्पनाएँ चल-चित्रों की तरह दौड़ गईं। अन्ततः उसने सोचा कि—यह तो देखूँ, दोनों का स्नेह कैसा है? बात करने पर उसे अनुभव हुआ कि—दोनों में प्रगाढ़ स्नेह है। माता अपने पुत्र की प्रशंसा करते हुए गद्गद् हो उठी, उसके मन का कण-कण नाच उठा।

आखिर आगन्तुक अपना कोई अन्य समाधान न पाकर पूछ बैठा—"आप ऐश्वर्य-सम्पन्न सतीशचन्द्र की माँ होकर भी पीतल के कड़े पहने हुए हैं! यह आपके लिए, आपके सतीश के लिए तथा बंगाल के लिए गौरव की चीज नहीं है।"

सतीश की माँ ने कहा—"तुमने मुझे परखने में भूल की है। मेरा गौरव इसमें नहीं है कि मैं सोने के आभूषणों के बोझ से लदी फिरूँ। मेरा सौन्दर्य सोने के गहनों में बन्द नहीं है, वह तो जीवन की उदारता में ही है। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि—अभी बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा था। मनुष्य भूख से छटपटा कर मर रहे थे, बहुत से आदमियों के लिए अन्न का दाना भी नहीं मिल रहा था। ऐसी विकट परिस्थिति में सतीश

के दान ने, जो मेरे इन्हीं हाथों द्वारा दिया गया था, सारे बंगाल में नव जीवन फूँक दिया। अतः मेरा गौरव गहने पहन कर सम्पत्ति का प्रदर्शन करने में नहीं, अपितु बंगाल के दुःखित भाइयों की सेवा करने में है।"

हाँ तो, साधना का महत्त्व प्रदर्शन के पीछे नहीं है। जब से प्रदर्शन को जरूरत से ज्यादा महत्त्व मिला है, तभी से साधना की चमक धुँधली पड़ गई है। आज की साधना में प्रदर्शन का रूप अधिक रह गया है। जब साधु परिचित क्षेत्र में जाए, तो और ढँग से बरताव रखे और जब अपरिचित क्षेत्र में जाए, तो आचार का कुछ दूसरा ही रूप बनाए। यह आचरण का प्रदर्शन नहीं, तो और क्या है ? यदि साधु के आचरण की भूमिका अपने ही लिए है, तो उसका सदा-सर्वदा तथा सर्वत्र एक रूप होना चाहिए। चाहे दिन हो या रात, अकेला हो या परिषद में हो, सोया हुआ हो या जागृत हो, उसकी साधना की धारा सदा-सर्वदा और सर्वत्र एक ही रूप से प्रवहमान होनी चाहिए। और वही साधना महत्त्वपूर्ण भी है, जो जीवन के कण-कण में एक-रस बन जाए और उसका प्रवाह सदैव पवन के समान प्रवहमान होता रहे।

परन्तु दुर्भाग्य है, आज आचार परम्परा की साधना में विज्ञापन और प्रदर्शन चल रहा है। चाहे उपाश्रय में देखो, चाहे मन्दिर में देखो, या अन्य उपासना क्षेत्र में देखो—यत्र-तत्र-सर्वत्र विज्ञापन और प्रदर्शन की ही धूम है, उसी की चहल-पहल है। कहीं पूजा-पाठ हो रहा है, तो कहीं कीर्त्तन के रूप में भगवान् के नाम का स्वर गूँजित किया जा रहा है; जब कि भारतीय धर्म-शास्त्रों ने एकान्त की साधना को ही महत्त्व दिया है। और उस युग का साधक साधना के लिए गाँव या नगर के बाहर निर्जन वन तथा शान्त गुफाओं में ठह-रता था।

भारतीय आचार्यों का एक दिन यह नारा था कि—"सच्चा साधक

एकान्त वन में या गिरि गुफाओं में मिलता है।" पर, आज तो गाँव या नगर के वीच में मकान चाहिए। यदि मकान में सुनने वाले कम आते हैं, तो नगर के चौराहे पर जाएँगे। जब वहाँ भी उपस्थिति कम होती है, तो वाजार में जाएँगे। और यदि वहाँ भी लोग कम सुनते हैं, तो लाउड-स्पीकर का उपयोग किया जाएगा। यह सब क्या तमाशा है? और किसके लिए है? क्या, भगवान् को सुनाने के लिए है? नहीं! भारत का भगवान् इतना वहरा नहीं है, जो उसके लिए इतनी चिल्ल-पौं की जाए। उसकी ज्ञान-शक्ति तो इतनी सुतीक्ष्ण है कि—वह बिना होठ हिलाए ही मन में होने वाले अजपा जाप को भी सुन लेता है। तब फिर इतना हौ-हल्ला या तूफान किस लिए है? इसके लिए कहना यही होगा कि—आज साधकों का अन्तरंग-स्मरण कम हो गया है। आज का भक्त जो नाम स्मरण करता है, वह जीवन को मांजने के लिए नहीं, वल्कि प्रदर्शन के लिए करता है। और जब प्रदर्शन में ही साधना का महत्त्व समझा जाने लगा, तव फिर नारे तो लगने ही थे, वाजे वजने ही थे।

आज तो मरण भी प्रदर्शन की तुला पर तोला जाने लगा है। साधु की मृत्यु के वाद उसका प्रदर्शन करने के लिए साधू के शव को वहुत देर तक रखा जाता है। कई जगह तो मृत्यु के तार तक दिए जाते हैं और फिर एक-दो दिन आगन्तुकों के आने की राह देखी जाती है। जब कि जैन-धर्म का सिद्धान्त यह वता रहा है कि—अन्तर्मुहूर्त के वाद शव में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। फिर भी यदि कोई प्रमुख साधू दिवंगत हो गया, तो उसका दाह-संस्कार भी प्रदर्शन के साथ ही करेंगे, चाहे उसमें कितने ही जीवों का संहार क्यों न हो जाए? और साथ ही अहिंसा व्रत की अवहेलना भी क्यों न होती दिखलाई दे?

इस तरह आज जप, तप और साधना का रस अपने अन्दर में

कम हो रहा है। उसकी जड़ें अन्दर में गहरी न जमकर, बाहर में फैलती जा रही हैं। और प्रदर्शन एवं विज्ञापन के कीड़े हमारी साधना, दानशीलता, त्याग-तप एवं साधुत्व के वृक्ष को खोखला बना रहे हैं।

सारांश में यही पर्याप्त होगा कि—"सच्चा साधक वही है, जो प्रदर्शन से परे केवल अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाने के लिए साधना की ज्योति जगाता है। और वही सच्ची साधना है, जिसकी महक जीवन के हर कोने में फैलती है।"

दिनांक
२१-१०-५६.

कुचेरा (राजस्थान)

—: १८ :—

दृष्टि बदलिए

मानव-जीवन की दो मुख्य धाराएँ हैं—एक दृष्टि, और दूसरी सृष्टि। दृष्टि का अर्थ है—मनुष्य का चिन्तन-मनन, विचार, विश्वास, और भावना। मनुष्य का जैसा चिन्तन-मनन होगा, उसी रूप में उसका विकास होगा। और सृष्टि का अर्थ है—मनुष्य का रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि। सृष्टि सृजन है। दृष्टि का सृष्टि में उतारना ही सभ्यता और संस्कृति है।

मनुष्य के सामने दृष्टि और सृष्टि दोनों हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि दोनों में से किसे पहले बदलें ? पहले दृष्टि को बदलना आवश्यक है, या सृष्टि को ? यदि परिवर्तन करना ही है, तो पहले कहाँ से शुरू करें ?

कुछ दर्शन हैं, जो पहले सृष्टि को बदलने की बात कहते हैं। उनका अभिप्राय है कि—मनुष्य अपने रहन-सहन को बदले, अपने जीवन को मोड़े, और अपने परिवार तथा समाज के जीवन प्रवाह को भी एक नया मोड़ दे। वह स्वयं अपने तथा दुनिया के जीवन पर नियंत्रण करे।

परन्तु जैन-दर्शन का सदा से यह सिद्धान्त रहा है कि—मानव पहले अपनी दृष्टि बदले। मनुष्य जब तक अपने दृष्टिकोण को नहीं बदल लेता है, तब तक वह उचित विकास नहीं कर सकता। और व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन में अभिनव क्रान्ति भी नहीं कर सकता। यदि वह अपनी अधोमुखी दृष्टि को ऊर्ध्वमुखी

नहीं बनाता है, या संसारोन्मुख दृष्टि को मोक्षाभिमुख नहीं करता है, तो वह अपनी जिन्दगी को नया मोड़ नहीं दे सकता।

अस्तु, जैन-धर्म का दृष्टिकोण है—पहले दृष्टि बदलें, बाद में सृष्टि। अर्थात्–पहले विचार बदलें, पीछे आचार। आचार से पहले विचार को बदलने की आवश्यकता पर, शायद कुछ भाइयों को आश्चर्य होगा। वह भी इसलिए कि व्यक्ति का वास्तविक रूप आचरण के द्वारा प्रकट होता है। परन्तु आचरण किसी भी छोटी-से-छोटी क्रिया को स्वतः कर सकने में स्वतंत्र नहीं है, बल्कि वह तो वाहन रूप उस घोड़े के समान है, जो अपने सवार के संकेत पर गति-प्रगति करता है। अस्तु, इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार रूपी अश्व पर कोई अदृश्य (छिपा-हुआ) सवार अवश्य है। वह अदृश्य सवार है—मन अथवा हृदय, जो अपने विचार रूपी चाबुक के द्वारा आचार रूपी अश्व को प्रति पल हाँकता रहता है। अतः यदि हम आचार रूपी अश्व (घोड़े) को सत्-मार्ग पर देखना चाहते हैं, तो घोड़े की गति बदलने से पहले, हमें अपने हृदय रूपी सवार को संयमशील एवं विवेकपूर्ण बनाना चाहिए; क्योंकि विचार के साथ बदला हुआ आचार ही महत्त्व रखता है। बिना दृष्टि के बदले, सृष्टि बदलना कोई अर्थ नहीं रखता।

प्रायः आप सुनते आए हैं कि मनुष्य नरक में कितनी भूख सहकर आया है। वहाँ उसने कितनी तीव्र वेदना सहन की है। कितनी यातना, कितने कष्ट एवं कितने संकट सहन किये हैं। परन्तु उन सब को हम तप-साधना नहीं कहते, अपितु वह तो केवल भूखे मरना है।वह भूख और वह वेदना बद्ध कर्मों को तोड़ने वाली नहीं, अपितु अनन्त-अनन्त नये कर्मों को बाँधने वाली है।

मनुष्य नरक में प्यासा भी रहा। और इतना प्यासा रहा कि मानो, अकेला ही समुद्र का सारा जल पी जाए। यदि किसी नैरयिक को लाकर गंगा के तट पर खड़ा कर दिया जाय, तो वह अपनी प्यास के सन्तुलन में यही कल्पना करेगा कि कितना थोड़ा जल है? भला, इससे

मेरी प्यास कैसे बुझ सकती है? और उस समय यदि कोई दूसरा व्यक्ति वहाँ आ पहुँचे, तो वह नैरयिक उससे लड़ेगा और झिड़क कर कहेगा—"अरे दुष्ट ! तू कहाँ से आ गया ? यदि तू भी यहाँ पानी पीएगा तो बतला, फिर मैं क्या पीऊँगा ?" वह इतनी प्यास महसूस करता है, किन्तु फिर भी पीने को जीवन भर पानी की एक बूँद भी नसीब नहीं होती। तो क्या, वह प्यास उसके जीवन में कुछ क्रान्ति ला सकी है ? नहीं, बिल्कुल नहीं।

बात यह है कि उसकी दृष्टि नहीं बदली है और उसकी भावना अभी तक अधोमुखी ही है। जिसके फलस्वरूप वह निरन्तर संसार की की ओर दौड़ता रहा है। यहाँ संसार का अर्थ—परिवार नहीं है। और संसार का अर्थ—समाज भी नहीं है। न उसका अर्थ—राष्ट्र एवं विश्व ही है। यहाँ संसार का अर्थ है—"प्राणी के अन्तर्जीवन में प्रवह-मान राग-द्वेप की तीव्र परिणति।" इस परिणति के द्वारा मनुष्य अपने ही संकीर्ण स्वार्थों को महत्त्व देता रहता है।

वस्तुस्थिति यह है कि हम अनन्त-अनन्त काल में, अनन्त-अनन्त बार कर्मों को बाँधते रहे हैं, और उनसे आंशिक रूप में छुटकारा भी पाते रहे हैं। अभिप्राय यही है कि—आठों कर्म एक ही बार अनन्त-अनन्त काल के लिए एक साथ तो बाँधे नहीं जा सकते। यदि ज्ञान-वरणीय कर्म को लें, तो वह अनन्त बार बँध चुका है। सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति वाला मोहनीय कर्म भी अनन्त बार बँध चुका है। हम उसे बाँधते हैं और बाँधने के बाद उसे भोगकर अलग कर देते हैं, फिर बाँधते हैं और फिर भोगते हैं। यह घटना-चक्र चलता ही रहता है।

अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि हमने बांधे हुए कर्मों का वेदन कर उनकी निर्जरा तो कर ली, परन्तु दृष्टि नहीं बदली, अतः उनकी परम्परा समाप्त न हो सकी। वह विप-वेल फैलती ही गई और उसमें से नए-नए पौधे अंकुरित होते गए।

मनुष्य ने कई बार साधना की। और एकान्त शून्य जंगलों में, गिरि गुफाओं में जाकर भी की। परन्तु दृष्टि के न बदलने से वह कठोर साधना भी उसके जीवन को समुज्ज्वल नहीं बना सकी। अतः दृष्टि-परिवर्तन के बिना एक सम्राट् के द्वारा किया हुआ साम्राज्य का त्याग भी उसके जीवन में अभिनव ज्योति नहीं जगा सकता। तो दृष्टि-विन्दु में परिवर्तन आये विना विराट् त्याग एवं कठोर तप भी कोई महत्त्व नहीं रखता।

और यदि दृष्टि में परिवर्तन हो गया, तो एक नवकारसी का छोटा-सा तप भी जीवन को इतना ऊँचा उठा सकता है, जितना कि बिना दृष्टि बदले कोई व्यक्ति महीनों भूखा रह कर भी उतना ऊँचा नहीं उठा सकता। दृष्टि-परिवर्तन के बाद थोड़ा-सा त्याग-तप भी जीवन में प्रगतिशील परिवर्तन ला सकता है।

यही बात शास्त्रों के सम्वन्ध में भी है। चाहे वे शास्त्र वैदिक परम्परा के हों, चाहे बौद्ध या जैन परम्परा के हों, अथवा अन्य किसी भी परम्परा से सम्बन्धित क्यों न हों। वस्तुतः शास्त्र तो अपने आप में केवल शास्त्र ही हैं। वे अपने आप में न तो विष हैं, और न अमृत। विष और अमृत तो मनुष्य की दृष्टि में ही रहते हैं। यदि एक आदमी विषय-वासना एवं कषायों के प्रवाह में वहता हुआ आचारंग सूत्र पढ़ता है, तो वह शास्त्र उसके लिए शस्त्र बन जाता है। भगवती सूत्र भी, जोकि जैन परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है, यदि बिना दृष्टि परिवर्तन के कोई व्यक्ति उसे पढ़ता है, तो वह उसके लिए विष वन जाता है।

अब प्रश्न होता है कि—भगवती सूत्र कौन-से विकार से विष वना ? उत्तर स्पष्ट है—आपकी दृष्टि में तद्रूप परिवर्तन नहीं हुआ, और आपके मन में सत्य को सत्य के रूप में देखने की भावना भी उद्बुद्ध नहीं हुई, तो उस रूप में वह अमृत भी विप वन जाएगा। तत्त्वतः दूध

अमृत माना जाता है। वह शारीरिक शक्ति की क्षति-पूर्ति करने वाला सहज साधन है। क्या बालक, क्या वृद्ध; सभी के लिए वह सात्विक शक्ति प्रदायक है। परन्तु यदि कोई सन्निपात का रोगी दूध-मिश्री का सेवन करे, तो उसका क्या परिणाम होगा ? उत्तर—मृत्यु। दूध वस्तुतः अमृत था, परन्तु सन्निपात के रोगी लिए वह विष बन गया। इसी तरह घी भी अमृत है। यदि स्वस्थ आदमी घी का सेवन करे, तो वह उसके शरीर के जर्रे-जर्रे में नई स्फूर्ति, नई शक्ति और नया तेज पैदा कर देता है। परन्तु यदि वही घी किसी यकृत के रोगी को पिला दिया जाए, तो वह विष का काम करेगा।

हाँ तो, जैन-धर्म का सदा-सर्वदा यह स्वर रहा है कि—मनुष्य पहले अपने दृष्टि-विन्दु को बदले, और उस पर जमे हुए कीट को साफ करे। यदि दर्पण स्वच्छ होगा, तो उसमें पड़ने वाला प्रतिविम्ब भी साफ आएगा। परन्तु धुँधले दर्पण में जब अपनी परछाई देखेंगे, तो वह विरूप ही परिलक्षित होगी।

अभिप्राय यही है कि जब तक आपके मन एवं दृष्टि का दर्पण साफ नहीं है, तब तक उस दर्पण में आपका जीवन सही रूप में परिलक्षित नहीं होगा। आप नहीं समझ सकेंगे कि—"मैं कौन हूँ"। यदि दृष्टि धुँधली है, तो भले ही आप संसार भर के धर्म-शास्त्रों का स्वाध्याय कर लें, पर अपना स्वाध्याय नहीं कर सकेंगे, अपने को नहीं पहचान सकेंगे। यदि आप अपने को नहीं पहचान सके, तो फिर दूसरे को कैसे पहचान सकेंगे ? हाँ तो, धुँधले दर्पण में 'मैं' और 'वह' का सही रूप नहीं जाना जा सकता। और जब दृष्टि-विन्दु साफ होता है, तो 'स्व' और 'पर' दोनों का ही सही-सही ज्ञान हो जाता है। 'स्व' और 'पर' की सीमाएँ अनन्त हैं; अतः विकसित दशा में एक का पूर्ण ज्ञान होने पर सारे संसार का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अर्थात्—

"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ"

एक वार एक जैनाचार्य से पूछा गया—कौन-से शास्त्र सम्यक् हैं? तो उसने एक महत्त्वपूर्ण वात कही कि—शास्त्र अपने आप में न तो सम्यक् हैं, और न मिथ्या। 'सम्यक्' और 'मिथ्या' है—मनुष्य का अपना दृष्टिकोण, अपना विचार और अपना चिन्तन। यदि हमारा दृष्टिकोण वदल गया है, तो सभी शास्त्र, भले ही किसी भी धर्म, पन्थ या सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले क्यों न हों, साधक के जीवन को सहज में वदल सकते हैं। यदि जैनाचार्य की स्पष्ट भाषा में कहूँ तो—सम्यक्-दृष्टि के लिए काव्य तथा व्याकरण शास्त्र भी सम्यक् हैं। और इतना ही क्यों, विश्व के सम्पूर्ण शास्त्र सम्यक हैं। और मिथ्या-दृष्टि के लिए तो भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन-शास्त्र भी मिथ्या हैं। अस्तु, भावार्थ यही है कि—यदि दृष्टि सम्यक् है, तो सारे शास्त्र सम्यक् हैं। और यदि दृष्टि मिथ्या है, तो सारे शास्त्र भी मिथ्या हैं। यदि दृष्टि निर्मल है और वह स्पष्टतः खुली है, तो चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है। यदि दृष्टि धुँधली है, और उस पर विकारों का पर्दा पड़ा है, तो चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा है।

यही वात सुख-दुःख के वेदन में है। एक मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति परिवार में रहता है और उसने जीवन का सम तत्त्व नहीं पाया है, तो वह निरन्तर जलता रहेगा, प्रतिपल अनन्त-अनन्त कर्मों को वाँधता रहेगा और दुःख वेदता ही रहेगा। और उसी परिवार में एक सम्यक्-दृष्टि रहता है, और उसकी दृष्टि सम है, तो वह निरन्तर अशुभ कर्मों की निर्जरा करता रहेगा। साथ ही आनन्द एवं शान्ति की अखण्ड धारा में प्रवहमान भी रहेगा।

एक आचार्य ने उपमा देकर समझाया है। एक पौधा है, जिसके नुकीले काँटों का रुख ऊपर की ओर होता है। उस पौधे को यदि कोई व्यक्ति ऊपर से नीचे की ओर सूँतता है, तो उसके हाथ में काँटे चुभते हैं, खून की धारा वहती है, और वेदना होती है। और यदि कोई नीचे

से ऊपर की ओर सूँतता है, तो उसके हाथ में न काँटा चुभता है, न खून बहता है, और न वेदना ही होती है।

दोनों अवस्थाओं में काँटें वे ही हैं। किन्तु एक के लिए दुःख रूप हैं, तो दूसरे के लिए सुख रूप। जो ऊपर से नीचे की ओर सूँतता चला जाता है, वह वेदना से कराहता है। और जो नीचे से ऊपर की ओर सूँतता है, वह पीड़ा से मुक्त रहता है। यही बात परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में भी है। आप परिवार, समाज, एवं राष्ट्र में जहाँ-कहीं भी रहते हैं, यदि सर्वत्र ऊर्ध्वमुखी विचार लेकर रहें, तो आपको कहीं भी काँटा नहीं चुभेगा। यदि आपका दृष्टिकोण अधोमुखी है, तो फिर चाहे परिवार में रहें या समाज में, श्रावक रूप में रहें या साधु के वेश में; सर्वत्र वेदना रहेगी, जलन रहेगी और सदैव काँटे चुभते ही रहेंगे।

अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि—ऊर्ध्वमुखी भावना में आनन्द है और शान्ति है। इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विचार है। ऊर्ध्वमुखी दृष्टिकोण का सर्वप्रथम सोपान है—"मन में से पाप वृत्ति को छोड़ देना।" भले ही आप अभी तक पाप को छोड़ नहीं सके हों, परन्तु यदि आपका यह दृष्टिकोण बन गया है कि पाप—पाप हैं, तो एक दिन अवश्य ही आप पाप का परित्याग भी कर सकते हैं। आपके चारों तरफ पाप का जाल बिछा है, अज्ञान और अविद्या का सागर लहरा रहा है। फिर भी अपने अन्तर्मन में यदि आपने पाप को पाप, अज्ञान को अज्ञान, तथा अविद्या को अविद्या मान लिया है, तो एक दिन आप इन से अवश्य ही मुक्त हो सकते हैं।

जैन-धर्म कहता है कि—यदि आपको हिंसा छोड़नी है, तो पहले अन्दर में हिंसा की दृष्टि को बदलें; अर्थात्—मन की हिंसा को छोड़ें। मन की हिंसा छोड़ने का अर्थ है—हिंसा को हिंसा के रूप में समझ लें। इसी प्रकार असत्य आदि पापाचार को त्यागना है, तो पहले उन्हें मन में त्याज्य समझें।

जीवन में क्रान्ति लाने के लिए, अन्तर्भावों में पैदा होने वाली यह समझ बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण है। शास्त्रीय भाषा में इसे 'सम्यक्त्व' कहते हैं। जैन-धर्म ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—"जब आत्मा में अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ जागृत होता है, तब मनुष्य में असत्य को असत्य मानने की भावना उद्बुद्ध होती है।" और इतना समझने के बाद, उसे छोड़ना इतना सरल और सुसाध्य हो जाता है कि मानो उसने अन्तःस्तल की गहराई में अनन्त-अनन्त काल से बद्धमूल विष-वृक्ष की जड़ों को खोद कर खोखला कर दिया है। अब उसे समाप्त करने में, मात्र चारित्र-रूप में एक त्याग के झटके की ही आवश्यकता है।

परन्तु दुर्भाग्य है, आज के साधक मिथ्यात्त्व एवं सम्यक्त्व को शास्त्रीय भाषा में तो कम तोलते हैं, किन्तु बाहरी भाषा में अधिक। इसीलिए बाहर में सम्यक्त्व और मिथ्यात्त्व के नारे अधिक लगाए जा रहे हैं। आज के धर्म-गुरु अपने मनोऽनुकूल हर किसी व्यक्ति को सम्यक्त्व का लेबल लगाने के लिए इतने आतुर हैं कि कुछ पूछिए ही नहीं? जब कोई आदमी उनके पास आता है, तो अपनी जल्दबाजी में उससे यह नहीं पूछते कि—तुमने हिंसा, असत्य, पापाचार तथा विश्वासघात को अन्तर्मन में बुरा समझा है या नहीं? तुम्हारे अन्दर की दृष्टि बदली है या नही? परन्तु हर किसी आगन्तुक से यही पूछा जाता है कि—सम्यक्त्व ली है या नहीं? यदि वह कहता है कि—अमुक गुरु से ली है; तो दूसरा प्रश्न पूछा जाता है कि—गुरु जी जीवित हैं या नहीं? यदि गुरु जीवित नहीं हैं, तो कहा जाता है कि—जब गुरु मर गए, तब फिर सम्यक्त्व कहाँ रही? अतः अब तुम मेरी सम्यक्त्व ले लो। इसका क्या अर्थ हुआ? क्या गुरु के मरते ही, सम्यक्त्व भी मर गई? नहीं, कभी नहीं। गुरु तो केवल निमित्त मात्र हैं, वे तो मनुष्य की भावना जगाने में ही सहायक हो सकते हैं। अतः सम्यक्त्व का सम्बन्ध गुरु के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, उसका सम्बन्ध तो आत्मा के साथ है।

यदि साधक की अन्तरात्मा नहीं जगी है, तो विश्व का कोई भी महापुरुष उसे नहीं जगा सकता। यद्यपि गोशालक छह वर्ष तक भगवान् महावीर के साथ रहा, और शिष्य के रूप में छाया की तरह भगवान् के पीछे-पीछे भी चलता रहा। परन्तु इतने दीर्घकाल में भी वह अपनी दृष्टि नहीं बदल सका। भगवान् महावीर के शरीर का स्पर्श तो किया, किन्तु उस महान् आत्मा की पवित्र जीवन-छाया का स्पर्श नहीं कर सका।

गौशालक पर बाल तपस्वी ने तेजोलेश्या छोड़ी, और भगवान् ने उसकी रक्षा के लिए शीतल लेश्या का प्रयोग किया। इस समय दोनों ही लेश्याओं की शक्ति उसके सामने थी, फिर भी उसके मन में यह भाव नहीं जगा कि मैं भगवान् से शीतल लेश्या का प्रयोग सीख लूँ, ताकि यथावसर तेजोलेश्या से जलते जीवों को शीतलता प्रदान कर सकूँ। इसके विपरीत वह तेजोलेश्या सीखने के संकल्प में ही उलझा रहा। और कोई बात नहीं, गोशालक की दृष्टि बदली नहीं थी। उसके मन में यही भावना उद्बुद्ध होती रही कि यदि कोई मेरा अपमान करेगा, तो तुरन्त ही उसे तेजोलेश्या से जलाकर भस्म कर दूँगा। परन्तु वह कभी दुनिया को शीतलता प्रदान करने का शुभ संकल्प नहीं कर सका। वास्तव में यह है—मिथ्यात्व! यह है—दृष्टि न बदलने की स्थिति!! यह वह दुःस्थिति है, जिसको अपनी अन्तरात्मा ही बदल सकती है। महापुरुष एवं गुरु देव तो निमित्तमात्र हैं, परन्तु परिवर्तन की पूर्ण प्रभु सत्ता उनके पास नहीं है। वह पवित्र प्रेरणा है—अन्तर्मन में, और अन्तरात्मा के अन्तःस्तल में।

आज भी हजारों-लाखों मनुष्य ऐसे मिलेंगे, जो भगवान् के नाम की माला जपते हैं और स्तोत्र-पाठ एवं पूजा-भक्ति करते हैं। यह सब किस लिए? इसलिए कि—उनसे धन-दौलत, पुत्र-पौत्र, भोग-विलास के साधन एवं शारीरिक सुख प्राप्त कर सकें तथा अपने शत्रु को पराजित कर सकें। जब तक जीवन में यह दृष्टि विद्यमान है, तब तक महा-

पुरुष भी मिले, श्रद्धा पूर्वक उनकी सेवा भी की, और त्याग-तप की उत्कृष्ट भूमिका पर भी पहुँचे, फिर भी उससे क्या लाभ ? वीतराग के पास पहुँच कर भी यदि कोई स्वार्थ एवं भोग के झूठे टुकड़े माँगता है, तो स्पष्ट है कि—"उसने वीतराग का वास्तविक स्वरूप समझा ही नहीं है।"

आप जानते हैं, तीर्थङ्कर का स्वरूप क्या है ? देवों के द्वारा बनाए समवसरण में स्फटिक के सिंहासन पर बैठकर उपदेश दे रहे हैं, क्या यह तीर्थङ्कर का स्वरूप है ? क्या देवेन्द्रों द्वारा छत्र-चामर होना, अथवा देव निर्मित स्वर्ण कमलों पर चलना, यह तीर्थङ्कर का स्वरूप है? क्योंकि देवता समवसरण में गन्धोदक की वृष्टि करते हैं, क्या इसलिए हम उन्हें तीर्थङ्कर मानकर पूजा करें ? क्या सम चतुरस्र संस्थान, और वज्रऋषभ नाराच संहनन, आदि, को तीर्थङ्कर का स्वरूप मानें ? नहीं ! परम वीतराग तीर्थङ्कर का स्वरूप इतना ही नहीं है; यह तो केवल बाह्य विभूति है। इसमें ही तीर्थङ्करत्व बंद नहीं है। वास्तविक तीर्थङ्करत्व को रक्त और अस्थि के ढाँचे से नहीं तोला जा सकता। तीर्थङ्करत्व न तो बाहरी वैभव में है, और न शरीर में ही है। वह तो आत्मा की विशुद्ध स्थिति में समाधिस्थ है। वह विशुद्ध आत्म-परिणति ही तीर्थङ्करत्व है, जो अनन्त ज्ञान की दिव्य ज्योति है, जिसने अज्ञान अन्धकार के कण-कण को नष्ट कर दिया है और राग-द्वेष के बीज को समूलतः नष्ट कर दिया है । अस्तु, भावार्थ यह है कि—तीर्थङ्करत्व 'जिन' रूप में है, 'अर्हन्त' रूप में है, 'निष्कपाय एवं वीतराग' भाव में है। यह बात मैं ही नहीं कह रहा हूँ, श्रावक बनारसी दास जी ने भी यही कहा है—

"तीर्थङ्कर के शरीर का वर्णन, जिनेश्वर देव का वर्णन नहीं है। उनकी आत्मा में, जो अनन्त-अनन्त दया एवं करुणा का झरना बह रहा है और अनन्त-अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की अभिनव ज्योति जग रही है, उसी में तीर्थङ्करत्व भाव निहित है।"

हाँ तो, सच्चा साधक शरीर के रंग-रूप को नहीं देखता। वह देखता है—आत्मा के गुणों को। बाग में नाना प्रकार के फूल खिले हों, उनमें से मधुर-पराग झर-झरकर चतुर्दिक् में फैला रहा हो, और आस-पास में भ्रमर दल गुंजन भी कर रहे हों; यदि उस समय कोई उन भौंरों से पूछे कि—फूलों का रंग-रूप कैसा है? तो भौंरे यही उत्तर दे सकते हैं कि—यह हम से मत पूछो कि—फूलों का रंग-रूप कैसा है, आकार-प्रकार कैसा है? हम से यह भी मत पूछो कि—फूलों के साथ काँटे हैं या नहीं? हम से यह भी मत पूछो कि—फूल कहाँ खिले हैं? नगर के मोहक उपवन में, या निर्जन वन में शून्य डाल पर? क्योंकि हमारा इन व्यर्थ की बातों को जानने से कोई प्रयोजन नहीं। यदि हम से कोई बात पूछना है, तो यह पूछो कि—फूल में सुगन्ध है या नहीं? हमारा प्रयोजन रूप-रंग से नहीं, अपितु सुगन्ध से है, मकरन्द से है।

साधक को भ्रमर की उपमा दी गई है। संस्कृत-साहित्य में इसका विस्तृत वर्णन है। आज के चलते गायनों में भी गाया जाता है कि—"मैं भगवान् के चरणों में मधुप बन जाऊँ।" परन्तु देखना तो यह है कि आप कैसे भ्रमर बनेंगे? क्या आप उनके आकार-प्रकार को निहारते रहेंगे, या उनके अनन्त-अनन्त वीतराग भाव की महा सुगन्ध को लेंगे।

आपको भली-भांति मालूम है कि उनके गुणों की महा सुगन्ध कहाँ है? क्या वह सुगन्ध किसी व्यक्ति-विशेष, पंथ-विशेष, शास्त्र-विशेष या स्थान-विशेष में बन्द है? नहीं! वह तो यत्र-तत्र-सर्वत्र फैली हुई है। उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, एवं जिनत्व की महा सुगन्ध महलों में भी फैली, झोपड़ियों में भी फैली और निर्जन वनों में भी फैली। उनके पवित्र जीवन की महा सुगन्ध वेदों के ज्ञाता महापंडित गौतम के जीवन में भी फैली और वही सुगन्ध ग्यारह-सौ-इकतालीस स्त्री-

पुरुषों के संहारक महा पातकी अर्जुन के जीवन में फैली और उसने उस जीवन को भी सुवासित बना दिया।

आज का साधक अपने लिए उपमा तो भ्रमर की लगा रहा है, किन्तु यदि वह उस पुष्प की सुगन्ध को और परम पुनीत वीतराग भाव को न पहचान कर, मात्र बाहर के रूप-रंग एवं वैभव में ही अटका रहता है, तो वास्तव में अभी तक उसके जीवन में भ्रमरत्व जगा नहीं; अथवा यों कहिए कि उसका दृष्टिकोण अभी बदला ही नहीं। उसके जीवन में सम्यक्त्व का प्रकाश अभी तक जग नहीं पाया है। उसने महल तो बनाया और उसे बहुत ऊँचा भी उठाया, परन्तु दुर्भाग्य है कि उसकी नींव में एक भी ईंट नहीं रखी। तो आप ही बताइए, वह महल कितनी देर तक ठहरेगा? जब तक हवा का झोंका या किसी का धक्का न लगे, तभी तक।

यही बात सम्यक्त्व विहीन जीवन के लिए भी है। जीवन की अन्तरंग भावना को बदले बिना साधना का महल टिक नहीं सकता। अस्तु, जब तक दृष्टि नहीं बदलती, तब तक सृष्टि भी नहीं बदल सकती। और जीवन के कण-कण में साधना की, वीतराग भाव की एवं जिनत्व की महा सुगन्ध भी फैल नहीं सकती।

दिनांक
२८-१०-५६

कुचेरा (राजस्थान)

—: १६ :—

गाँधी जी : जीवन के एक कलाकार

आज से लगभग २,५०० वर्ष पूर्व प्रातः स्मरणीय भगवान् महावीर ने जन-मन में अहिंसा की दिव्य-ज्योति जगाई। मानव को पुरुषार्थ एवं कर्म-सम्बन्धी सत्य निष्ठा का पाठ पढ़ाया। मानव-जाति का आदर करना सिखाया। सब के साथ समानता का सद्-व्यवहार करने की शिक्षा दी। सब के साथ घुल-मिलकर जीवन यापन करने का सत् परामर्श दिया। इन्हीं सार्वभौम तत्त्वों के सुदृढ़ धरातल पर खड़े होकर उस महा मानव ने विश्व-बन्धुत्व, का विगुल बजाते हुए—"जीओ और जीने दो" का अमर संदेश प्रसारित किया था। वस्तुतः यही शाश्वत संदेश—उस शान्ति दूत की मानवतावादी मान्यता का सच्चा प्रतीक है।

भगवान् महावीर की विराट् चिन्तन-धारा, क्रान्तिपूर्ण पावन प्रेरणा और उपदेश केवल आध्यात्मिक जीवन को ही आप्लावित करने के लिए नहीं, अपितु क्रान्त विचारों का वह अप्रतिहत उपदेश-प्रवाह जिस क्षेत्र में प्रवाहित हुआ, उसे तदनुरूप पल्लवित-पुष्पित बनाता ही रहा। उसने जिस क्षेत्र को भी छूआ, जिस ओर भी अपने चिन्तन-मनन की रस-धारा बहाई, उसी ओर जीवन में दिव्य चेतना जागृत हो उठी और जीवन का सुखद सौन्दर्य नूतन उल्लास साथ मुस्करा पड़ा।

एक बार उसने पुत्रों की चर्चा करते हुए कहा कि—एक पुत्र वह है, जिसका जीवन-स्तर पिता से नीचा है। पिता तो विचार और आचार की दृष्टि से अभीष्ट ऊँचाई पर पहुँच गया, किन्तु उसका पुत्र उस ऊँचाई को छू भी नहीं पाता है।

एक पुत्र वह भी है, जो पिता के जीवन की अभीष्ट ऊँचाई को छू लेता है, पिता के समान यश-गौरव को भी प्राप्त कर लेता है, परन्तु पिता की भूमिका से आगे नहीं बढ़ सकता।

और वह भी एक पुत्र है, जिसका जीवन-स्तर पिता के जीवन-स्तर से भी ऊपर उठ जाता है। आचार और विचार के क्षेत्र में अपने पिता से भी बहुत आगे निकल जाता है, यश-गौरव एवं ख्याति को भी अर्जित कर लेता है और सम्मान एवं सौरभ में उसका व्यक्तित्व मुस्कराता है। उसका प्रकाश और तेज परिवार के सीमित दायरे में कैद नहीं रहता, अपितु उससे ऊपर उठकर सारे नगर में, और नगर से भी बहुत आगे समूचे राष्ट्र में फैल जाता है। कुछ ऐसे भी विशिष्ट पुत्र होते हैं, जिनका ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार, सेवा-भक्ति एवं कर्त्तव्य-परायणता का प्रकाश राष्ट्र की विस्तृत सीमा रेखाओं को पार कर विश्व के कोने-कोने में विद्युत की भाँति फैल जाता है।

आज आप जिस व्यक्ति की जन्म-तिथि को हर्षोल्लास के साथ मना रहे हैं, भगवान् महावीर की भाषा में वह अति-पुत्र था। जब उसके पारिवारिक जीवन को देखते हैं तो वह भी अन्य परिवारों की भाँति एक सामान्य परिवार है। उसमें व्यक्तित्व निर्माण करने की क्षमता नहीं पाते। उन्हें अपना व्यक्तित्व स्वयं बनाना पड़ा, किसी की विरासत में नहीं मिला। उनके परिवार के इतिहास का अनुशीलन करें तो विदित होगा कि उनकी दस-बीस पीढ़ियों में भी इतना तेजस्वी पुत्र नहीं जन्मा। जब हम देश के अन्य परिवारों के इतिहास को देखते हैं तो वहाँ शताब्दियों में ऐसा विलक्षण व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता।

वह व्यक्ति और कोई नहीं; वह थे—आध्यात्मिक क्रान्ति के अग्रदूत एवं भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी महात्मा गाँधी।

हाँ तो, गाँधी जी अति-पुत्र थे। वह परिवार के संकरे घेरे में बन्द नहीं रहे। पुरानी पीढ़ियाँ वर्षों से, या यों कहिए कि युगों से अपने परिवार का परिपालन करती चली आ रही थीं। अन्याय से, छल-कपट से, धूर्तता से अपने परिवार को धन-धान्य से सम्पन्न बनाने में सतत् प्रयत्नशील रही हैं। निस्सन्देह उसी परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए माता-पिता ने गाँधी जी को लन्दन भेज कर बैरिस्टर बनाया था। परन्तु वह विराट् व्यक्तित्व परिवार के सीमित दायरे एवं रूढ़ परम्पराओं में कैद न होकर समाज-कल्याण और राष्ट्रोत्थान के प्रशस्त मार्ग की ओर अग्रसर हुआ। पारिवारिक पराम्परा के अनुसार गाँधी के जीवन-नाटक का उद्देश्य अपने पिता की तरह कुछ धन का उपार्जन करने और दो-चार सन्तान पैदा करने में ही निहित नहीं था; बल्कि उस अद्भुत व्यक्ति की जीवन-चर्य्या का सुन्दर चित्रण यह था कि वह अपनी विराट् शक्ति को, विराट् चिन्तन-मनन को तथा अपने व्यक्तित्व के अद्भुत प्रकाश को विश्व के कण-कण में फैला दे, पराधीनता के बन्धन को तोड़ दे, पीड़ित मानवता का त्राण करे, और जन-जन के जीवन में अभिनव ज्योति जगा कर सफल जीवन के अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करे।

वास्तव में भारतीय इतिहास बहुत बड़ा है। भले ही वह धर्म-नीति का हो या राज-नीलि का। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार धर्म-नीति और राज-नीति—दोनों में यथावसर परिवर्तन होते रहे हैं। इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि—धर्म-क्षेत्र में भारतीय चिन्तकों ने सराहनीय विकास किया है। सत्य, अहिंसा और सदाचार से युक्त नैतिक पुनरुत्थान के क्षेत्र में भारत दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ा है। यह नैतिकवाद का ही सत् परिणाम है कि रक्त की एक बूँद बहाए बिना भारतीय चिन्तकों ने धार्मिक क्रान्ति को सफल बनाया।

भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक अहिंसा, स्नेह एवं सद्भावना का शीतल झरना बहाया था। और तदनुसार भारत के कोने-कोने में मानवता की दिव्य स्वर-लहरी गूँज उठी थी। वह त्याग-विराग का आघोष जब राजमहलों में गूँजा तो विशाल साम्राज्य के अधिपति भी स्वर्ण सिंहासनों को ठुकराकर नंगे सिर और नंगे पैर घर-घर में अहिंसा की ज्योति जगाने चल पड़े। राजमहलों की सुदृढ़ चार दिवारी में कैद, भोग-वासना में निमग्न राज-रानियाँ उस आजन्म कारा की स्वर्ण शृंखलाओं को तोड़कर स्नेह और सद्भावना की प्रेम धारा बहाने के लिए त्याग पथ पर गति-प्रगति करने लगीं। इस तरह भगवान् महावीर का आध्यात्मिक आन्दोलन विराट् रूप में काम करने लगा और जन-मन में अहिंसा की अभिनव ज्योति जगाने लगा।

परन्तु राजनीति के क्षेत्र में शुरू से ही भौतिक शक्ति की एकमात्र प्रतीक 'तलवार' पर विश्वास रहा है। पुराने राज्यों को समाप्त कर नए राज्यों के निर्माण में सदा से तलवार और शक्ति का प्रयोग होता रहा है। विना रक्त की नदी बहाए राज्य परिवर्तन असंभव-सा माना गया है। किन्तु बापू ने राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का एक अभिनव प्रयोग किया। उसने कहा कि—जब धार्मिक क्षेत्र में—सत्य, अहिंसा और प्रेम से क्रान्ति लाई जा सकती है, मानव के जीवन-प्रवाह को नया मोड़ दिया जा सकता है; तब क्या कारण है कि राजनैतिक क्षेत्र में भी अहिंसा से क्रान्ति उत्पन्न न हो? इस शंका को दूर करने के लिए राजनैतिक क्षेत्र में बापू ने सत्य और अहिंसा का प्रयोग किया, वह सफल भी रहा। और रक्त की एक बूँद गिराए विना भारत परतंत्रता की लोह शृंखलाओं को तोड़कर स्वतंत्र हो गया।

गाँधी जी की भाषा में मनुष्य की सबसे बड़ी विजय वह है—जिसमें किसी भी पक्ष की पराजय न हो। किन्तु दुनिया की भाषा में एक पक्ष की विजय में दूसरे पक्ष की पराजय निहित है। एक सिंहासन पर विजय

पाता है—तो दूसरा लोह श्रृंखला से बांधा जाता है। एक तरफ हर्ष, आनन्द और मुस्कराहट है—तो दूसरी ओर निराशा और दुःख-दर्द के आंसू हैं। महात्मा गांधी ने इस प्रकार की विजय को मानव की सबसे बड़ी पराजय माना है, क्योंकि इस विजय में पराजय की विषाक्त भावना छिपी है। तत्त्वतः विजय वह है—जिसमें उभय पक्ष मुस्कराते रहें, दोनों ओर आनन्द का सागर ठाठें मारता रहे, दोनों का उत्थान हो और अन्त तक दोनों परस्पर मित्र बने रहें।

हां तो, गांधी जी के अन्तःस्तल पर प्रेम एवं मैत्री का प्रशान्त महासागर लहरा रहा था। वे प्रत्येक आत्मा में परमात्म स्वरूप के दर्शन करते थे। वे कहते थे कि—शासक भी मानव है, और शासित भी मानव है। और मानव भले ही कितना ही बुरा क्यों न हो, कितना ही अधम क्यों न हो, फिर भी उसके अन्तर्हृदय में परमात्म-ज्योति निरन्तर जगती रहती है। हां, अन्तर्मन की दुर्भावना के झंझावात में वह दिव्य ज्योति कुछ देर के लिए मन्द भले ही हो जाए; परन्तु इससे वह आदमी ठुकराने योग्य नहीं है। मान लो, स्वर्ण पात्र कीचड़ से सना है, तो क्या गन्दगी से युक्त उस पात्र को फेंक देंगे? कदापि नहीं! उसका तो हर समय आदर ही होगा। हमारी नफरत तो कीचड़ से होनी चाहिए, न कि पात्र से। अतः कीचड़ को धोकर पात्र को साफ बना लेंगे। इसी तरह हर आत्मा स्वर्ण जैसा शुद्ध है, वह आदरणीय है। कुछ गलतियों के कारण उसे फेंक नहीं देना चाहिए, बल्कि उसकी भूलों का परिष्कार कर उसे भी सुन्दर बनाना है। भगवान् महावीर ने भी यही कहा है—"पाप से सदा-सर्वदा घृणा करो, पाप का परित्याग करो; परन्तु पापी से घृणा मत करो।"

इस अमर संदेश को गांधी जी ने व्यावहारिक जीवन का प्रमुख अंग बनाया और भारतीय जनता से कहा—"तुम अंग्रेजों से नफरत मत करो। हमें अंग्रेजों का विरोध नहीं करना, वे भी हमारे भाई हैं। पर, वे जो अन्याय अत्याचार कर रहे हैं, वस्तुतः हमें उसी का

विरोध करना है। उनका (ब्रिटिश) शासन भारत के लिए आशीर्वाद रूप नहीं, अपितु अभिशाप रूप है। वह भारत का शोषण करते है, अतः उसका विरोध करना चाहिए।" इस तरह बापू ने राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा, प्रेम एवं मैत्री का त्रिविध स्रोत बहाया। शत्रु को भी मित्र के रूप में देखा।

विश्व विभूति महात्मा गाँधी ने कहा था—मनुष्य गलती कर सकता है। आपके परिवार में यदि कोई व्यक्ति गलती करता है, तो क्या वहाँ डंडा ही घूमता है? क्या आप उसे तलवार या बन्दूक की गोली से समाप्त करने की सोचते हैं? नहीं, ऐसा कदापि नहीं। वहाँ तो डंडा या गोली प्रयोग नहीं करते। उस समस्या को तो भाई-चारे की नीति से ही हल करते हैं। तब क्या कारण है कि आप भाई-चारे का यह स्नेह-सिक्त जीवन परिवार से आगे नहीं बढ़ा सकते? विश्व के मनुष्यों को भाई-चारे के स्नेह-सूत्र में क्यों नहीं गूँथ सकते? जो इन्सानियत आपके परिवार के लोगों में है, वही इन्सानियत समूचे विश्व के हर एक इन्सान में मौजूद है।

परिवार के सदस्य भी तो कई दिशाओं से आकर एक परिवार के रूप में संघटित हुए हैं। न मालूम तुम किस योनि से आए और तुम्हारे पहले या पीछे आने वाले भाई-बहन किधर से आ-टपके। वह लड़की जिसने दूसरे घर में जन्म लिया है, और जिसे तुमने पत्नी के रूप में स्वीकार करके उसे अपने परिवार का एक अभिन्न अंग बनाया है, कहाँ से आई है? विवाह के बाद इधर-उधर से सन्तान के रूप में कई नए प्राणी भी आ मिले हैं। तो उन विभिन्न दिशा-विदिशाओं से आए हुए संगी साथियों के साथ यदि भाई-चारे का स्नेह सम्बन्ध स्थापित करके पारिवारिक समस्या का हल निकाला जा सकता है, तो फिर इस भाई-चारे की स्नेह-सिक्त सद्भावना को विराट् बनाकर समूचे राष्ट्र एवं विश्व की विषम समस्याओं का उपयुक्त हल क्यों न निकाला जाए?

उस समय गाँधी जी के उदात्त विचारों को बहुत से लोग समझ नहीं सके थे। संभवतः कुछ लोग गाँधीजी को पागल भी समझते थे शायद वे यह भी सोचते थे कि क्या कभी सत्याग्रह से भी स्वराज्य मिल सकता है ? राज-सिंहासन तो तलवार से ही प्राप्त किया जा सकता है। इतिहास एवं राजनीति के कुछ विद्यार्थियों एवं विद्वानों ने भी सत्याग्रह आन्दोलन को उन्मत्त-प्रलाप कहकर उसकी मखौल उड़ाई थी।

इस विषय में औरों की बात एक किनारे छोड़िए। जैन साधु, जो अहिंसा के आराधक हैं, उपदेशक हैं, और पथ-प्रदर्शक भी माने जाते हैं; उनमें भी कुछ साधु ऐसे मिले, जिन्होंने मुझसे कहा—"गाँधी जी को यह क्या सनक सवार हुई है ? क्या, अहिंसा से राज्य-सत्ता प्राप्त की जा सकती है ?" उत्तर में मैंने उनसे कहा—"आपने अभी तक अहिंसा की वास्तविक शक्ति को समझा ही नहीं है। केवल पोथियों में लिख देने से तथा अहिंसा का उपदेश देने मात्र से अहिंसा की वास्तविक शक्ति आत्मा में अवतरित नहीं होती। जीवन के कण-कण में जब अहिंसा कार्यान्वित होने लगती है, मैत्री का झरना बहने लगता है, और क्षमा, शान्ति तथा सहिष्णुता का महासागर हिलोरें लेने लगता है, तब ही अहिंसा की वास्तविक शक्ति आत्मा में प्रकट होती है, और तभी जीवन में चमक आ सकती है।" वस्तुतः गाँधीजी के जीवन में स्नेह, दया, क्षमा एवं सहिष्णुता की अपार शक्ति थी। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि भीषणतम संघर्षों में भी उनका मानसिक सन्तुलन नहीं बिगड़ा।

बापू के जीवन की एक घटना है। एक बार वे रेल में यात्रा कर रहे थे। सभी तरह की सुविधा प्राप्त होने पर भी प्रायः तीसरे दर्जे में यात्रा करते थे। उनका कहना था कि—"जब भारत का जन-साधारण तीसरे दर्जे में यात्रा करता है, तो जनता का सेवक सेकिंड या फर्स्ट क्लास की खर्चीली व्यवस्था को कैसे स्वीकार कर सकता है ?" सरकार से मिलने वाली सुविधा का व्यय-भार अन्ततः भारतीय जनता पर पड़ेगा। वे पैसे इंग्लैंड से नहीं, गरीब भारतीयों की जेब से ही तो आएँगे। अतः

भारतीय जनता के सच्चे साथी 'बापू', सर्व-साधारण यात्री की तरह तीसरे दर्जे में ही बैठे, जहाँ और भी बहुत से यात्री बैठे हुए थे।

हम भारतीयों में एक बहुत ही बुरी आदत है कि जहाँ बैठते हैं, जहाँ चलते हैं, वहीं थूक देते हैं। यहाँ तक कि धर्म-स्थानों में जाते हैं, तो वहाँ भी दीवारों पर थूक देते हैं, नाक का मैल पोंछ देते हैं। जब कभी धर्मशाला में विश्राम करते हैं, तो वहाँ भी दीवारों को गन्दा बना देते हैं। एक बार हम पर्वत पर से यात्रा कर रहे थे। जब पर्वत के शिखर पर पहुँचे, तो वहाँ प्रकृति का अनुराग भरा दृश्य एवं सौन्दर्य बड़ा ही मोहक था। पर्वत पर एक ओर पुराना किला अतीत के इतिहास का गौरव लिए खड़ा था। हालाँकि अब तो वह खण्डहर के रूप में क्षत-विक्षत दशा में पड़ा था। वहाँ भी देखा कि घूमते हुए एक हजरत ऐसे पहुँचे, जो इधर-उधर पड़े हुए पत्थरों पर अश्लील एवं अभद्र शब्दावली लिपिबद्ध कर गए थे। वह इतनी ऊँचाई पर पहुँचा और वह भी बड़ी कठिनता से एक-एक पत्थर को पकड़कर; परन्तु दुर्भाग्य है कि वह इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर भी प्रकृति के निश्छल सौन्दर्य का आनन्द नहीं ले सका। वहाँ पहुँच कर भी उसने कोयले का टुकड़ा उठाया और पत्थरों पर अपने जीवन की कालिमा पोतने लगा।

वैसे तो आज का भारतीय अपनी सभ्यता और संस्कृति का गर्व करता है। राम और कृष्ण की पावन भूमि में जन्म पाने से अपने को भाग्यशाली मानता है, और अध्यात्मवाद की चर्चा करते हुए भी नहीं अघाता। जहाँ कहीं भी भारत का सर्व-साधारण व्यक्ति मिलता है, वह भी ईश्वर के स्वरूप की चर्चा करता है। जिससे यह भली-भाँति जाना जा सके कि भारतीय जनता को ईश्वर के प्रति अगाध श्रद्धा है। मैं अभी इस विषय का विवेचन नहीं करूँगा कि वास्तव में उन्हें क्या आता है, और क्या नहीं आता? फिर भी इतना अवश्य कहूँगा कि उन्हें ठीक तरह रहना भी नहीं आता। अपने मकान, मौहल्ले, गलियों

एवं आम रास्तों को तथा धार्मिक या सार्वजनिक स्थानों को साफ रखने तक का ज्ञान भी उनमें नहीं है।

हाँ तो, गाँधी जी जिस डिब्बे में यात्रा कर रहे थे, उसी में एक युवक भी बैठा था। थूकने के लिए उसने उठने का कष्ट नहीं किया, बैठे-बैठे वहीं थूक दिया। इस घटना को बापू ने देखा, तुरन्त अखबार से एक छोटा-सा कागज का टुकड़ा फाड़ा और थूक को साफ करके खिड़की से बाहर फेंक दिया। युवक को बुरा लगा, और उसने उन्हें चिढ़ाने के लिए फिर थूक दिया। इस बार भी सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति गाँधी जी ने बिना कुछ कहे, उसके थूक को फिर साफ कर दिया। इस पर युवक का गुस्सा और तेज हो गया। अतः गाँधी जी को तंग करने के लिए उसने तीसरी बार भी थूका। और बापू ने उसी हास्य मुद्रा में उसे साफ कर दिया। युवक की उद्दण्डता से बापू के चेहरे पर अंश-मात्र भी क्रोध नहीं आया, उनके दिमाग में अणु-मात्र भी गर्मी पैदा नहीं हुई; बल्कि उनके चेहरे पर वही मधुर मुस्कान खेलती रही; जिसे देखकर युवक का क्रोध भी ठण्डा पड़ गया। उसने पास खड़े व्यक्ति से परिचय पूछा तो मालूम हुआ कि वह साधारण व्यक्ति नहीं, विश्व का महापुरुष गांधी है। अब तो युवक का हृदय कांपने लगा, और तुरन्त गाँधी जी के चरणों में गिर कर विनत भाव से क्षमा माँगने लगा।

युवक ने कहा—"मुझे नहीं मालूम था कि आप भी यहीं बैठे हैं?"

गाँधीजी ने सान्त्वना के स्वर में कहा—"क्षमा की क्या बात है? गन्दगी जहाँ भी हो, वहाँ से साफ करनी ही चाहिए। इसमें मैंने कोई विशेष महत्त्व का कार्य नहीं किया। परन्तु हाँ, एक बात अवश्य है कि तुम्हारे मुँह से ये शब्द कैसे निकले कि........आप भी यहीं बैठे हैं? मैं तो एक क्षुद्र प्राणी हूँ, फिर भी मेरी उपस्थिति को महत्त्व देते हो! परन्तु तुम जिसे ईश्वर मानते हो, जिसे अपना आराध्य देव मानते हो, वह भी तो यहीं

उपस्थित है। फिर उसकी उपस्थिति को महसूस क्यों नहीं करते ?"

हाँ तो, गाँधी जी के जीवन की यह एक विशेषता थी कि वे कोरा उपदेश नहीं देते थे, बल्कि कार्य करके बताते थे। आज उपदेश झाड़ने की आदत तो बढ़ गई है, पर उसके साथ काम करने की आदत नहीं बढ़ी। एक दिन भारतीय चिन्तकों का यह गुण था कि वे सुनते ज्यादा थे, किन्तु बोलते कम। परन्तु आज अतीत का उल्टा हो रहा है; अर्थात्—बोलने वाले बहुत हैं, और सुनने वाले कम हैं। आज का मनुष्य जबान से तो वाचाल है, किन्तु कान से बहरा और पैरों से पंगु बन गया है।

एक बार गांधी जी साबरमती आश्रम में एक मकान बनवा रहे थे। गधों पर ईंटें आ रही थीं, उनका ढेर लगा हुआ था। बापू भी वहीं खड़े थे। उक्त अवसर पर एक सज्जन गाँधी जी से गीता का रहस्य समझने आए। वे कई विषयों में एम० ए० थे, और गाँधी जी का लिखा हुआ गीता का अनुवाद भी पढ़ चुके थे। परन्तु पुस्तक के अध्ययन से रहस्य समझ में नहीं आया। इसीलिए उन्होंने बापू से कहा—मैं आपसे गीता का रहस्य समझने आया हूँ।

बापू ने कहा—अच्छा, तो आप इन ईंटों को गिनिए !

यह बात आगन्तुक को बहुत बुरी लगी, फिर भी जहर का कड़वा घूँट पीकर वे ईंटें गिनते रहे, क्योंकि बापू की आज्ञा जो थी। पर, जब वे सज्जन ईंटों को गिनते-गिनते ऊब गए तो बापू के निकट पहुँचे और अपनी जिज्ञासा को फिर दुहराया।

बापू ने भी उसी भाषा का प्रयोग किया—ईंटें गिनिए !

इस बार उक्त सज्जन झल्लाकर बोले—बापू में थक चुका हूँ, अब आप कृपा करके गीता के विषय में कुछ समझा दें, तो अच्छा रहेगा !

बापू ने मुस्कराते हुए कहा—गीता का रहस्य कागज पर अंकित

अक्षरों में बद्ध नहीं, वह तो इन ईंटों के कण-कण में समाया हुआ है। अतः ईंटों को गिनो और गीता का रहस्य को समझो !

इस शब्दावली को सुनकर आगन्तुक व्यक्ति स्तब्ध रह गया। उसने आश्चर्यान्वित होकर पूछा—क्या गीता का रहस्य इन ईंटों में छिपा हुआ है ?

बापू ने समर्थन की भाषा में कहा—हाँ ! तुमने गीता पढ़ी है, गीता पर मेरा अनुवाद भी पढ़ा है ?

आगन्तुक ने कहा—हाँ ! दोनों को पढ़ चुका हूँ।

बापू बोले—क्या तुम बता सकते हो, गीता की आत्मा क्या है ?

'गीता की आत्मा' ! आगन्तुक ने आश्चर्य में डूबते हुए कहा—क्या ! गीता के भी 'आत्मा' होती है ?

बापू ने कहा—हाँ ! गीता के भी 'आत्मा' होती है। तुमने गीता का किताबी शरीर ही देखा है, उसकी आत्मा के दर्शन नहीं किए। गीता की आत्मा है—'कर्म-निष्ठा' और इसी में सम्पूर्ण गीता का रहस्य समाया हुआ है।

उपर्युक्त घटना का भावार्थ यह है—"जो भी कार्य करो, निष्ठा-पूर्वक करो, तन्मय होकर करो ! किसी भी काम को मान-अपमान की तराजू पर मत तोलो ! यदि घर में कूड़ा बिखरा पड़ा है और स्त्री बीमार है, तो उस समय यह मत सोचो कि झाड़ू देना स्त्री का काम है, उसे मैं कैसे करूँ ? भारतीय दर्शन और गीता ने भी यही कहा है कि— भले ही काम छोटा हो या बड़ा, यदि आपके करने को आए, तो उसे मुस्कराते हुए कलात्मक ढंग से करो, निष्ठा-पूर्वक करो।"

एक रेलवे का कारीगर पटरी में लगाने की कीलें बना रहा था। किसी ने पूछा—क्या बना रहे हो ?

उसने कहा—रेल का पुर्जा बना रहा हूँ।

इसे सुनकर वह प्रश्न-कर्त्ता हँसा और व्यंगात्मक ढंग से बोला—निस्सन्देह इसी पुर्जे से रेल चलती होगी !

कारीगर ने शान्त स्वर में कहा—हाँ साहब ! मैं रेलवे का छोटा-सा कर्मचारी हूँ। जब मुझे कील बनाने का काम सौंपा गया है, तो मेरा काम है कि पूरी निष्ठा के साथ उसमें जुट जाऊँ। यह छोटी-सी कील यदि ठीक ढंग से नहीं बने, तो रेलगाड़ी पटरी पर वेग से गति नहीं कर सकती।

हाँ तो, केवल इंजिन के कल-पुर्जे ही रेल नहीं है, रेल तो समष्टि है। और उस समष्टि में एक छोटी-सी कील का भी उतना ही महत्त्व है, जितना कि इंजिन का। इसीलिए गाँधी जी ने भी दृढ़ता से कहा—"गीता का रहस्य है—'तन्मय होकर काम करना।' आपने दो घंटे तक ईंटें गिनीं तो सही, परन्तु मेरे प्रभाव से दबकर खिन्न चित्त होकर ही गिनीं, और यह समझ कर गिनी कि—गाँधी एक एम० ए० को ईंटे गिनने का काम सौंपकर उसका अपमान कर रहा है, तो आप गीता का रहस्य नहीं समझ सकते।"

बापू के जीवन की एक विशेषता यह भी थी कि वे सब के साथ तद्रूप बनकर रहे। जब कभी वायसराय या बादशाह से मिलने का अवसर आया तो प्रेम से मिले, स्नेह से बातें कीं। और जब किसी गरीब से मिले, तो भी उसी स्नेह से मिले। और जब वे बच्चों से मिलते, तो वह पचहत्तर वर्ष का बूढ़ा बच्चों के साथ घुल-मिल जाता। बापू ऐसे व्यक्ति थे कि बड़ों के साथ बड़े का, और बच्चों के साथ बच्चे का रूप बना लेते थे। उस महामानव में परिस्थिति के अनुरूप अपने जीवन को ढालने की विलक्षण क्षमता थी।

वास्तव में गाँधी जी मानव-जीवन के एक महान् कलाकार थे। आज के दिन उनका जन्म दिन है। परन्तु समझना यह है कि आज हम जन्म दिन मना रहे हैं, या जयन्ती ?

आप पूछ सकते हैं—क्या दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।

हाँ, दोनों में अन्तर है। जन्म की दृष्टि से हर समय कोटि-कोटि प्राणी जन्म लेते हैं और प्रति क्षण मरते भी हैं। हजारों-लाखों मनुष्य जन्म लेते हैं और जिन्दगी भर काम क्रोध में जलते रहते हैं। गरीबों का मनमाना शोषण करते हैं, अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की जिन्दगी को कुचलते हैं, और अन्त में एक दिन हाय-हाय करते हुए मर भी जाते हैं। क्या आप उनमें से किसी का जन्म दिन मनाते हैं ? यदि नहीं, तो क्यों ?

तत्त्वतः जन्म तिथि का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व है जयन्ती का। जयन्ती का अर्थ है—जिसका जीवन सदा 'जय' में बीता हो; अर्थात्—जो जीवन के प्रारम्भ से जीवन की संध्या तक विजय पथ पर अग्रसर रहा हो।

भावार्थ यह है कि—जो व्यक्ति जीवन भर विकारों से और वासना से लड़ता रहा, अपवाद और बुराई से संघर्ष करता रहा, सड़ी-गली रूढ़ परम्पराओं एवं अन्धविश्वासों से जिसने निरन्तर लोहा लिया और उन पर विजय भी पाता रहा, वही सच्चे अर्थों में वीर पुरुष है। और 'जयन्ती' भी जीवन के उसी कलाकार की मनाई जाती है, जो जीवन के हर क्षेत्र में माधुर्य बिखेरता है, शत्रु और मित्र—दोनों पर समरूप से स्नेह बरसाता है, दोनों का समान आदर करता है और दोनों के जीवन में समाई हुई बुराइयों को दूर करने में संलग्न रहता है।

'गाँधी जयन्ती' का अर्थ है—गाँधी जी के गुणों को, उनके प्रकाशमान जीवन को, एवं उनकी जीवन-कला को अपने जीवन में अवतरित करना। उनके शरीर की नहीं, गुणों की पूजा करना, अहिंसा एवं सत्य के पथ पर गति-प्रगति करना।

भारतीय जनता के मस्तिष्कों में यह संस्कार इतना रूढ़ हो गया है कि वह जिस किसी को पूजता है, उसे देव बनाकर पूजता है। जब मर्यादा पुरुषोत्तम राम आए, तो उन्हें देव बनाकर पूजा। कर्मयोगी कृष्ण आए, तो उन्हें भी देवत्व के आसन पर बैठाकर पूजा। और भी जो महापुरुष अवतरित हुए, उन सभी को मनुष्य के रूप में नहीं

रहने दिया। और अब गांधी जी आए तो उन्हें भी देव बनाने का प्रयास किया गया और अभी भी प्रयत्न किया जा रहा है।

इस सम्बन्ध में मैं तो यही कहूँगा कि—गांधी जी की पावन स्मृति को इन्सान के रूप में ही जीवित रहने दिया जाए। और उनके जीवन में इन्सानियत की जो सुगन्ध है, उसे जीवन के कण-कण में प्रविष्ट किया जाए। और मानव-हित में तथा राष्ट्र-सेवा में अपना जीवन लगाया जाए। तभी आप लोग मानव-जीवन के उस महान् कलाकार की सही अर्थ में 'जयन्ती' मना सकेंगे।

गांधी जयन्ती
२ अक्तूबर, १९५६.

कुचेरा
(राजस्थान)

—: २० :—

अभय

जैन-धर्म की परम्परा सदा से यही कहती आई है कि—जो व्यक्ति अपने विचार जनता के सामने प्रस्तुत करे, उसे पहले अपने अन्तर-मन में देख लेना चाहिए कि—वे विचार मेरे अन्तर-हृदय को छू पाए हैं या नहीं ? मेरे जीवन में उनके प्रति सच्ची श्रद्धा एवं निष्ठा भी है, या नहीं ? क्या मैं अपने सिद्धान्त के प्रति ईमानदार हूँ और प्रामाणिकता के साथ उसका आचरण भी करता हूँ ? यदि सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठा है, तो फिर उसे बिना किसी संकोच के सहज भाव से जनता के सामने प्रकट कर देना ही सच्ची कर्त्तव्य निष्ठा कहलाती है।

भगवान् महावीर ने कहा—"मानव ! तेरे सामने यदि चक्रवर्त्ती सम्राट् बैठा हो अथवा भौतिक समृद्धि का स्वामी सेठ बैठा हो, तब भी सत्य कहते हुए तुझे अंशमात्र भी संकोच नहीं होना चाहिए।" साधक इस विचार से सत्य को नहीं छुपाए कि—ये सत्ताधीश हैं और साधन-सम्पन्न हैं, शायद कभी नाराज न हो जाएँ ? सत्य को प्रकाशित करने में किसी का लिहाज रखना गलत है। जितनी निर्भीकता से चक्रवर्ती के सामने सत्य की उद्घोषणा करे, उतनी ही निर्भयता से एक गरीब के सामने भी। अमीर-गरीब की असमानता के कारण साधक

के सामने उपदेश के प्रश्न पर वर्ग-भेद नहीं होना चाहिए। सम्भव है, गरीव के पास रहने को टूटी झोंपड़ी भी न हो, खाने के लिए रूखे-सूखे टुकड़े भी कठिनाई से उपलब्ध होते हों; फिर भी उसे प्रेम, स्नेह एवं माधुर्य के साथ सत्य सिद्धान्त वताना ही चाहिए। और जो सत्य गरीव के सामने निर्द्वन्द, निर्भय होकर कहा जा सकता है, वही श्रीमन्त के सामने भी निर्भीकता पूर्वक कहा जा सके; इतनी ताकत साधक के अन्दर होनी अनिवार्य है।

अनाथी मुनि के वर्णन में यही वात है। उनके जीवन में यह एक विशेपता है। उस युग का महान् सम्राट् राजा श्रेणिक, अनाथी मुनि के सामने खड़ा है। वह मुनि को भोगों का आमंत्रण दे रहा है, उन्हें स्वर्ण एवं मणियों के चमकते हुए चित्ताकर्षक महल दिखा रहा है। और मुनि को प्रेरणा की भापा में कहता है कि—"तुम्हारा यह यौवन दर-दर की धूल छानने के लिए नहीं है। तुम मेरे अतिथि वनकर महलों में रहो। वहाँ सव तरह के सुख-साधन एवं वैभव विलास हैं, वहीं अपनी जिन्दगी आमोद-प्रमोद से गुजारो। यदि तुम्हारा कोई नाथ नहीं है, तो लो मैं तुम्हारा नाथ वनता हूँ।"

अनाथी मुनि मुस्कराते हुए कहते हैं—"राजन्! तू स्वयं अनाथ है, फिर मेरा नाथ कैसे वनेगा?" यह विपय जरा गम्भीर है। जव तक आप अनाथी मुनि जैसी गहराई में नहीं उतरेंगे, जव तक उनके अन्तर-जीवन में जो त्याग-विराग का विराट् सागर लहरा रहा है, उससे सम्वन्ध स्थापित न कर लेंगे, तव तक अनाथता के गूढ़ रहस्य को समझ नहीं सकेंगे। कदाचित् आप विचारते होंगे कि अनाथी मुनि कोई चलता-पुरजा मुँह फट साधु है, जो एक सम्राट् के सामने कुछ-का-कुछ; अंट-संट वोल रहा है। परन्तु वात ऐसी नहीं है। अनाथी मुनि विवेक-बुद्धि से सोच-समझकर ही वोल रहे हैं। वे जो कुछ भी कह रहे हैं, अक्षरशः सत्य कह रहे हैं, और निर्द्वन्द एवं निर्भयता-पूर्वक कह रहे हैं।

सत्य को सत्य के रूप में प्रकट करते हुए उन्हें तनिक भी हिचक नहीं है।

अनाथी मुनि यह बात एक श्रेणिक से ही नहीं कह रहे हैं, बल्कि अनगिनत श्रेणिकों से कह रहे हैं। क्योंकि श्रेणिक एक सीमित व्यक्ति के रूप में उपस्थिति नहीं है, अपितु वह समस्त विश्व के त्रिकालवर्ती भोगासक्त पुरुषों का प्रतिनिधि है।

अतएव जो भोग-विलास में निमग्न हैं, वे उस युग के ही नहीं, किन्तु अतीत और अनागत के उन अनन्त-अनन्त श्रेणिकों को एक महान् चुनौती दी जा रही है। विराट् आत्मा बता रहे हैं कि—"तुम भोग-विलास में निमग्न होकर यह समझ बैठे हो कि जो व्यक्ति आज साधु बने हैं, वे साधनों के अभाव में ही बने हैं? इन अभाव ग्रस्त लोगों को कोई सहारा नहीं मिला, इसीलिए साधु बन गए हैं। तुम नहीं समझते, इस साधुता की पृष्ठ-भूमि में त्याग और वैराग्य के ऐश्वर्य का कितना महान् प्रकाश समाविष्ट है? एक चक्रवर्त्ती सम्राट् भी, एक साधारण से त्यागी साधक के समक्ष दरिद्र है, और अनाथ है।"

यह है सत्य के प्रति अन्तर्निष्ठा! आप देख सकते हैं, अनाथी मुनि की वाणी में सत्य निष्ठा का महास्वर किस प्रकार अव्याहत भाव से मुखरित हो रहा है। भौतिक शक्ति का ऐश्वर्य, आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष सर्वथा निष्प्रभ हो जाता है।

अस्तु, सबसे पहले आप निर्द्वन्द एवं निर्भय बनें। यदि मनुष्य रोता-कल्पता एवं आँसू बहाता हुआ यात्रा करता रहा, तो वह निश्चित मंजिल तक नहीं पहुँच सकेगा। यदि साधना पथ का पथिक आँखों में दिव्य प्रकाश के स्थान पर खारा पानी भरकर चला तो वह सागर तो क्या, छोटे-से नाले को भी नहीं लाँघ सकेगा। अतः साधक की आँखों में माया और मोह के आँसू नहीं, बल्कि संयम और साधना का तेज चाहिए; और चाहिए—ज्ञान-वैराग्य से अर्जित निर्भीकता।

एक चिन्तक ने दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते हुए

कहा है—दुनिया के किसी एक कोने में देव अवश्य हैं, परन्तु इन्सान की दुनिया में भी देव हैं। दुनिया के किसी किनारे पर असुर रहते हैं, किन्तु मानव-जाति में भी असुर और राक्षस मौजूद हैं। दुनिया में दिखाई देने वाले बहुत से मनुष्य आकृति से इन्सान मालूम होते हैं। उनमें कितने ही मनुष्य आकृति से तो मनुष्य हैं, किन्तु प्रकृति एवं विचारों से कीड़े-मकोड़े हैं, पशु हैं, असुर और राक्षस हैं। शेष में कुछ इन्सान हैं, कुछ देव भी हैं। जहाँ अनेक व्यक्ति त्याग-वैराग्य के विराट् प्रकाश में गति कर रहे हैं, वहाँ कुछ व्यक्ति काम-क्रोध के सघन अंधकार में ठोकरें खा रहे हैं, मान और माया की शृंखला में उलझ रहे हैं। इस तरह इस विशाल संसार में इन्सान भी हैं, हैवान भी हैं, देव भी हैं, और दानव भी।

दैवी सम्पदा का विश्लेषण करते हुए एक भारतीय चिन्तक ने कहा है—"देवत्व का पहला गुण 'अभय' है। सत्य के प्रति यदि आपकी सच्ची श्रद्धा-निष्ठा है, अपने मोर्चे पर निर्भयता के साथ खड़े रहने का अदम्य साहस है, और मृत्यु का सन्देश सुनकर भी यदि आप सत्य के अलावा मौत के साथ कोई दूसरा समझौता करने को तैयार नहीं हैं, तो निश्चय ही आपके जीवन में दैवी सम्पदा विद्यमान है। और सत्य को विस्मृति के अंधकार में धकेल कर यदि आप मौत से कोई दूसरा मन चाहा समझौता करते हैं, तो समझना चाहिए कि आपके मानस में आसुरी शक्ति काम कर रही है।"

जिस प्रकार नदी-नालों के दो किनारे होते हैं, उसी तरह आपकी जीवन सरिता भी 'यश' और 'अपयश' के दो किनारों में सीमाबद्ध है। यदि आप सिद्धान्त पर सच्ची निष्ठा रखते हैं तो आजीवन अपमान के कड़वे घूँट पीने होंगे, क्योंकि दुनिया की जबान और कलम आपको तिरस्कृत करने के लिए खुल जाती है। और यदि सत्य से विलग होकर दुनिया के प्रवाह में प्रवहमान होते हैं, तो लौकिक यश मिलता है। कहिए, ऐसी स्थिति में आप किस किनारे पर चलना

पसन्द करेंगे ? यदि अपयश के अपवाद से और आपदाओं के आतंक से, उत्पीड़ित होकर सत्य सिद्धान्त से विपरीत दिशा में कदम रखते हैं, तो आप आसुरी संपत्ति के हाथ में कठपुतली की भाँति खेल रहे हैं। और चाहे अपयश के अंगारे बरसते रहें, तिरस्कार की बिजलियाँ गिरती रहें, फिर भी आप निर्भय, निर्द्वन्द, अखेद मन से सत्य सिद्धान्त के निर्दिष्ट पथ पर यदि गतिमान् हैं, तो समझना चाहिए कि आपका जीवन दैवी सम्पत्ति से संचालित है।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त भय और आतंक का नहीं है। महावीर का मार्ग तो निर्भयता, निर्द्वन्द्वता तथा निश्छलता की त्रिपथ-गामिनी गंगा है। उसमें भ्रम, भय और प्रलोभन जैसे त्रिदोष को अंश-मात्र भी स्थान नहीं है। उस निर्द्वन्द मानव का यह दिव्य आघोष है—"मानव ! अहिंसा की, और सत्य संयम की जो तू साधना कर रहा है, उसके पीछे किसी भय से बचने तथा किसी प्रलोभन से प्रभा-वित होने की वृत्ति मत रख, अपितु निर्भय एवं निर्द्वन्द बनने के लिए ही सत् कार्य कर।"

एक साधक से पूछा गया—तुम अहिंसा आदि व्रतों की साधना क्यों कर रहे हो ? उसने भय के स्वर में कहा—मैं यहाँ से मर कर कहीं पशु-योनि या नरक में न चला जाऊँ। यदि नरक में चला गया तो यमराज भाले की नोंक पर न उछालें, या दहकती हुई आग में न झोंक दें। बस, इन्हीं यातनाओं से बचने के लिए साधना कर रहा हूँ।

दूसरे साधक से भी यही प्रश्न पूछा गया; तो उसके दिमाग में स्वर्ग के सुनहरे स्वप्न घूम रहे थे, वहाँ की रंगीन तसवीरें उसके नेत्रों के सामने नृत्य कर रही थीं। अतः उसने बताया कि—मैं स्वर्ग में पहुँच-ने के लिए साधना कर रहा हूँ।

वास्तव में इस तरह की साधना के पीछे एक तरफ भय है, तो दूसरी तरफ प्रलोभन है। जिस साधना के पीछे स्वर्गीय सुखों का लालच है तथा नारकीय यातनाओं का आतंक है, वह साधना सच्ची साधना नहीं

कहलाती। यही कारण है कि आज हजारों साधक दुःख-सुख की तराजू लिए बैठे हैं। वे अपनी साधना को स्वर्ग-नरक एवं यश-अपयश की तुला पर तोलते हैं। परन्तु भगवान् महावीर के दर्शन में तो—भय और प्रलोभन; दोनों ही साधना के पवित्र पथ में रोड़े हैं। अतः तुम नरक की यातनाओं की ओर मत देखो, और न स्वर्ग के सुखों की ओर ही दृष्टि डालो। यदि देखना ही है, तो एकमात्र पवित्रता को देखो।

यदि दुःख के दुर्दिनों में भी तुम्हारे अन्तर्मन में पवित्रता का निर्मल झरना प्रवहमान है तो उस दुःख को अभिशाप नहीं, अपितु वरदान ही समझो! काँटों की नोंक पर से गुजरते समय भी यदि जीवन में पवित्रता का मधुर संगीत ध्वनित हो रहा है तो उन काँटों को अभिशाप नहीं, अपितु वरदान ही समझो!! और पराग झरित फूलों पर गतिमान होते समय भी यदि हृदय में पवित्रता की वीणा बज रही है, तो उन पुष्पों को भी वरदान समझो!!! क्योंकि मानव-जीवन की पुष्प-वाटिका में न तो काँटो का महत्त्व है, और न फूलों का। महत्त्व है केवल पवित्रता का, और सत्य का। अतः साधक की साधना का लक्ष्य न तो नरक से बचना है, न स्वर्ग प्राप्ति है, न अपयश से बचना है, और न मान-प्रतिष्ठा एवं यश-कीर्त्ति बटोरना ही! उसका अभीष्ट उद्देश्य—अपने मन को, वाणी को एवं विचारों को माँजने का होना चाहिए। और अपनी आत्मा के एक-एक प्रदेश पर चिपके हुए कर्म-कर्दम को दूर करने का होना चाहिए!!

जैन-धर्म भय से प्रेरित होकर की जाने वाली साधना को कोई महत्त्व नहीं देता। सरकस में प्रायः आप देखते हैं कि शेर की पीठ पर मेमना चढ़ाया जाता है। शेर उस क्षुद्र मेमने को क्यों चढ़ा रखता है? एकमात्र बिजली के हंटर की मार के आंतक से बाध्य होकर ही शेर ने क्षुद्र मेमने को अपनी पीठ पर चढ़ाया है, और उधर मेमना भी हंटर के भय से ही शेर की पीठ पर सवार है। यहाँ चढ़ाने वाले के हृदय

में स्नेह-सद्भावना नहीं है। जिस तरह एक पिता सहज स्नेह भाव से अपने प्यारे पुत्र को गोद में उठाता है, उस तरह खूँखार शेर ने बेचारे को पीठ पर नहीं बैठाया है। यहाँ दोनों ओर भय और विवशता का वातावरण है, हंटर की मार का आतंक है। बेचारा मेमना सोचता है, यदि शेर की सवारी नहीं की, तो हंटर की मार पड़ेगी। और दूसरी ओर शेर भी यही सोचता है, यदि मौन भाव से मेमने को सवार नहीं होने दिया, तो पीठ पर कोड़े बरस पड़ेंगे। तो क्या, इस भावना में दया का, अहिंसा का एक भी अंश है? प्रेम की, स्नेह की एक भी बूँद है? किसी भी स्थल पर भाई-चारे का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है? नहीं, बिल्कुल नहीं! क्यों नहीं? कटहरे का बन्दी जीवन और कोड़े की मार से बचने की विवशता— इस स्थिति का मूल कारण है।

अस्तु, वह साधना वास्तविक साधना नहीं कहलाती, जो नरक के भय से की जाती है। भय से प्रेरित होकर की जाने वाली साधना तभी तक चलती है,जब तक कि भय का डंडा सामने रहता है। यदि आज कोई यह बता दे कि—स्वर्ग-नरक कुछ नहीं है और अन्तर-मन में यह विश्वास भी जम जाए तो वह भय बिल्कुल दूर हो जाएगा, और फिर साधना का मार्ग भी वहीं समाप्त हो जाएगा। अतः जैन-धर्म ने साधना के लिए भय एवं लोभ-लालच को जरा भी महत्त्व नहीं दिया है।

जैनाचार्यों से पूछा गया— धर्म का मूल क्या है? उत्तर में कहा गया—धर्म का मूल है 'सम्यक्-श्रद्धा, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-आचरण।' आगे पूछा गया—श्रावकत्व, साधुत्व, एवं मोक्ष का मूल क्या है? तो उत्तर में वही बात दुहराई गई—'सत्य के प्रति दृढ़ विश्वास, सत्य का सम्यक्-ज्ञान और सत्य की सदाचार-मूलक पवित्रता ही इन सब का मूल है।'

सम्यक्त्व की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने कहा है—जिसके मन में लोक-परलोक का भय नहीं है, वह सम्यक्त्वी है। और जिस आत्मा में भय है, वहाँ सम्यक्त्व स्थिर नहीं रह सकता है। कुछ लोगों को धन

का भय बना रहता है। वे सोचते रहते हैं कि यदि सत्य एवं ईमानदारी से व्यापार करते रहे तो दिवाला निकल जाएगा। आज के मानव की दृष्टि में पैसे का मूल्य अधिक है, भले ही उसके लिए सत्य एवं सिद्धान्त का खून करना पड़े, गरीबों का गला घोटना पड़े, तब भी कोई अनाचार नहीं। उन्हें तो यही चिन्ता रहती है कि यदि शुभ कार्य में दान देते रहे, तो एक दिन गरीब हो जाएँगे।

परन्तु यह एक मिथ्या कल्पना है। प्रामाणिकता एवं सत्य निष्ठा से कार्य करने से गरीबी नहीं आती। जिस वृक्ष की जड़ें जमीन में गहरी जमी हुई हैं, वह पेड़ जल्दी नहीं सूखता। जबः तक उसमें प्राण हैं, तब तक उसे यह भय नहीं है कि उसके पत्र-पुष्प एवं फल कौन ले जा रहा है? प्रत्येक पतझड़ में उसके पत्ते समाप्त हो जाते हैं, परन्तु वसन्त का आगमन होते ही वह वृक्ष फिर से पल्लवित पुष्पित हो उठता है। और फलों के रूप में पुनः अमृत-रस अवतरित हो उठता है। जब तक उसमें जीवन-शक्ति विद्यमान है, तब तक उसे अपने एक-एक पत्ते को, एक-एक फूल को, और एक-एक फल को संग्रह करने की आवश्यकता नहीं है। यदि वह वृक्ष प्राण-शक्ति विहीन है, तब भी उसका संग्रह करना बेकार है। क्योंकि उस पर लगे पत्ते, पुष्प एवं फल सड़-गलकर नष्ट हो ही जाएगें, और वह निष्प्राण वृक्ष ठूंठ के रूप में भूत-सा भयावना प्रतीत होगा। अस्तु, यदि आपके अन्तर-जीवन में प्राण है, धर्म है, तथा प्रामाणिकता विद्यमान है तो दुनिया की कोई भी ताकत आपका कुछ भी नहीं, बिगाड़ सकती। अतः न इस लोक के भय से डरकर सत्य को छोड़ो, और न परलोक के भय से ही भयभीत होकर सत्य का त्याग करो।

परलोक का भय भी बुरा होता है। एक विद्यार्थी नास्तिक बनता जा रहा था। पिता ने उसे आस्तिक बनाने का प्रयास किया। पिता की प्रेरणा से उसने आस्तिकवाद की किताबें पढ़ीं और धीरे-धीरे वह ऐसा आस्तिक बन गया; कि—अर्ध विक्षिप्त-सा रहने लगा। रास्ते में गधे

को देखता, तो भय से काँप उठता कि—कहीं मैं भी गधा न बन जाऊँ। इसी तरह मक्खी, मच्छर, कीड़े-मकोड़े, साँप-बिच्छू आदि को देखकर मन में सिहर उठता कि—कहीं मैं भी तद्रूप न बन जाऊँ। इस तरह वह लड़का जब भी यत्र-तत्र जीवों की विचित्र दुनिया को देखता, तो एकदम चीख उठता कि—कहीं मैं भी इस नरक धाम में न पहुँच जाऊँ।

एतदर्थ भगवान् महावीर कहते हैं कि—तुम परलोक को तो मानो, परन्तु उससे डरो मत। परलोक को मानना और बात है, और उससे भयभीत होना दूसरी बात है। शत्रु की चाल और उसकी गति-विधि का ध्यान रखना तो ठीक है, परन्तु प्रतिक्षण उससे भयभीत रहना गलत है, कायरता है। दुर्भाग्य है, आज हजारों साधक लोक-परलोक और यश-अपयश के भय में पिसे जा रहे हैं। वे मुस्कराते हुए नहीं, अपितु रोते-कल्पते एवं आँसू बहाते हुए चल रहे हैं। कदम-कदम पर नरक के, कीड़े-मकोड़ों के, तथा साँप-बिच्छू के भय से भयभीत हैं। उनके अन्तर्मन में नरक का भय है, स्वर्ग का प्रलोभन है, और उस भय एवं प्रलोभन से प्रेरित होकर ही साधना की प्रक्रिया चल रही है। परन्तु साधना के प्रति जो सच्ची श्रद्धा-निष्ठा एवं भक्ति होनी चाहिए, वह नहीं है।

अभी विजय मुनि जी राम की बात सुना रहे थे। राम के सामने वन का भयंकर चित्र है। फिर भी उनके मन में कहीं भी विषाद की की रेखा नहीं है। वन में होने वाले कष्टों एवं दुःखों से वे पूर्णतः परिचित थे, फिर भी भयभीत नहीं थे। लक्ष्मण के सामने भी यही समस्या थी। यदि वह आपत्तियों से डरा होता, तो एक क्षण भी राम की सेवा में स्थिर नहीं रह पाता। यदि सीता वनवास के दुःखों से दुःखित होती, भयभीत होती, तो क्या वह बीहड़ वनों में राम के साथ-साथ चल पाती?

सीता के सुखद जीवन का वर्णन करते हुए रामायण के प्राचीन

लेखकों ने लिखा है—"उनका शरीर इतना सुकोमल था कि सूर्य की किरणें भी उसे स्पर्श करते हुए डरती थीं।" किन्तु अयोध्या की वही भावी साम्राज्ञी चौदह वर्ष तक वन में राम की सेवा-शुश्रूषा करती रही; क्योंकि उसके सामने कर्त्तव्य था, आचरण था, दुःखों का भय नहीं था। इसी से वह निर्द्वन्द्व, निर्भयता से वन में घूम सकी।

राक्षस-राज रावण बलात् उठाकर लंका ले गया, किन्तु वहाँ भी उसका तेज चमकता रहा। रावण का बल-वैभव कितना विशाल था ? उसकी एक हुँकार, एक गर्जना और एक दृष्टि बड़े-बड़े दिक्पालों के दिल को भी कंपित कर देती थी। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक उसका एक-छत्र आतंक था। किन्तु वह आसुरी शक्ति का अधिपति रावण, जब सीता के सामने आता है तो उसकी सारी शक्ति क्षीण हो जाती है। वह एक पालतू कुत्ते की तरह सीता से अनुनय विनय करता है, उसे अपने विराट् वैभव का प्रलोभन देता है। परन्तु वह सीता को स्पर्श नहीं कर पाता। रावण यह समझता था, कि सीता एक जलता हुआ दावानल है, जिसे स्पर्श करते ही मैं जल न जाऊँ ! मेरी शक्ति एवं मेरा बल जलकर भस्म न हो जाए !!

अस्तु, मैं आपसे पूछता हूँ, कि रावण की लंका में सीता का रक्षक कौन था ? अन्तर्मन की गहराई में पहुँचने पर आपको इस प्रश्न का उत्तर मिलेगा—"सीता की स्वाभाविक निर्भयता, सतीत्व की निष्ठा, निर्द्वन्द्वता ही उसकी रक्षक थी।" सीता के सामने एक ओर भौतिक ऐश्वर्य का प्रलोभन है, और दूसरी ओर मौत की हुँकार है। परन्तु सीता का जीवन दोनों से बिल्कुल अलग है, न तो ऐश्वर्य की तरफ किसी प्रकार का झुकाव है, और न मौत का ही कुछ भय है। उसकी श्रद्धा-भक्ति एवं निष्ठा एकमात्र सत्य के प्रति है। और सत्य की उस विराट् शक्ति ने सीता की अन्त तक रक्षा की। अस्तु, साधना का अर्थ है—यदि सत्य की रक्षा के लिए सुदर्शन की तरह सूली की नोंक पर

भी चढ़ना पड़े, तो अखेद वृत्ति से हँसते हुए चढ़ जाना चाहिए। सीता की तरह बिना किसी भय के दहकते अग्नि-कुण्ड में प्रविष्ट हो जाना चाहिए।

जैन-धर्म की भाषा में कहूँ तो निर्भयता के आए बिना शुद्ध सम्यक्त्व नहीं आ सकती। और यदि सम्यक्त्व का दिव्य दीप प्रज्ज्वलित नहीं हुआ, तो फिर श्रावकत्व एवं साधुत्व का प्रखर प्रकाश कैसे फैल सकेगा? अतः सम्यक्त्व, श्रावकत्व एवं साधुत्व की साधना के लिए जीवन में से—भय को, खेद को, भ्रम को और आतंक को निकाल फेंकना चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्र के पाट पर इधर मुनि रामचन्द्र बैठे, और उधर महाराज कुमारपाल के सिंहासन पर जयपाल बैठा। परन्तु कुमारपाल का जैसा तेज, शौर्य तथा उच्च चारित्र जयपाल में नहीं था। सम्राट् कुमारपाल के दिवंगत होते ही जयपाल के हाथ में प्रजा की जीवन नौका सुरक्षित नहीं रह सकी। वह विलासी युवक था, रात-दिन भोग-विलास में निमग्न रहता था। शराब के प्यालों और सुन्दरियों के पायलों की झंकार में अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा एवं राज्य-व्यवस्था को सर्वथा भूल चुका था।

फिर भी वह सोने के सिंहासन पर प्रतिष्ठित था। फिर संसार तो सदैव से शक्ति-पूजक रहा है। वह पराजित को रावण के रूप में धिक्कारता है, और विजेता को राम के सिंहासन पर बैठाकर पूजता है। भले ही, विजेता रावण ही क्यों न हो? परन्तु प्रबुद्ध पुरुष शक्ति की पूजा नहीं करता, वह सदा सत्य की पूजा करता है और सत्य को ही अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता है।

जयपाल ने आचार्य रामचन्द्र से कहा—"आओ, आप आचार्य हेमचन्द्र बनो, और मैं कुमारपाल बनूँ! अर्थात्—जैसे आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल के विषय में लिखा है, वैसे ही आप भी मेरी प्रशस्ति लिखें। मैं आपको मान-सम्मान दूँगा, प्रतिष्ठा दूँगा।"

आचार्य रामचन्द्र ने उत्तर में कहा—"तुम किससे वात कर रहे हो ? मैं कोई कविता करने वाला भाट नहीं हूँ, जो रावण को भी राम के सिंहासन पर बैठा दूँ ! वे कवि और हैं, जो यश के भूखे हैं ! मेरी सम्मति में यश जैसी अलौकिक वस्तु, दिखाऊ प्रतिष्ठा से नहीं खरीदी जा सकती ! यह ठीक है कि तुम मुझे खरीद सकते हो, परन्तु राज-सत्ता के वल पर नहीं, और न लोक-प्रतिष्ठा के माध्यम से ही ! तुम मुझे जब चाहो खरीद सकते हो—सत्य-निष्ठा से, ईमानदारी से, और न्याय-नीति एवं सदाचार से !!"

मैं तो तुम्हारे हाथों विकने को तैयार हूँ, परन्तु मुझे खरीदने के लिए तुम पहले अपने जीवन को नया मोड़ तो दो ! मैं भोग-विलास के गुलाम की प्रशस्ति नहीं लिख सकता। मैं तुम्हारा झूठा यशोगान नहीं गा सकता। आचार्य हेमचन्द्र ने भी कुमारपाल का यशोगान नहीं किया है, अपितु उसके कर्त्तव्य-निष्ठ पवित्र जीवन की प्रशस्ति लिखी है। इसी प्रकार मैं भी तुम्हारी प्रशस्ति लिख सकता हूँ, परन्तु कव ? जब कि तुम अहिंसा, सत्य, शील, प्रामाणिकता आदि सद्गुणों को अपने जीवन में अवतरित कर लो !!

आचार्य के इस निःशंक स्पष्टीकरण को सुनकर जयपाल क्रोधित हो उठा, उसकी भौंहे तन गईं, नेत्रों से आग बरसने लगी; तदनुसार उसने आचार्य को वन्दी वना लिया ! तेल का कड़ाह अग्नि पर चढ़ा दिया और आचार्य के शरीर का एक-एक टुकड़ा काट-काट कर उस गर्म तेल में डाला जाने लगा। और साथ ही वह माँस के टुकड़ों को आचार्य की आँखों के सामने वड़े की तरह पकवाता रहा !! ये यातनाएँ यद्यपि अमानुषिकता की चरम सीमा को लाँघ चुकी थीं, किन्तु फिर भी वह महापुरुष सत्य-पथ से विचलित नहीं हुआ और उसके मन में भय, उद्वेग तथा खेद का संचार नहीं हुआ। उस सत्य-निष्ठ साधक के मुँह से अन्त तक स्वतंत्रता का यही अमर संगीत गूँजता रहा—

"स्वतंत्रो देव! भूयासं, सारमेयोऽपि वर्त्मनि।
मास्म भूवं परायत्तः, त्रैलोक्यस्यापि नायकः।।"

अर्थात्—"मैं स्वतंत्र रहकर अपनी सत्य-निष्ठा का पालन करना चाहता हूँ! स्वतंत्रता के लिए मुझे राह पर का कुत्ता बन जाना भी स्वीकार है, परन्तु सत्य-पथ से भ्रष्ट होकर, पराधीन बनकर रहने में यदि तीन लोक का साम्राज्य भी मिलता हो, तो मैं उसे भी ठुकरा देना चाहता हूँ!!"

आप देख सकते हैं—यदि उस महान् आचार्य के जीवन में निर्भयता नहीं होती; बल्कि मृत्यु का भय होता, तो क्या वह इस प्रकार सत्य की पूजा कर सकता था? सत्य की रक्षा के लिए क्या वह अपने शरीर का बलिदान दे सकता था? अपने प्राणों का व्यामोह छोड़ सकता था? कदापि नहीं।

अस्तु, जरा गहराई से सोचिए, कि आज सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति क्यों नहीं आ पाती है? आज का समाज, चाहते हुए भी रूढ परम्पराओं से क्यों नहीं अपने को विलग कर पाता है? वह विवाह-शादी, जन्म-मरण, पर्व-त्यौहार एवं तप-साधना आदि में प्रचलित सड़ी-गली निष्प्राण रूढियों से क्यों चिपटा रहता है? मनुष्य अन्तर् हृदय से तो इस दल-दल से निकलना चाहता है, परन्तु वह निकलने की जगह उल्टा और अधिक गहरा फँसता जा रहा है! समस्याओं की गुत्थी सुलझने की जगह और अधिक उलझती जा रही है!!

कारण स्पष्ट है! मनुष्य अपने आप में निर्द्वन्द्व, निर्भय एवं स्वतंत्र नहीं है। उसके अन्तर्मन में यह भय विद्यमान है कि—यदि मैं इन रूढ परम्पराओं से अलग हो गया, तो दुनिया मेरे बारे में क्या कहेगी? लोग मेरी निन्दा और बुराई करेंगे, जिससे मेरा अपयश ही होगा। बस, इस जरा-से लौकिक भय के कारण मनुष्य इन सड़ी-गली रूढ परम्पराओं तथा निष्प्राण विधि-निषेधों को छाती से चिपकाए हुए हैं।

वह सत्य को समझकर भी उसे स्वीकार करने में हिचक रहा है।

आज भी साधना पूर्ववत् चल रही है—श्रावक एवं साधु अपनी-अपनी साधना कर रहे हैं। परन्तु इसके लिए यह अनिवार्य है कि भय एवं प्रलोभन को—चाहे वह इस लोक का हो या परलोक का, परिवार का हो या समाज का, संघ-शासन का हो या राज-शासन का, भूत-पिशाच का हो या प्रतिष्ठा का; सभी को पैरों तले कुचल डालें।

इस तरह आप सत्य-निष्ठा, ईमानदारी एवं प्रामाणिकता के साथ अपने कदम उठाएँगे, तो जहाँ-जहाँ आपके चरण-चिन्ह अंकित होंगे—वहीं स्वर्ग होगा, वहीं ऐश्वर्य के अम्बार लग जायँगे। स्वर्ग तो क्या, अपवर्ग भी आपके लिए दूर नहीं रहेगा। जीवन की पवित्रता, निर्मलता, निश्छलता, निर्भयता एवं निर्द्वन्द्वता ही मानव की सर्वोच्च शक्ति है; जिसके इर्द-गिर्द शान्ति और प्रेम का अमृत सागर सदैव लहराता रहता है।

दिनांक
११-११-५६.

कुचेरा (राजस्थान)

—: २१ :—

प्रकाश-पर्व

हमारा भारतवर्ष पर्वों और त्यौहारों का देश है। इस विराट् राष्ट्र की पवित्र भूमि पर जातीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पर्व-स्रोतों का प्रवाह सतत रूप से प्रवहमान है। इससे विदित होता है कि भारतीय संस्कृति के अधिनायकों ने अपने विराट् तथा गम्भीर चिन्तन-मनन के आधार पर पर्वों का निर्माण करते समय भारत की कोटि-कोटि जनता के नैतिक, आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। अतएव प्रत्येक पर्व एवं त्यौहार पर भारतीय संस्कृति की वह अमिट छाप है, जिस पर पुरातन भारतीय संस्कृति का अजर-अमर गौरव आज भी स्पष्टरूपेण परिलक्षित होता है।

पर्वों के आधार पर यह भली-भाँति जाना जा सकता है कि भारतीय जनता का जीवन कितने आनन्द, उल्लास, हर्ष एवं आमोद-प्रमोद में बीता है। उसका नैतिक जीवन-स्तर कितना ऊँचा रहा है, और उसने अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन में कितना विकास किया है। इस तरह भारतीय पर्व प्रवाह में पुरातन इतिहास एवं पुरातन परम्परा की स्पष्ट झलक मिलती है।

प्रस्तुत कार्त्तिक महीना भी इन्हीं सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पर्वों से भरा-पूरा है। कार्त्तिक कृष्णा त्रयोदशी से यह पर्व परम्परा प्रारम्भ होती है और कार्त्तिक शुक्ला दूज तक सतत चालू रहती है। इस पर्व परम्परा को पंच पर्वी भी कहते हैं।

१—धन-तेरस

पंच-पर्वी का पहला दिन कार्त्तिक कृष्णा त्रयोदशी है, जिसे 'धन-तेरस' कहते हैं। धन-तेरस लक्ष्मी की प्रतीक है। इस दिन मनुष्य के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण अर्थ-चेतना जागृत होती है; क्योंकि मनुष्य अपनी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान धन, वैभव एवं लक्ष्मी के सहारे ही करता है।

मनुष्य जब तक गृहस्थ है, सामाजिक प्राणी है, परिवार के साथ संबद्ध है, और राष्ट्र के अन्दर रहता है—तब तक वह दरिद्र, गरीब एवं दर-दर का भिखारी बना फिरे! यह किसी भी रूप में उपयुक्त नहीं है। जो मनुष्य अपने शरीर की क्षति-पूर्ति करने के लिए एक रोटी का प्रबन्ध नहीं कर सकता, अपने चुन्नू-मुन्नू एवं परिवार का भरण-पोषण नहीं कर सकता, जिसके चारों ओर दरिद्रता मंडराती हो—तो क्या ऐसी स्थिति में वह दरिद्र सुख एवं शान्ति का अनुभव कर सकता है? क्या वह अपने नैतिक जीवन को ठीक रख सकता है? क्या वह अपने आध्यात्मिक चिन्तन-मनन को आगे बढ़ा सकता है? नहीं, कदापि नहीं।

जैन-धर्म ने मनुष्य को 'अपरिग्रही' तथा 'अल्प-परिग्रही' बनने का सन्देश दिया है, गरीब एवं दरिद्र बनने का नहीं। त्यागी बनने का आदेश दिया है, दर-दर का भिखारी बनने का नहीं। भोगेच्छा से निवृत्त होने का मार्ग बताया है, भिखमंगा बनने का नहीं। भावार्थ यह है कि—जैन-धर्म ने न केवल पदार्थों के अभाव को महत्त्व दिया है, और न केवल अभाव को त्याग ही माना है; बल्कि उसने महत्त्व दिया है—तृष्णा,

ममता और वासना के अभाव को। और इनके अभाव में ही सच्चा त्याग माना गया है।

हाँ तो, 'अपरिग्रह वृत्ति' एवं 'दरिद्रता' में रात-दिन का अन्तर है। अपरिग्रह के पीछे त्याग-निष्ठा है, भोगेच्छा के प्रति अरुचि है, ममता-मूर्छा का अभाव है। यही कारण है कि अनुकूल पदार्थों की उपलब्धि न होने पर भी सच्चे अपरिग्रही के चेहरे पर दुःख एवं दैन्य की मलिन छाया नहीं पड़ती। वह महापुरुष काँटों की नोंक पर भी मुस्कराता हुआ चलता है। अतः अपरिग्रही व्यक्ति वह है, जिसको किसी भी स्थिति में दुःख-दैन्य की छाया नहीं छू पाती।

दरिद्र वह है, जो त्याग की भूमिका का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं करता, किन्तु परिस्थितिवश अभाव-जन्य दुःख-दैन्य को भोगता है। पदार्थों की लालसा एवं भोगेच्छा उसके अन्तर्मन में निरन्तर बनी रहती है। वह रात-दिन आँसू बहाता है, झूरता है, तृष्णा की आग में जलता है और अन्ततः पतन के गर्त में जा गिरता है।

एक आचार्य से पूछा गया—दुनिया में सबसे भयंकर पाप क्या है ? आचार्य ने हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि में से किसी भी दुष्कर्म को महापाप नहीं बताया। वह इस सम्बन्ध में एक विलक्षण बात कह गया—"दरिद्रता से बढ़कर और कोई पाप नहीं है।" दरिद्रता के सम्बन्ध में एक विदेशी दार्शनिक ने भी क्या ही अच्छा मत व्यक्त किया है—"Poverty is the mother of all evils ;" अर्थात्—"गरीबी समस्त पापों की जननी है।"

आप कहेंगे, दरिद्रता में क्या पाप है ? जब आप चिन्तन की अतल गहराई में उतरेंगे तो विदित होगा कि दरिद्रता कितनी भयंकर है। दरिद्रता जहाँ कहीं आती है—चाहे उसका शिकार कोई व्यक्ति, परिवार समाज या राष्ट्र हो— उसकी हालत दयनीय हो जाती है। दरिद्रता की चक्की में पिसने के बाद वह अपनी एवं परिवार की, समाज की, तथा राष्ट्र की समुचित व्यवस्था कर ही नहीं सकता। परिवार एवं

समाज गरीबी के कारण ऊपर नहीं उठ पाते। देश की गरीबी के कारण राष्ट्रीय जीवन-स्तर ऊँचा हो नहीं सकता। देश के युवक, जो अपनी महती उपयोगिता के नाते राष्ट्र की रीढ हैं, और रीढ होने के नाते युवक वर्ग का शिक्षित होना नितान्त आवश्यक है। परन्तु देश की दरिद्रता के कारण वे अज्ञान के अंधेरे में भटकते हैं, विचारों से बौने रह जाते हैं और उनके जीवन में सद्गुणों का ठीक-ठीक विकास नहीं हो पाता। वे निरन्तर घृणा एवं द्वेष की आग में जलते ही रहते हैं। और गरीबी के कारण ही परिवार, समाज एवं राष्ट्र में आन्तरिक कलह होते हैं, झगड़े होते हैं, और मानव-मन में अनैतिक आचरण एवं अनाचार की ओर प्रवृत्त होने की दुर्भावना उग्र रूप धारण कर लेती है। अतः दरिद्रता ही सब पापों की जननी है।

वस्तुतः गरीबी महापाप है, एक भयंकर अभिशाप है। जो व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र गरीब है, उसका रक्षण होना कठिन है। आपने मिस्र पर हुए आक्रमण के समाचार दैनिक पत्रों में पढ़े होंगे। राजनैतिक क्षेत्र में यह एक अनैतिक आक्रमण हुआ है। इस तरह का आक्रमण इन दिनों अन्यत्र नहीं हुआ। कहने का अभिप्राय यही है कि 'गरीब आराम से जी नहीं सकता—"गरीब की जोरू, सब की भाभी;' यह लोकोक्ति अक्षरशः ठीक है। यदि कोई राष्ट्र गरीब है, दुर्बल है, आधुनिक युद्ध आयुधों से हीन है, तो उसे कोई भी ताकतवर राष्ट्र दबोच सकता है। गरीब के संरक्षक विरले ही मिलते हैं। अधिकांश व्यक्ति उसे चूसने का, दबाने का, खत्म करने का अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। फिर भले ही वह गरीब—कोई एक व्यक्ति हो, परिवार हो, समाज हो या राष्ट्र ही क्यों न हो।

अतः दरिद्रता से उन्मुक्त होने के लिए गृहस्थ-जीवन में लक्ष्मी का, धन-वैभव का महत्त्व माना गया है। इस सम्बन्ध में भारत के एक कवि ने कहा भी है—"साधु कौड़ी रखे तो कौड़ी का, और गृहस्थ कौड़ी न रखे तो कौड़ी का।"

अस्तु, भावार्थ यह है कि—यदि कोई साधु माया से लिप्त रहता है, एक कौड़ी का भी परिग्रह रखता है तो उसका साधुत्व कौड़ी से अधिक मूल्य नहीं रखता। यदि उसे माया के पाश में आवद्ध ही रहना था, तो उसने साधुता का वाना क्यों धारण किया? यदि उसमें अपरिग्रह की भूमिका पर स्थिर रहने की शक्ति नहीं थी, तो फिर वेश क्यों वदला? साधुता के वेश में परिग्रह का संग्रह करने वाला व्यक्ति संत नहीं, वल्कि दंभी, धूर्त, एवं पाखण्डी है। हाँ तो, लोकोक्ति के प्रथम सूत्र का अर्थ है—"यदि साधु धन का संचय करता है, तो वह अपने त्याग एवं चारित्र के मूल्य को गँवा वैठता है, खो देता है।"

दूसरा सूत्र है—"यदि गृहस्थ के पास कौड़ी (धन) का अभाव है, तो उसका जीवन भी कौड़ी की कीमत का है।" भावार्थ यही है कि—गृहस्थ का जीवन अर्थ (धन) पर आधारित है। परिवार आदि की व्यवस्था धन की अपेक्षा रखती है। धनाभाव में वह पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता, मनुष्य अपने दायित्व को ठीक तरह निभा नहीं सकता।

गृहस्थ-जीवन चलाने के लिए लक्ष्मी आवश्यक है, अनिवार्य है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह उपलब्ध किस प्रकार हो? इधर-उधर दो-चार दीप जला दिए, लक्ष्मी देवी के सामने कुछ फल-फूल, मिष्टान्न एवं रुपए रख दिए और उसकी माला जपने लगे। क्या इस तरह लक्ष्मी आती है? यदि कुछ दीप जलाने, भोग लगाने, रुपए दिखाने एवं माला जपने से खाली भण्डार भर जाया करते, तव तो भारत का हर व्यक्ति लक्ष्मी-पति वन गया होता? दुनिया में कोई भी व्यक्ति दरिद्र नजर नहीं आता?

दुर्भाग्य है, आज भारत इस विचार धारा में किधर वह गया! जव किसी परिवार, समाज एवं राष्ट्र का पतन होता है, तो उसके शरीर में पुरुषार्थ करने की ताकत नहीं रह जाती है। वह एक तरह से अकर्मण्य एवं दरिद्र वन जाता है। यदि किसी तरह का दुःख है, या

कोई वेदना है तो उसे दूर करने के लिए देवी-देवताओं का जप करने लगता है, माला जपता है। धन, प्रतिष्ठा एवं विद्या पाने के लिए भी जप करता है। दूसरों की तो क्या कहूँ, कुछ साधु भी इस संक्रामक रोग से अछूते नहीं रहे हैं।

एक साधु ने कहा—"शास्त्र कण्ठस्थ करने का प्रयास करता हूँ, फिर भी वे स्मृति में नहीं रहते। अतः सरस्वती की कोई ऐसी माला बताइए, जिससे मैं विद्वान् एवं शास्त्रज्ञ बन जाऊँ।"

मैंने कहा—"विद्या की प्राप्ति माला जपने से नहीं होती है, वह तो अध्ययन एवं मनन-चिन्तन करने से ही आती है। यदि माला जपने से ज्ञान की दिव्य ज्योति जग सकती होती, तो दुनिया में मूर्ख एवं अशिक्षित कोई रहता ही नहीं।"

अभिप्राय यही है कि—ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में देखें, धन-वैभव के क्षेत्र में देखें या अन्य किसी भी क्षेत्र में देखें, बिना पुरुषार्थ के कुछ नहीं पा सकते। लक्ष्मी सदा पुरुषार्थी के चरणों में लोटती है। जो निरन्तर श्रम करता है, संकट के समय भी हताश एवं निराश न होकर साहस, उत्साह, एवं धैर्य के साथ सत्कर्म में संलग्न रहता है, वही व्यक्ति लक्ष्मी को हस्तगत करता है। कहा भी है—

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति॥"

अर्थात्—जो पुरुष उद्योगी है, परिश्रमी है, जिसके हाथ-पैरों में काम करने की ताकत है और जीवन में उत्साह एवं लगन है, वही लक्ष्मी को प्राप्त करता है। वास्तव में यह तो कायर एवं आलसी मनुष्यों की भाषा है कि—यदि भाग्य में लिखा होगा, तो भण्डार स्वतः भर जायगा। परन्तु वे अकर्मण्य सदा दरिद्र ही बने रहते हैं।

धन-वैभव का प्रश्न प्रार्थना से हल होने वाला नहीं है। अस्तु, आप भिक्षुक बनकर भीख न माँगें। भारतीय संस्कृति आपको भीख माँगना नहीं सिखाती। यहाँ तक, कि वह परमात्मा तक से भीख माँगने

के लिए भी इन्कार करती है। भारत की समग्र चिन्तनधारा ने पुरुषार्थ पर ही जोर दिया है। जब हम प्राचीन ग्रन्थों का अनुशीलन करते हैं तो विदित होता है कि—इन्द्र, जब लक्ष्मी से उसके निवास स्थान का पता जानना चाहता है, तो वह अपना निवास स्थान बताते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात कहती है—

"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वाणी यत्र सुसंस्कृता।
अदन्त-कलहो यत्र,-तत्र शक्र! वसाम्यहम् ॥"

लक्ष्मी ने यह नहीं कहा कि—'जो धन-तेरस के दिन सबसे बड़ा दीप जलाएगा, मैं उसी के यहाँ निवास करूँगी' उसने यह भी नहीं कहा कि—'जिस घर में दीपावली के दिन दीपमाला सजाई जाएगी, मेरी मूर्ति के आगे नत मस्तक प्रार्थना की जाएगी, मेरे सामने फल-फूल, मिष्टान्न तथा रुपयों का ढेर लगाया जाएगा, मैं उसी घर में रहूँगी। उसने यह भी नहीं कहा कि—'जो व्यक्ति दीपावली के दिन रात-भर द्यूत क्रीड़ा में संलग्न रहेंगे, मैं उन्हीं के घर आऊँगी;' अपितु उसने यह कहा—जहाँ 'पुत्र' माता-पिता एवं बुजुर्ग पुरुषों का तथा गुरु जनों का आदर सम्मान करता है और तदनुसार उनसे आशीर्वाद प्राप्त करता हैं; जहाँ 'वहू' सास-ससुर की सेवा में संलग्न रहती है और उसे भी उनसे निरन्तर स्नेह की रस-धार मिलती है; जहाँ 'छोटे' बड़े का आदर करते हैं और 'बड़े' भी हृदय की एक-एक धड़कन से उनकी मंगल-कामना करते हैं और अन्तर्मन से यह चाहते हैं कि—आज के छोटे कल हमारे से अधिक गौरव एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करें, जीवन का अधिकाधिक उत्कर्ष करें; जहाँ बड़ों के हाथ में छोटों की इज्जत सुरक्षित है और छोटों के हृदय में बुजुर्गों के मान-सम्मान का भाव है; जहाँ एक-दूसरे के मन में किसी के प्रति घृणा, द्वेष एवं छल-कपट नहीं है, किसी की प्रतिष्ठा को गिराने की दुर्भावना नहीं है और वे जब कभी बोलते हैं तो उनकी वाणी से नम्रता, कोमलता, स्नेह एवं माधुर्य बरसता है; जहाँ दन्त कटाकट नहीं होती है; जहाँ बच्चे माता की वात्सल्यमयी गोद में

मुस्कराते रहते है; जहाँ लोग इधर-उधर के पड़ौसी के घर में विकार एवं वासना की निगाह से नहीं देखते हैं; जिनके हाथों में अपने परिवार, समाज, गाँव एवं देश के लड़के, लड़कियों और माँ-बहनों की इज्जत सुरक्षित है; जहाँ के लोग स्वर्ण महल में बैठकर भी एक कील तक चुराने की कल्पना भी नहीं करते। अस्तु; जिस घर में, जिस समाज में तथा जिस राष्ट्र में ऐसे व्यक्ति हैं, वहीं मेरा सुनिश्चित निवास है।"

इस कथन का भावार्थ यह हुआ कि—"लक्ष्मी को बुलाने के लिए दीप नहीं चाहिए, बल्कि सत् पुरुषार्थ चाहिए, और उसके साथ चरित्र-बल का होना भी नितान्त आवश्यक है।"

२—रूप-चतुर्दशी

दूसरा पर्व 'रूप चतुर्दशी' का है। चौदस का दिन आते ही मनुष्य की दृष्टि कहाँ पहुँची—शरीर पर! इस मांस-पिण्ड पर! और वह उसे सजाने लगा। रूप चतुर्दशी का यह अर्थ कदापि नहीं कि—आप शरीर को ही सजाते रहें, और माँजते रहे।

इसका यह अर्थ भी नहीं है कि—शरीर का मैल साफ ही न करें। तत्त्वतः यह धारणा गलत है कि—शरीर पर जितना अधिक मैल जमा होगा, उतना ही वह श्रेष्ठ त्यागी होगा। जैन-धर्म का यह स्वर कभी नहीं रहा है। उसने स्वच्छता को महत्त्व दिया है, विलासिता को नहीं। अतः शरीर को सजाना नहीं है, बल्कि साफ रखना है। यदि आपकी दृष्टि केवल चमड़े को धोने में लग रही है, यदि आप सारा समय शरीर को सजाने में ही लगाते हैं, तो वस्तुतः आपने 'रूप चतुर्दशी' का सही अर्थ नहीं समझा है।

शरीर के सुन्दर एवं रूपवान् बनाने का यह अर्थ नहीं, कि—उसे रगड़-रगड़ कर धोया जाए। केवल चमड़े के सौन्दर्य में रूप नहीं है; बल्कि रूप तो एक विलक्षण शक्ति है, जो चमड़े से बिल्कुल अलग है।

रूपवान् बनने का अर्थ है—'तेजस्वी एवं सशक्त बनना, और इतने शक्ति-सम्पन्न बनना कि सरदी-गरमी को सह सकें, महासागर की तूफानी लहरों को पार कर सकें और पर्वतों की दुर्गम चोटियों को भी लाँघ सकें। इतना ही नहीं, जिसके बल पर हम अनन्त-अनन्त काल के विकारों से—चाहे वे परिवार के हों, समाज के हों, संघ के हों, अथवा राष्ट्र के हों—लड़ सकें। दुर्भावना, अविवेक, अज्ञान, अंध-विश्वास एवं भ्रमों से भी लड़ सकें। और यदि सत्य की रक्षा के लिए शूली की नोंक पर भी चढ़ना पड़े—तो सुदर्शन की तरह उस पर चढ़कर सत्य एवं धर्म की रक्षा भी कर सकें।" हाँ तो, आज के दिन शरीर के ही नहीं, मन के मैल को भी धोना है, हृदय की मलिनता एवं कालिमा को भी दूर करना है।

जहाँ तक रूप का प्रश्न है, वह शरीर की उज्ज्वलता में नहीं; अपितु मन, मस्तिष्क तथा आत्मा की उज्ज्वलता में ही है। भारतीय आचार्यों और कवियों ने कृष्ण के रूप की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आपको मालूम है—कृष्ण का रूप कैसा था? कृष्ण शरीर से काले थे। फिर भी उनका रूप-सौन्दर्य इतना मनोमुग्धकारी रहा है कि अतीत एवं वर्त्तमान के कवि-जन उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अघाते नहीं।

सौन्दर्य के क्षेत्र में द्रौपदी के रूप का भी वर्णन आया है, जब कि उसके शरीर का रंग-रूप काला ही था। उसका उपनाम 'कृष्णा' भी काले रंग का द्योतक है। परन्तु उसका तेज एवं सौन्दर्य कितना उज्ज्वल और समुज्ज्वल है कि वह सारे महाभारत में चमक रही है।

कथन का निष्कर्ष यही रहा कि—"शरीर भले ही काला हो, किन्तु मन काला नहीं होना चाहिए। चाहे शरीर मैला-कुचैला है, उस पर कुछ दाग-धब्बे भी पड़े हैं, तब भी कोई घबराने जैसी बात नहीं है। हाँ, आपका अन्तर्हृदय, अन्तर्मन मैला-कुचैला नहीं होना चाहिए। उस पर घृणा, द्वेष, व्यभिचार और दुर्वासना के काले धब्बे नहीं रहने

चाहिएँ। यदि शरीर साफ है, गोरा है और दाग-रहित भी है, परन्तु मन, मस्तिष्क एवं आत्मा उज्ज्वल नहीं है; बल्कि काले धब्बों से संयुक्त है, तो वह अन्दर की गन्दगी उभर-उभर कर बाहर आएगी और आपके व्यक्तिगत जीवन को गन्दा बनाने के साथ-साथ आपके पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन को भी दुर्गन्धमय बना देगी।"

हाँ तो, 'रूप चतुर्दशी' के दिन जरा शरीर से ऊपर उठकर मन, मस्तिष्क एवं आत्मा के अन्दर भी झाँक लिया करें और उस अन्तर्दर्पण में देख लिया करें कि—कहीं परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति घृणा, द्वेष, छल-कपट के बुरे भाव तो नहीं भरे हैं। यदि कहीं मलिनता दृष्टिगत हो, तो उसे तुरन्त धोकर साफ करें। रूप-चतुर्दशी का यही अर्थ है कि "हम अपने अन्तर्जीवन को रूपवान् बना पाएँ, और अन्तः सौन्दर्य को निखार पाएँ"।

३—दीपावली

'दीपावली' का पर्व—प्रकाश का, ज्योति का पर्व है। अंधकार को समूलोच्छेद करने का पर्व है। और अविद्या के उस सघन अंधकार से संघर्ष करने का पवित्र पर्व है, जिसमें मनुष्य अनन्त-अनन्त काल से ठोकरें खाता आ रहा है। जिसमें परिवार, समाज, पंथ, एवं राष्ट्र भी ठोकरें खाते रहे हैं। यह अज्ञान एवं अंधकार इतना भयंकर है कि उसमें बड़े-बड़े चक्रवर्त्ती सम्राट् भी ठोकरें खाते हैं। अस्तु, हमें उसी सघन अंधकार, उसी अज्ञान तमस् से लड़ना है, उसी पर विजय पाना है। संक्षेप में यह है—आज के ज्योति-पर्व का वास्तविक महत्त्व।

हाँ तो, आज दीप प्रज्वलित करना है। जीवन के जर्रे-जर्रे में ज्योति जगाना है। आपके पास शरीर, धन तथा बुद्धि का जो भी बल है, जो भी समृद्धि है, दूसरों को समृद्ध बनाने के लिए उसका यथोचित उपयोग करें, हर जीवन में शक्ति की ज्योति जगाते चलें।

दीपक का आचरण देखिए—जब वह जलता है, और ज्यों ही उसकी प्रज्वलित दीप-शिखा से जब कोई दूसरा दीपक छू जाता है, तो वह भी उसी के सदृश प्रकाश से जगमगा उठता है, अंधेरे को चीरता हुआ ज्योतिमान हो उठता है। इतना ही नहीं, वह जिस बुझे हुए दीपक को छू लेता है, उसे भी प्रदीप्त कर देता है।

साहित्यिक भाषा में इसे 'स्पर्श-दीक्षा' कहते हैं। और भौतिक जगत में इस स्पर्श-दीक्षा के प्रदाता दो हैं—एक 'पारस' और दूसरा 'दीपक'। जब पारस लोहे से स्पर्श करता है, तो वह उसे सोना तो बना देता है, किन्तु उसे 'पारस' नहीं बना सकता। और पारस में दूसरी कमी यह भी है कि वह लोहे के आकार-प्रकार को नहीं बदल सकता। यदि वह लोहे की तलवार को छू लेता है, तो उसे सोने का अवश्य बना देता है, परन्तु उसका तलवारपना नहीं मिटा सकता। चाहे वह सोने की ही कहलाए, किन्तु कहलाती तलवार ही है।

परन्तु 'दीप' की स्पर्श-दीक्षा का तरीका कुछ और ही है। वह दीप-शिखा छोटी-सी और पतली-सी अवश्य है, परन्तु ज्वाला से परिपूर्ण है, पूर्णतः दीप्तिमान है। यह ज्वाला हर दूसरे दीपक में नव-ज्योति का, नव-जीवन का संचार करती है, और उन बुझे हुए दीपों को छू कर प्रदीप्त कर देती है, ज्योतिर्मय बना देती है। और साथ ही अपने पास आने वाले प्रत्येक दूसरे दीप को प्रज्वलित करने की शक्ति से सम्पन्न भी बना देती है।

प्रस्तुत 'दीप-पर्व' यह प्रेरणा देता है कि—आप भी अंधकार पर विजय पाने के लिए अपना 'जीवन-दीप' जलाएँ। और किसी भी व्यक्ति या समाज का ज्योति-हीन जीवन-दीपक आपके सहवास में आए तो आप अपनी प्रज्वलित दीप-शिखा से उसको भी ज्योतिमय बना दें। यदि आप अपनी ज्योति का, अपनी शक्ति का, तथा अपने स्नेह-सिक्त प्रकाश का सदुपयोग नहीं करते हैं, तो वह बेकार हो जाएगी। आप देखते हैं, यदि आप अपने हाथ से कुछ दिन तक बिल्कुल काम नहीं लेते हैं, तो

उस हाथ की क्या हालत होती है ? वह हाथ वस वेकार हो जाता है, कुछ भी काम नहीं कर सकता। ऐसा क्यों ? सिर्फ इसलिए कि वह निष्क्रिय पड़ा रहा है। यही वात लक्ष्मी, बुद्धि एवं शारीरिक शक्ति के सम्बन्ध में भी है। यदि बुद्धि काम आती है तव तो ठीक है, अन्यथा वह कुंठित हो जाएगी। इसी प्रकार लक्ष्मी का भी यदि उपयोग नहीं किया गया तो वह भी जीवन-ज्योति नहीं जगा सकेगी। आपका शरीर स्वस्थ, सशक्त एवं सेवा योग्य है; फिर भी यदि आप किसी लड़खड़ाते मानव की जिन्दगी को सहारा नहीं देते हैं, तो आपका सशक्त शरीर केवल माँस एवं हड्डियों का ही ढेर है, प्राणवान् ज्योर्तिमय शरीर नहीं।

दीपावली का महत्त्व अपने जीवन दीप को तथा अपने से सम्बद्ध दूसरे जीवन दीपों को प्रकाशमान बनाने में ही है। श्रमण भगवान् महावीर का दिव्य ज्योर्तिमय जीवन चित्र आज हमारे सामने है। वह महादीप सोने के महलों एवं साम्राज्य के विशाल वैभव को ठुकराकर क्रूर एवं हिंस्र जानवरों से परिपूर्ण निर्जन वनों में साधना-संलग्न रहा। और जव उसके जीवन में केवल-ज्ञान का दीप प्रदीप्त हुआ, तो वह निर्जन वनों में ध्यानस्थ मुद्रा में ही नहीं बैठा रहा, अपितु वह अलौकिक दीप जन-पद में विचरने लगा और अपनी दिव्य ज्ञान-शिखा से जन-जन के जीवन-दीप जलाने लगा।

उस विराट् दीप शिखा को यदि बच्चा मिला, तो त्याग-विराग का स्नेह संचार कर उसके जीवन का दीप जलाया। यदि वृद्ध मिला, तो उसके जीवन को भी ज्योर्तिमय वनाया। यदि गुण्डा और वदमाश भी मिला, तो उसके बुझे हुए दीप को भी प्रदीप्त किया। यदि धन्ना-शालिभद्र जैसे भोग-विलास निमग्न तरुण मिले, तो उनकी दीप शिखा को भी प्रज्वलित कर दिया। गगन-चुम्बी महलों की परिधि में आजन्म कैद रहने वाली महारानियाँ भी यदि उसके समीप

आई, तो उनके जीवन-दीप को भी दिव्य ज्योति प्रदान की। इस तरह वह ज्योतिर्धर गाँव गाँव और नगर-नगर में घूम-फिरकर जन-जीवन में ज्ञान का दीप जलाता रहा। और करीब ढाई सहस्राब्दी पहले आज के दिन वह 'महा ज्योति' निर्वाण को प्राप्त हुई, और उसी दिन से उसकी पावन स्मृति में इस महापर्व का निर्माण हुआ।

आज भी भारतीय जन आनन्द एवं उल्लास के क्षणों में इस पर्व को मनाते हैं। वे भगवान् की स्मृति में दीप जलाते हैं और मोदक का भोग लगाते हैं। परन्तु पूजा का यह तरीका गलत है, अज्ञान-मूलक है। उसे ये मोदक नहीं चाहिएँ। यदि आप उन्हें मोदक ही समर्पण करना चाहते हैं, तो आप समाज को ज्ञान-दान, विद्या-दान देने का मोदक चढ़ाएँ। किसी से कलह, घृणा, द्वेष न करने का मोदक चढ़ाएँ। जात-पाँत के विषाक्त पौधे को उन्मूलन करने का मोदक चढ़ाएँ। सत्य, अहिंसा, सद्भावना, सहयोग एवं कर्त्तव्य निष्ठा का मोदक चढ़ाएँ। त्याग और तप का मोदक चढ़ाएँ। उन्हें आपके इन भौतिक मोदकों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये मोदक तो उनके राज-महलों में भी बहुत थे। किन्तु ये उनकी भूख को नहीं बुझा सके, उनके अन्तस्ताप को नष्ट नहीं कर सके। उन मोदकों से महा शक्ति की पूजा कैसे हो सकती है? उस महा शक्ति की पूजा के लिए तो 'ज्ञान' का दीप चाहिए, और 'त्याग-विराग' का मोदक। बस, यह पर्व इसी महा सन्देश को लेकर आया है। इस महापर्व के उपलक्ष में श्रमण भगवान् के प्रति अपनी श्रद्धांजलि को सार्थक बनाने का उपयुक्त उपाय यही है कि उस महामानव के सन्देश को व्यावहारिक जीवन का अंग बनाएँ, और तदनुसार आचरण करके अपना, समाज का, तथा राष्ट्र का उत्थान करें।

४—गौतम प्रतिपदा

दीपावली का दूसरा दिन जैन समाज में 'गौतम प्रतिपदा' के नाम से विख्यात है। श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद प्रतिपदा

के दिन सूर्योदय के साथ-साथ गौतम को केवल ज्ञान का ऐसा सहस्र-रश्मि उदित हुआ कि जिसने अपने प्रभास्वर आलोक से सारे लोक को जगमगा दिया।

गौतम की स्मृति आज भी ताजा है। आज भी वे जन-जन की जवान पर बसे हुए हैं। वास्तव में गौतम इतने अधिक याद किये जाते हैं कि कभी-कभी उनकी स्मृति में अन्य पुरानी स्मृतियाँ प्राय धुँधली-सी पड़ जाती हैं। गौतम का स्मरण होते ही मन में एक अभिनव जिज्ञासा जाग उठती है और उनकी दिव्य जीवन विभूति सहसा साकार हो उठती है। गौतम योग-विद्या के आचार्य थे, महान् लब्धिधर थे। जिस भू-भाग पर उनके चरण-चिन्ह अंकित होते, वहीं ऐश्वर्य एवं सुख-साधनों के अम्बार लग जाते!

महापुरुष वस्तुतः अद्भुत शक्ति-संपन्न होते हैं। गौतम ऐसे ही महापुरुष थे। परन्तु मैं एक बात अवश्य कहूँगा कि—गौतम माला के जप से लब्धि-संपन्न नहीं बने थे। उनके जीवन में दूसरा ही महत्त्व-पूर्ण गुण था। और वह था—"सेवा, नम्रता एवं स्नेहशील उदार भावना का।"

जिस दिन श्रमण भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ, उसी दिन से गौतम ने उनकी सेवा करनी प्रारम्भ की, और उनके निर्वाण की पवित्र तिथि तक वह महापुरुष उनकी सेवा में तन्मयता से संलग्न रहा। वह आयु में भगवान् से बड़ा था और अपने युग का एकमात्र प्रकाण्ड विद्वान था। यदि काव्य की भाषा में कहूँ—"नख से लेकर चोटी तक, वह ज्ञान ही ज्ञान था।" वह चारों वेदों का ज्ञाता था और भगवान् महावीर को पराजित करने की भावना से विवाद करने आया था। परन्तु भगवान् की वाणी श्रवणकर उसने सोचा कि भगवान् जो कह रहे हैं, वह सत्य है, यथार्थ है। और मैं जो प्रतिपादन कर रहा हूँ, वह असत्य है, तथ्य-हीन है। जो व्यक्ति जिह्वा के स्वाद के लिए पशु-वध करता है, वह तो मात्र पाप है। परन्तु जो व्यक्ति यज्ञ की

वेदी पर और धर्म के नाम पर बलिदान करता है, वह पाप ही नहीं, महा पाप है ! और अधर्म ही नहीं, घोर अधर्म है !!

जब उसने सत्य को समझा और परखा तो, बस, वहीं पर भगवान् का शिष्य बन गया। वह घर पर परिवार से पूछने भी नहीं गया। पावापुरी में उसके दो भाई और भी आए हुए थे, उनसे भी परामर्श लेने नहीं गया; क्योंकि वह बूँद महासागर में विलीन होने के शुभ संस्कार लेकर आई थी, विराट् बनने के भाव लेकर आई थी। और इस प्रकार वह उस दिव्य-ज्योति में ज्योतिर्मान हो गई, विराट् सागर में विराट् बन गई।

वास्तव में गौतम का जीवन बड़ा ही विलक्षण रहा है। वह विद्वान् एवं ज्ञानवान् होते हुए भी विनम्र बनकर रहा। भगवान् जब कभी उसे सम्बोधन करते तो प्रायः 'गोयमा' शब्द का प्रयोग करते थे। वह उनके समक्ष सदा बालक ही रहा और निरन्तर उनकी सेवा में अनुरक्त रहा।

हाँ तो, गौतम वह है, जो भूल कर सकता है। परन्तु उस भूल को समझते ही उसके लिए एक गृहस्थ-श्रावक से क्षमा याचना भी कर सकता है। गौतम वह है, जो एक संन्यासी के सामने जाता है, नियमों की श्रृङ्खला से परे रहकर उसका यथोचित स्वागत-सत्कार करता है और उसे भगवान् की सेवा में लाता है। गौतम की इस उदात्त भावना को किसी भी भ्रमवश विस्मृति के गहन अंधकार में नहीं ढकेला जा सकता। गौतम वह है, जो बालक अतिमुक्त को अपनी अँगुली पकड़ाए पोलासपुर के राज-भवन में भिक्षार्थ जाता है।

अस्तु। गौतम का जीवन—विनम्र, स्नेह-सिक्त, विराट् एवं उदार रहा है, फलतः जिस अवनि-तल पर उसके चरण चिन्ह अंकित होते, वहीं सम्पदा के स्तूप खड़े हो जाते। आज भी हजारों भक्त निम्नलिखित कविता की भाषा में गौतम को किस स्नेह, सद्भाव, भक्ति तथा उल्लास से याद करते हैं—

"अंगूठे अमृत बसे, लब्धि तणा भण्डार।
श्री गुरु गौतम सुमरिये, वंछित फल दातार॥"

अंगूठे में ही क्यों? जीवन के कण-कण में अमृत का झरना बह रहा है। उसकी हर साँस के स्पन्दन में ऐश्वर्य का भण्डार भरा पड़ा है। हाँ तो, 'गौतम-प्रतिपदा' के अरुणोदय के साथ हम अभिनव वर्ष शुरू करते हैं और गौतम के दिव्य केवल-ज्ञान का स्मरण करते हुए कहते हैं—

"महावीर पहुँचे निर्वाण, गौतम स्वामी केवल-ज्ञान।"

५—भैया दूज

भगवान् महावीर के निर्वाण का दुःखद समाचार सुनकर भगवान् के बड़े भाई महाराजा नन्दीवर्द्धन शोक-विह्वल हो गए। उनकी आँखों से आँसुओं की वेगवती धारा बह निकली। मन किसी भी तरह शान्त नहीं हो रहा था। आखिर दूज के दिन अपनी बहन सुदर्शना के यहाँ पहुँचे। बहन के द्वारा उन्हें जो सान्त्वना मिली, वह 'भैया-दूज' के रूप में भारतीय जन-जीवन में प्रवहमान हो गई। इसी तरह वैदिक साहित्य में एक वर्णन आता है कि—आज के दिन ही यम अपनी बहन यमुना के यहाँ गए थे। इस तरह आज का दिन 'भैया-दूज' के नाम से याद किया जाता है।

ये सब दूर की बातें हैं, परोक्ष की घटनाएँ हैं। परन्तु भारतवर्ष में भाई-बहन का स्नेह सम्बन्ध बहुत मधुर एवं पवित्र रहा है। भाई-भाई है, पर बहन का मधुर स्नेह कुछ और ही है। विवाहोपरान्त वह चाहे कितनी दूर क्यों न चली जाए, फिर भी भाई के प्रति अपने मधुर प्यार को भूला नहीं सकती, अपने स्नेह संचार को अवरुद्ध कर नहीं सकती।

कुमारपाल की बहन गुजरात से बहुत दूर मरुधर में शाकंभरी-सम्राट् की महारानी बनकर आई। किन्तु वहाँ कुमारपाल का उपहास किया

जाता था, उसकी निन्दा बुराई की जाती थी। स्वाभिमानिनी बहन, भाई का अपमान नहीं सह सकी, फलतः उसने साम्राज्य का विपुल ऐश्वर्य ठुकरा दिया और शाकंभरी को सदा के लिए छोड़ कर चल दी।

भारतीय जीवन में भाई-बहन का मधुर एवं निश्छल स्नेह रहा है। यदि बहन ने भाई के मान-सम्मान की रक्षा की है, तो भाई ने भी अपने प्राणों पर खेल कर बहन के स्नेह को पूरा-पूरा निभाया है। पर, दुर्भाग्य है कि आज की बहन तो भाई के स्नेह को रुपयों से तोलती हैं। वह देखती रहती है कि भाई ने इस वर्ष कितना धन दिया है? यह ठीक है, गृहस्थ जीवन में रुपये का भी कुछ महत्त्व है, परन्तु वही सब कुछ नहीं है। उससे भी बढ़कर एक चीज है, और वह है—हृदय का विशुद्ध प्रेम एवं निश्छल स्नेह।

पठान अब्दुल गफार खाँ—जो आज सीमान्त गाँधी के नाम से प्रसिद्ध हैं—का जीवन एक दिन खूँखार जीवन था। पठान पीढ़ियों से एक-दूसरे के खून के प्यासे रहे हैं। परन्तु महात्मा-गाँधी की सुसंगति से उनके जीवन ने एक नया मोड़ खाया, और वह हिंस्र मानव अहिंसक बन गया। खान ने गाँधी जी के नेतृत्व में कई बार सत्याग्रह में भाग लिया, देश की आजादी के लिए अनेक बार जेल गया, और लाठियाँ भी खाईं। आज भी वह पठानों की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं, और अभी तक पाकिस्तान की जेल में नजरबन्द हैं।

एक बार वे कहते सुने गए कि—जब पठानों के यहाँ कोई महमान आता है तो उसके सामने भोजन रखकर, वह पठान आगन्तुक अतिथि के सामने हाथ जोड़कर खड़ा होकर कहता है कि—"दस्तरखान की तरफ मत देखना, परन्तु मेरे चेहरे की तरफ देखना।" इस कथन का भावार्थ यह है—"मैं बहुत गरीब हूँ, मेरी इस रूखी-सूखी रोटी की तरफ मत देखना, परन्तु मेरे चेहरे पर दृष्टि डालना कि—मैं कितने प्रेम, स्नेह एवं सद्भाव से तुम्हारा स्वागत कर रहा हूँ।"

परन्तु, आज संसार में 'प्रेम' का स्थान 'रुपये' ने छीन लिया है। यत्र-तत्र-सर्वत्र धन की ही पूजा हो रही है। पिता अपने पुत्र का सम्बन्ध रुपये से तोलता है। सास अपनी पुत्र-वधू का सम्बन्ध रुपये के गज से नापती है। भाई अपने भाई का, पड़ौसी अपने पड़ौसी का स्नेह सम्बन्ध आज पूँजी के पैमाने से नाप रहा है। इसी प्रकार भाई-बहन का पवित्र प्रेम भी रुपये की तराजू पर तोला जाता है। और तो क्या, 'पति और पत्नी' के पवित्र प्रेम के आधार पर जिस 'दाम्पत्य' दुर्ग का निर्माण अपेक्षित है, उस 'दाम्पत्य' दुर्ग की आधार-शिला भी आज पति-पत्नी के बीच पवित्र प्रेम नहीं; बल्कि पूँजी का आदान-प्रदान ही आज के दाम्पत्य-जीवन का माध्यम है। यही दुराशा परिवार, समाज एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में भी है। सभी का अस्तित्व रुपये की तराजू पर तोला जा रहा है। पूँजी का प्रभाव पारिवारिक, सार्वजनिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु त्याग-वैराग्य के पुनीत धर्म-क्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गया, और तदनुसार साधु-समाज की कीमत भी धनी भक्तों के मापक से नापी जाने लगी है। आप जब कभी प्रेम को नापने बैठते हैं, तो रुपये का गज लेकर ही 'प्रेम' को नापते हैं।

परन्तु आज का दिन भाई-बहन के निश्छल प्रेम का पवित्र दिन है; जिसे पैसे से नहीं, बल्कि स्नेह से तोलना है। भारतीय संस्कृति में भाई-बहन के मधुर स्नेह सम्बन्ध को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। इस 'भाई-बहन' के शब्द में बड़ा भारी आकर्षण भरा हुआ है।

इस सम्बन्ध में एक सजीव उदाहरण लीजिए—स्वामी विवेकानन्द जब पहली बार अमरीका गए और वहाँ भाषण देने खड़े हुए, तो उन्हें मुश्किल से ५ मिनट का समय मिला। परन्तु उन्होंने अपना भाषण 'ज्यों ही 'सिस्टर एण्ड ब्रदर'; अर्थात्—'बहनों और भाइयों' के सम्बोधन से शुरू किया, त्यों ही जनता मंत्र-मुग्ध हो गई। भाई-बहन के स्नेह-सिक्त सम्बोधन ने जनता के दिल को इतना अधिक आकर्षित किया कि

अमरीका में एक छोर से दूसरे छोर तक विवेकानन्द के भाषणों की धूम मच गई । हर बच्चे और बूढ़े की जबान पर 'भाइयों और बहनों' के सम्बोधन की मधुर झंकार गूंजने लगी ; और इस प्रकार वहाँ के जन-मानस में भारतीय संस्कृति सजीव एवं साकार हो उठी। और इस सम्बोधन से वहाँ की जनता का हृदय इतना गद्-गद हो गया कि दूसरे ही दिन समाचार पत्रों के मुख-पृष्ठ पर मोटे-मोटे शीर्षकों में प्रकाशित हुआ कि—"भारतीय संस्कृति का प्रतीक—भाई-बहन।"

हाँ तो, यह है 'भाई-बहन' के निश्छल प्रेम, स्नेह, एवं सद्भाव को जागृत करने का पर्व—'भैया दूज'।

थोड़े से समय में मैंने पंच पर्वी के पर्वों की झलक दिखा दी है। भारतीय संस्कृति की पृष्ठ-भूमि में इन पर्वों के निर्माण का यही उद्देश्य रहा है कि जन-जीवन में—ज्ञान की, धर्म की, प्रेम की, सद्भावना की, दया की, तथा सहयोग प्रदान करने की पावन ज्योति जगे, और त्याग-विराग की पवित्र भावना उद्बुद्ध हो। बस, यही पर्वों का मूलभूत संदेश है।

भैया दूज कुचेरा (राजस्थान)
कार्त्तिक शुक्ला २, विक्रमाब्द २०१३.

—: २२ :—

अनेकान्त दृष्टि

जैन-धर्म ने अहिंसा के विषय में सूक्ष्म दृष्टि से सोचा है, गहरा चिन्तन-मनन किया है। गृहस्थ-धर्म और साधु-धर्म के आचार-विचार की दृष्टि से भी उस पर सोचा-विचारा है। भारत के हर व्यक्ति को अच्छी तरह जानकारी है कि जैन धर्मावलम्बी अहिंसा को विशेष महत्त्व देते हैं। हम जब कभी अपरिचित क्षेत्रों में विचरण करते हैं, तो लोग हमारा परिचय पूछते हैं—आप कौन हैं? हमारा उत्तर होता है—जैन-साधु! और इतना सुनते ही, वे सहसा बोल उठते हैं—आप तो अहिंसा को मानने वाले हैं न !!

हाँ तो, आज भी जैन अहिंसा को महत्त्व देते हैं, उसका बहुत बारीकी से विश्लेषण भी करते हैं। परन्तु वे एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को भुला बैठे हैं। वे उसे अभी तक छू नहीं पाए हैं। सीलिए अहिंसा एवं सत्य की साधना लूली-लँगड़ी बन गई है और उसके एक पैर में लकवा मार गया है। अतः जैन-धर्म पूरी प्रतिष्ठा नहीं पा सका, वह जन-जन के जीवन में स्थान नहीं पा सका। यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि—मानव-जीवन में जैन-धर्म किस कारण वश प्रतिष्ठित नहीं हो सका? और इस आयोजन की सफल पूर्ति के लिए किस साधन, अथवा

शक्ति की आवश्यकता है ? बौद्धिक अनुसंधान के द्वारा यही निष्कर्ष निकल पाया है कि इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए एक शक्ति की आवश्यकता है, और वह शक्ति है—'अनेकान्तवाद' ! वस्तुतः अनेकान्त ही जैन-धर्म का हृदय है, प्राण है, और जीवन है !!

अनेकान्त का अर्थ है—हर पदार्थ में परिव्यात सही तथ्य को परखने के लिए अपने दृष्टिकोण के साथ, विपक्षी के दृष्टिकोण को भी परखना। प्रत्येक तत्त्व पर, प्रत्येक बात पर, प्रत्येक विचार पर अपेक्षा से सोचना। और वस्तु में निहित अनन्त सत्य को समझने के लिए अपने दृष्टिकोण को विराट् बनाना। यह निर्विवाद सत्य है कि—अनेकान्त को परखना, हिमालय की दुरूह चढ़ाई है, फिर भी वह असम्भव नहीं है।

प्रत्येक आत्मा अनन्त-अनन्त गुणों से संयुक्त है, और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। दुनिया में जड़-पदार्थ भी अनन्त हैं। सत्य भी अनन्त है, और झूठ भी अनन्त है। धर्म भी अनन्त है, और पाप भी अनन्त है। प्रकाश भी अनन्त है, और अंधकार भी अनन्त है। एक छोटा-सा जल कण भी अनन्त गुण-सम्पन्न है, और महासागर भी अनन्त गुण से युक्त है। आलोक से देदीप्यमान सहस्ररश्मि भी अनन्त शक्ति-सम्पन्न है, तो एक नन्हे से दीपक की लौ भी अनन्त शक्ति से ओत-प्रोत है। अस्तु, भावार्थ यह हुआ कि— विश्व में जितने भी चेतन प्राणी हैं, वे भी अनन्त हैं, अनन्त गुणों से संयुक्त हैं, और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं। जड़ पदार्थ भी—अनन्त हैं, और वे भी अनन्त गुण और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं।

हाँ तो, मैंने कहा कि—प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण हैं। उसमें अच्छाई भी है, और बुराई भी है। इसी कारण अनेकान्त के युग प्रवर्त्तक भगवान् महावीर ने कहा—"तुम किसी से घृणा मत करो। जो पदार्थ आज बुरा प्रतीत हो रहा है, वही पदार्थ कल सुन्दर और सुहावने रूप में परिवर्तित हो सकता है।"

अतीत की एक कहानी है—एक राजा अपने नगर के आस-पास पर्यटन कर रहा था, साथ में मंत्री भी था। घूमते-फिरते दोनों उस ओर

बढ़ चले, जिधर शहर का गन्दा पानी एक खाई में भरा हुआ था, सड़ रहा था, कीड़े कुल-बुला रहे थे। उसे देखते ही राजा का मन ग्लानि से भर गया, वह नाक-भौं सिकोड़ने लगा। पास ही खड़े हुए सुबुद्धि मंत्री ने कहा—"महाराज, इस जल-राशि से घृणा क्यों कर रहे हैं ? यह तो पदार्थों का स्वभाव है कि वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। जिनसे आज आप घृणा करते हैं, वे ही पदार्थ एक दिन मनोमुग्धकारी भी बन सकते हैं।" इस तरह बातें करते हुए दोनों राज-भवन में लौट आए और अपने-अपने कार्य में लग गए।

कुछ दिनों के बाद मंत्री ने राजा के सम्मान में एक भोज का आयोजन किया। अपने घर बुलाकर सुन्दर एवं स्वादिष्ट भोजन कराया और भोजन के पश्चात् सोने के पात्र में पीने के लिए पानी दिया। वह पानी इतना स्वादिष्ट एवं सुगन्धित था कि राजा पानी पीता ही गया। एक के बाद दूसरा, तीसरा और चौथा जल-पात्र पिया; फिर भी राजा के मन में पानी पीने की आकांक्षा बनी ही रही।

राजा ने मंत्री से पूछा—"तुमने मुझे आज जो पानी पिलाया है; ऐसा स्वच्छ, सुवासित एवं स्वादिष्ट जल तो मैंने आज तक कभी नहीं पिया ! तुमने यह मधुर जल किस कुँए से मँगवाया है, मुझे भी बताओ ?" मंत्री ने कहा—"राजन्, यह पानी तो सर्वत्र सुलभ है। यहीं निकट के जलाशय से मंगवाया गया है। महाराज ने जब उस जलाशय का नाम बताने के लिए आग्रह किया, तो मंत्री ने कहा—"महाराज, यह मधुर एवं सुवासित जल उसी गन्दी खाई का है, जिसकी दुर्गन्ध से आप व्याकुल हो गए थे, और अपने नाक को बन्द कर लिया था !"

राजा ने साश्चर्य मुद्रा में मंत्री से कहा—तुम मजाक तो नहीं कर रहे हो ? मंत्री ने विनम्र भाव से कहा—नहीं, मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ। जो कुछ कह रहा हूँ, वह सत्य कह रहा हूँ। यह कहते हुए मंत्री ने उस गन्दे पानी को साफ करने की सारी प्रक्रिया भी समझाई। अब तो राजा को यह विश्वास हो गया कि—संसार का हर पदार्थ अनन्त-गुण-युक्त है।

पदार्थ अपने आप में बुरा या अच्छा नहीं है, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। अतः किसी पदार्थ से घृणा करने की जरूरत नहीं है, अपितु जरूरत है उसे परिष्कृत करके सुन्दर बनाने की ! और उसी के अनुरूप प्रयोग करने की !!

अस्तु, भावार्थ यह हुआ कि—दुनिया में कोई पदार्थ या कोई भी व्यक्ति अपने आप में बुरा या भला नहीं है। एक बदमाश, गुण्डे और दुराचारी मनुष्य की अन्तरात्मा भी अनन्त-अनन्त गुणों से युक्त है। उसके जीवन को भी सुधारा जा सकता है और बदला जा सकता है। भगवान् महावीर की भाषा में 'पापी बुरा नहीं, बल्कि पाप बुरा है।' यही कारण है कि ११४१ स्त्री-पुरुषों का निर्मम संहार करने वाला महापापी अर्जुन माली भी जब उस पतित-पावन की शरण में गया, तो उस विराट् पुरुष ने प्रतिशोध की आग में जलते हुए उस पापी जीवन में भी शान्ति, क्षमा, दया, एवं करुणा का बहता हुआ झरना देखा और उस झरने को अपने धर्मोपदेश से अभिव्यक्त कर दिया। शालिभद्र जैसे धनिक, जो भोग-विलास के पंक में परिलिप्त थे, उनके जीवन में भी उस महामानव ने त्याग-विराग की प्रज्वलित ज्योति देखी और उस विशुद्ध ज्योति को प्रदीप्त कर दिया। उस दिव्य पुरुष ने विषधर के अन्तस्तल में अमृत का लहराता हुआ सागर देखा, और अपने वचनामृत की एक बूँद देकर उस प्रचण्ड विषधर को भी शान्ति एवं क्षमा का देवता बना दिया।

हाँ तो, भगवान् महावीर का यह आदर्श आघोष है कि—"दुनिया में कोई भी मनुष्य बुरा नहीं है, तिरस्कृत करने योग्य नहीं है, तथा ठुकराने योग्य भी नहीं है।" इस सम्बन्ध में एक विचारक की भाषा में कहता हूँ—"इस विशाल संसार में ऐसा कोई अक्षर नहीं है, जो मंत्र का काम न दे सके। ऐसी कोई वनस्पति भी नहीं है, जो औषधि का काम न दे सके। और ऐसा कोई मनुष्य भी अयोग्य नहीं है, जो किसी आयोजन का साधन न बन सके। यदि कोई कमी है, तो वह

है केवल उनसे काम लेने वाले योजक की। अस्तु, दुनिया में सुयोग्य योजक का मिलना ही दुर्लभ है।"

हाँ तो, जिन्दगी के गलत प्रवाह में प्रवहमान व्यक्ति को मोड़ा जा सकता है, बशर्ते मोड़ने वाला सुयोग्य हो। यदि कोई व्यक्ति किसी एक क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध न हो, तो इसका यह अर्थ समझना बिल्कुल गलत है कि वह व्यक्ति किसी काम का ही नहीं है। एक क्षेत्र में नहीं, तो वह दूसरे क्षेत्र में काम कर सकता है। अतः मनुष्य से काम लेते समय उसके स्वभाव, उसके कार्य-क्षेत्र एवं उसकी योग्यता का ध्यान रखना परमावश्यक है।

भगवान् महावीर से एक बार यह प्रश्न पूछा गया—"गृहस्थ-जीवन श्रेष्ठ है, या साधु जीवन ?" भगवान् ने कहा—"यह जीवन का क्षेत्र है, इसकी नाप-तौल आत्म-परिणति पर ही आधारित है।" अर्थात्—जब जीवन की धारा प्रवहमान होती है, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। उसकी नाप-तौल साधु और गृहस्थ के भेद-भाव से नहीं की जा सकती। किसी-किसी सद्-गृहस्थ का जीवन सन्त-जीवन से भी श्रेष्ठ हो सकता है, यदि वह अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर ईमानदारी के साथ गतिमान है। भगवान् महावीर ने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका—इन चारों के लिए 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः ये चारों ही तीर्थ-रूप हैं, गुण रत्नों के पात्र हैं। इनमें कौन छोटा है, और कौन बड़ा ? उत्तर स्पष्ट है—साधु और श्रावक, जो भी अपने-अपने दायित्व को ठीक तरह निभा रहा है, और अपनी जिन्दगी के मोर्चे पर सजग एवं सशक्त होकर खड़ा है, वही 'जीवन' महत्त्वपूर्ण है।

परन्तु दुर्भाग्य है, आज की नाप-तौल तो कुछ और ही ढंग की हो चली है। आज साधु-जीवन को—साधुता की तराजू से नहीं, प्रत्युत छोटे-बड़े के महत्त्व से, या नये-पुराने के रूप से तोलते हैं। जब कोई प्रख्यात साधु आपके शहर में, गाँव में या घर में आएगा—तो आप उसकी बहुत भक्ति करेंगे, उसके शरीर में जरा-सी वेदना होते ही

दुनिया भर की व्यवस्था करने में लग जाएँगे। परन्तु जब कोई साधारण साधु अस्वस्थ होता है—तो आप उस ओर ध्यान भी नहीं देते। उसके लिए औषधि एवं सेवा-शुश्रूषा की साधारण व्यवस्था तक नहीं हो पाती। इससे स्पष्टतः परिलक्षित है कि—आपकी श्रद्धा, भक्ति एवं कर्त्तव्य-निष्ठा साधुता के प्रति नहीं, अपितु सत्ता एवं प्रभुता के प्रति है; अर्थात्—गद्दीधरों के प्रति है, वरिष्ट नेताओं के प्रति है। आप उन बड़ों की सेवा में तो तन और मन से लगे रहते हैं, जिन्हें सभी साधन उपलब्ध हैं। परन्तु साधनों के अभाव में उन छोटे सन्तों की लड़खड़ाती जिन्दगी को सहारा नहीं दे पाते, साधुता की सेवा नहीं कर पाते।

हाँ तो, मैं बता रहा था—आज छोटे-बड़े में या नये-पुराने में जो अशोभनीय संघर्ष चल रहा है, उसका मूल कारण यह है कि—आप बड़ी ताकतों; अर्थात्—सत्ता और प्रभुता के सामने तो घुटने टेक कर विनम्र बन जाते हैं, परन्तु साधना के कठोर पथ पर कदम बढ़ाने वाले छोटे साधुओं की कोई व्यवस्था नहीं करते। किसी बड़े सन्त के शिष्य के लिए तो दो-दो पंडित रख देंगे, परन्तु साधारण साधु के लिए कोई व्यवस्था नहीं करते। क्या यह खेद की बात नहीं, कि—जिसके पास बुद्धि भी है, दिमाग भी है, चिन्तन-मनन करने की शक्ति भी है, किन्तु वह मात्र साधनाभाव के कारण अपना समुचित विकास नहीं कर पाता?

मुझे एक बड़े साधु के पास रहने का अवसर मिला है। उनका शिष्य कई वर्षों से पंडित से पढ़ रहा था। उसके गुरु और पंडित भी उसके पाण्डित्य का बहुत बड़ा विज्ञापन कर रहे थे। सेठ लोग भी कह रहे थे कि महाराज यह सन्त तो महा पंडित है। सेठों को क्या मालूम कि—वस्तुतः विद्वत्ता क्या चीज है, और उसका कैसा रूप-रंग है? मैंने उस सन्त से बात की। उसके अध्ययन का परीक्षण किया, तो मेरी भ्रान्ति दूर हो गई। मैंने विनम्र भाव से उससे कहा—

"आपने यों ही इतने वर्ष समाप्त किए और समाज के लोगों की गाढ़ी कमाई का पैसा व्यर्थ में ही गमाया ! क्योंकि जब तक मनुष्य का अपना निजी चिन्तन-मनन और अध्ययन नहीं होता, तब तक वह विद्वान बन ही नहीं सकता।" और साथ ही जिनके पास ज्ञान की, विचारों की और विद्वत्ता की आँख नहीं है, वे उसे ठीक-ठीक परख भी नहीं सकते।

अस्तु, साधु-जीवन की ऊँचाई को यदि परखना है तो छोटे-बड़े के, नये-पुराने के भेद से नहीं, अपितु साधुत्व के सही आदर्श से परखिए और सब की साधुता का समान रूप से आदर कीजिए।

यदि आप छोटे-बड़े के भेद से ही जीवन को नापते रहे और बड़ों के दोषों, दुर्गुणों एवं अन्यायों पर पर्दा डालते रहे; और दूसरी ओर छोटों के प्रत्येक सूक्ष्म छिद्र को बड़ा बनाकर उसका ढिढोंरा पीटते रहे, तो उसका परिणाम भयंकर होगा। अर्थात्—छोटे सन्तों के जीवन में विद्रोह की भावना जग उठेगी और फिर आप तथा सारा संघ भी उसे रोक नहीं सकेगा। जो हवा एक बार चली, वह तो बहती ही रहेगी, और बड़े वेग से बहेगी।

तरुण साधक अपने श्रद्धेय पुरुषों की ओर श्रद्धा की दृष्टि से देख रहा है कि—मेरे प्रति वरिष्ठ महा प्रभुओं के अन्तस्तल में प्रेम, स्नेह, सद्भावना तथा सद्विचार की अमृत-धारा प्रवहमान है; या घृणा, अवहेलना तिरस्कार, उपेक्षा एवं द्वेष की दुर्गन्धमय विष-धारा बह रही है। हमारे अन्तर्मन में जो भी सद् या असद् भावना निहित है, वह अब आँखों से छिपी नहीं रह सकती।

ऐसी विकट स्थिति में अनेकान्त ही एकमात्र ज्योति स्तम्भ है, जो हमें यह पवित्र विचार देता है कि—"हर मनुष्य, और हर साधु के विचारों को अपने ही मन-मस्तिष्क तथा छोटे-बड़े के भेद से मत तोलो। उसके विचारों को, और उसके दृष्टि-विन्दु को भी समझने का

प्रयास करो। यदि आपकी दृष्टि से कोई विचार असत्य प्रतीत होता है, तो दूसरे की दृष्टि से वह सत्य भी हो सकता है। अतः सामने वाले विचारों को समझे-सोचे विना, उसके लिए किसी भी तरह का निर्णय दे देना, उक्त विचारक के प्रति अन्याय ही करना है।"

अस्तु, जैन-धर्म यही तो कहता है—"सत्य अनन्त हैं, उसे समझने के लिए हमारा हृदय उदार हो, हमारे विचार विराट् हों और हमें अपनी पकड़ का अंशमात्र भी मोह न हो; तभी हम सत्य को हृदयंगम कर सकेंगे।" और जव आप अनेकान्त की दृष्टि से सोचेंगे—तो आप अपना भी विकास करेंगे और साथ ही परिवार, समाज, पंथ, धर्म एवं राष्ट्र का जीवन-स्तर भी ऊँचा उठा सकेंगे।

मार्गशीर्ष कृष्णा—१

कुचेरा (राजस्थान)

—: २३ :—

दर्शन और जीवन

मानव-जीवन का विश्लेषण करते हुए जैन-दर्शन ने उसे तीन भागों में बाँटा है—श्रद्धा, ज्ञान, और कर्म। यदि इसी बात को अलंकारिक भाषा में कहूँ तो—हृदय, मस्तिष्क, और हाथ-पैर !

एक डाक्टर की भाषा में—हृदय का काम है—शरीर के चप्पे-चप्पे में रक्त का संचार करना और शरीर को प्राणवान् बनाए रखना। इस तरह हृदय शरीर का केन्द्र है. प्राण है, और सर्वस्व है। उसकी स्वस्थता एवं सजगता में ही शरीर स्वस्थ है, क्रिया-शील है, और प्राणवान् है।

परन्तु आध्यात्मिक जीवन के विशेषज्ञ भगवान् महावीर की भाषा में—हृदय का अर्थ है—भावना, श्रद्धा, भक्ति, और निष्ठा। यह हृदय ही मानव-जीवन का केन्द्र है। उसमें स्नेह, सौजन्य, सहृदयता, प्रेम, वात्सल्य एवं सद्भावना की अजस्र धारा प्रवहमान है। श्रद्धा-संयुक्त जीवन से छन-छन कर बहने वाली स्नेह की निर्मल धारा जब जीवन के कण-कण में प्रवाहित होती है; तभी उससे व्यक्ति, जाति, परिवार, समाज, पंथ, धर्म एवं राष्ट्र का जीवन निरन्तर फलता-फूलता है, प्रतिक्षण नई अँगड़ाई लेता है, और उत्तरोत्तर प्रगति की ओर बढ़ता है।

शरीर में दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है—मस्तिष्क, जिसे उत्तमांग कहते हैं। वह ज्ञान, विवेक, विचार तथा चिन्तन-मनन का उद्गम केन्द्र माना जाता है। मस्तिष्क में निरन्तर बुद्धि का ताना-वाना चलता रहता है, विचारों में निरन्तर काट-छाँट होती रहती है। अमुक विचार धारा सत्य है और अमुक विचार धारा गलत है, इस तरह का विश्लेषण मूलक चिन्तन-चक्र मस्तिष्क की उपज है। मस्तिष्क का जुलाहा सदा-सर्वदा अपना कारखाना चालू रखता है, उसका चिन्तन यंत्र निरन्तर काम करता रहता है, एक क्षण के लिए भी उसके विचारों का ताना-वाना रुकता नहीं पाया गया। जागृति के क्षणों में भी वह अपने विचारों की चादर बुनता रहता है; और जब सोता है; तव भी निद्रा में निमग्न वह विचारों की उधेड़-बुन में संलग्न रहता है। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि—वह जो कुछ बुनता है, सही बुनता है या गलत। मेरे कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि—वह बिना रुके निरन्तर अपने काम में संलग्न रहता है, विचारों की दुनिया बनाता और विगाड़ता रहता है। स्वप्न का संसार बसाता और बिखेरता रहता है। इस तरह उसका ताना-वाना सदैव चालू रहता है।

मानव-जीवन में श्रद्धा का केन्द्र—हृदय है, और ज्ञान का केन्द्र—मस्तिष्क। अव रहे हाथ-पैर; वे उसके अनुचर हैं, सेवक हैं, नौकर हैं, दास हैं। अपने औचित्य के अनुसार वे कर्म के केन्द्र हैं। शरीर में से हृदय और मस्तिष्क को अलग करने के वाद जो अंग शेष वच रहते हैं, वे सभी अंग कर्म के केन्द्र हैं, और जीवन-विकास के प्रतीक हैं।

अस्तु, भारतीय दार्शनिकों की भाषा में—जीवन तीन योगों में विभक्त है; अर्थात्—भक्ति-योग, ज्ञान-योग, और कर्म-योग का मानव-जीवन में विशेष महत्त्व है। वास्तव में इस त्रिवेणी के संगम स्थल का ही नाम—'जीवन' है। तीनों के सहयोग से ही मानव-जीवन निर्वाध गति से गतिमान हो सकता है। मैं आपसे पूछता हूँ—आपके शरीर में हाथ-

पैर ठीक हैं और आपका मस्तिष्क भी स्वस्थ है; परन्तु यदि हृदय गतिमान नहीं है, तो क्या आपका शरीर ठीक तरह काम कर सकेगा, प्राणवान् रह सकेगा ? कदापि नहीं ! इसी तरह हृदय भी गतिशील है और हाथ-पैर भी कमंठ सैनिक की तरह अपना-अपना कार्य कर रहे हैं; परन्तु यदि मस्तिष्क शरीर संचालन की विचार-क्रिया न कर रहा हो, तो क्या ऐसी स्थिति में जीवन ठीक तरह चल सकेगा ? कदापि नहीं ! हृदय और मस्तिष्क तो अपना-अपना कार्य कर रहे हैं; परन्तु यदि हाथ-पैर वेकार हो गए, तो ऐसी स्थिति में शरीर की क्या हालत होगी ? इन प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है—"शरीर वेकार हो जाएगा, एक-दूसरे के सहयोगाभाव में जिन्दगी का रस सूख जाएगा और यह जीता-जागता जीवन एक दिन मृत वन जाएगा।" अस्तु, जीवन में भक्ति-योग, ज्ञान-योग और कर्म-योग अथवा दूसरे शब्दों में श्रद्धा, ज्ञान एवं कर्म की साधना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। किसी भी एक के अभाव में जीवन का कोई मूल्य नहीं। वह जीवन—जीवन नहीं; वल्कि वह तो अंक-विहीन शून्य है।

आप वही-खाते में जमा-खर्च लिखते हैं, तो वहाँ किसी ने एक शून्य लिखा और आपसे पूछा—क्या मूल्य है ? तब आप उत्तर देंगे—कुछ नहीं । फिर एक शून्य और लगाकर पूछा—अव इसकी क्या कीमत है ? इस वार भी उत्तर वही होगा—कुछ नहीं। दो-चार ही नहीं, वल्कि सौ-दो सौ और हजार-लाख तक शून्य लगाकर पूछा—इसका क्या मोल है ? फिर भी उत्तर—कुछ नहीं ! हाँ तो, उस शून्य के पहले जव तक कोई अंक जुड़ा हुआ नहीं है, तव तक वह शून्य, शून्य है। उसका कोई मूल्य नहीं है, भले ही वह संख्या में कोटि-कोटि भी क्यों न हो !

लोक-साहित्य में शून्य के लिए 'पोल' शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः यदि लोक-भाषा में कहूँ, तो आज चारों तरफ पोल चल रही है, और पोल का वाजार गर्म है। राजनैतिक पार्टियों में देखो, तो वहाँ

पोल है। कुर्सियों पर (पदों पर) शोभित व्यक्तियों के जीवन में पोल है, शासन-तंत्र में पोल है, समाज में पोल है, श्रावक-वर्ग में पोल है, साधु-संघ में पोल है, प्रत्येक संस्था में पोल है, और प्रत्येक पंथ में पोल है। कहाँ तक गिनाता चलूँ! जिधर भी दृष्टि फैलाओ, उधर पोल ही पोल के दर्शन होते हैं। इस तरह पोल की चर्चा बहुत लम्बी है। हमें उससे बचना है और अपने परिवार, समाज, संघ, धर्म एवं राष्ट्र के जीवन को उससे बचाना है। क्योंकि जीवन में पोल का कोई अर्थ नहीं है, पोल की कोई कीमत नहीं है।

परन्तु जब पोल (शून्य) के पहले कोई अंक जोड़ दिया जाता है, तो उसका मूल्य बढ़ जाता है और आगे लगने वाली हर शून्य के साथ उसके मूल्य में भी वृद्धि होती जाती है। एक के अंक के पीछे एक शून्य रखते ही, वह दस के रूप में परिणत हो जाता है। और फिर क्रम से एक-एक शून्य लगाते रहें, तो उसकी संख्या सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़ आदि तक पहुँच जाती है। अस्तु, यह है जीवन की तीव्रतम दौड़, और जीवन का विराट् स्वरूप। यदि मर-मर कर या खींच-तान करके विराट् बनते रहे, अथवा शून्य की फौज एकत्र करके विराट् बने, तो उससे क्या? विराट् बनो, महान् बनो, और अवश्य बनो! किन्तु पोल (शून्य) की संख्या बढ़ाकर नहीं; प्रत्युत जीवन की गति-प्रगति को विकासोन्मुख बनाकर ही अपना नव-निर्माण और पुनरुत्थान करो!!

भगवान् महावीर का ज्योतिर्मय जीवन आपके सामने पथ-प्रदर्शक के रूप में उपस्थित है। उस महा-मानव ने अपनी नन्ही-सी जिन्दगी को कितने वर्षों में विराट् बनाया? कहा जाता है कि उन्हें अपने जीवन को विराट् बनाने में साढ़े बारह वर्ष का समय लगा। वह विराट् पुरुष श्रमण-जीवन को स्वीकार करने के बाद साढ़े बारह वर्ष तक छद्मस्थ रहा और सजग होकर निरन्तर विराटता की ओर बढ़ता रहा। परन्तु सही तथ्य यह है कि महावीर को भगवान् बनने में, पूर्ण बनने

में, और विराट् वनने में साढ़े बारह वर्ष नहीं, अन्तर् मुहूर्त ही लगा। जब वह दिव्य ज्योति अपने अन्तस्तल में गोता लगाने लगी, तो चिन्तन के क्षणों में वह स्वयं ही तो द्रष्टा बनी, और वह स्वयं ही दृश्य भी बन गई। उस अवस्था में केवल आत्मा ही आत्मा का ज्ञाता है, परीक्षक है, और चिकित्सक भी है। इस तरह जब उस विराट् आत्मा ने आत्म-स्वरूप को पहचाना और गहराई से परीक्षण किया, तो भ्रान्ति का आवरण हटने लगा, जीवन की ज्योति जगने लगी, और अनन्त-अनन्त काल का अंधकार प्रभास्वर दिव्य आलोक में परिवर्तित होने लगा। अनन्त-अनन्त काल की दौड़-धूप, अनन्त-अनन्त युग तथा अनन्त-अनन्त जन्मों की साधना जिस काम में सफलता नहीं पा सकी, वहाँ अन्तर् मुहूर्त का श्रम साकार हो उठा। जब अन्तः चेतना प्रज्वलित हुई तो अन्तर्मुहूर्त में ही केवल-ज्ञान की दिव्य ज्योति जगमगाने लगी, और जीवन के कण-कण में ज्ञान का प्रकाश चमक उठा। हाँ तो, जब जीवन का अन्तिम फैसला हुआ, तो उसमें युग नहीं लगे, वर्ष नहीं लगे, दिन भी नहीं लगे; बल्कि वह कार्य तो अन्तर्मुहूर्त के छोटे-से काल में ही हो गया।

जैसा कि मैंने कहा कि—अंक विहीन शून्य का कोई मूल्य नहीं है। उसके पहले लगे अंकों से ही उसका मूल्य बढ़ता है। आप लोग भी प्रायः माला जपते हैं। एक-दो नहीं, बल्कि उस जप की संख्या हजारों, लाखों और करोड़ों तक पहुँचा देते हैं, और अघमर्षण के लिए निरन्तर जप करते रहते हैं। परन्तु भारत की चिन्तन-धारा आपसे यह नहीं पूछती कि—आपने कितनी माला जपी, और अघमर्षण जप कितना किया? वह तो केवल एक ही बात पूछती है; अर्थात्—उस माला के साथ, और अघमर्षण जप के साथ आपका हृदय जुड़ा हुआ है या नहीं? कहीं हृदय की शृंखला जप से दूर तो नहीं पड़ी है, मणकों से मन का सम्बन्ध जुड़ा है या नहीं? उसके पीछे हृदय का, मन का, मस्तिष्क का, श्रद्धा का, भावना का, और त्याग-विराग का अंक लगा

है या नहीं ? यदि उसके पीछे हृदय का सही अंक लगा है, तो अघमर्पण होता रहेगा, जप का मूल्य भी द्रुत गति से बढ़ेगा और अवश्य ही जीवन विराट् बनेगा।

आप सामायिक करते हैं, उसकी संख्या का हिसाब भी रखते हैं। परन्तु अच्छा यह हो कि—संख्या की अपेक्षा; आप हृदय को साथ रखने की तरफ अधिक बल दें। भावार्थ यह है कि—यदि हृदय में पीयूष धारा प्रवहमान है और स्नेह का रस छलक रहा है, तो वह सामायिक जीवित सामायिक है, प्राणवान् सामायिक है। उस सामायिक का एक-एक क्षण जीवन को नव्य-भव्य प्रेरणा देता है। जिस परिवार में, समाज में, संघ में, अथवा राष्ट्र में ऐसी सामायिक होती रहती है, तो उस परिवार आदि को उससे नई ज्योति और नई चेतना मिलती है। यदि उसके साथ हृदय संयुक्त नहीं है, त्याग-विराग की ज्योति नहीं जल रही है, तो वह सामायिक मुर्दा है, निष्प्राण है, और जड़ वस्तु है। चाहे वह संख्या में एक है, तब भी मुर्दा है। और चाहे संख्या में सौ है, हजार है, अथवा लाख है, तब भी मुर्दा है। मुर्दे भले ही गिनती में कोटि-कोटि भी भी क्यों न हों, वे अन्ततः मुर्दे ही हैं, उनसे जीवन को कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती। उनसे न तो व्यक्ति का ही हित होता है, और न परिवार, समाज, संघ तथा राष्ट्र को ही कोई लाभ होता है; बल्कि अपनी निरर्थकता के नाते मुर्दे—परिवार, समाज, संघ, तथा राष्ट्र की प्रगति के लिए एक प्रकार के गतिरोधक रोड़े हैं, जिनका यथाशीघ्र समाप्त हो जाना ही हितकर होगा।

हाँ तो, बाहर भक्ति का रस छलकता है। देखने वालों को ऐसा मालूम होता है कि बहुत कुछ हो रहा है। आजकल कुछ लोग कहते हैं कि—युग बड़ा विचित्र है, कदम-कदम पर संभल कर चलना चाहिए, नहीं तो इस कलियुग के नास्तिक, धर्म को बरबाद कर देंगे। परन्तु मैं निर्भीकता पूर्वक कहता हूँ कि—"धर्म को नष्ट करने का, बरबाद करने

का यदि कोई खतरा है, तो वह श्रद्धा एवं निष्ठा विहीन आस्तिकों से है, नास्तिकों से नकदापि नहीं।"

आप जानते हैं, मुर्दे का कोई मूल्य नहीं होता। क्योंकि उसके शरीर में, निष्प्राण कंकाल में चेतना नहीं रहती; फलतः हरकत करने की ताकत विलीन हो जाती है। उसका शरीर परिवार, समाज एवं राष्ट्र के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता। उसमें स्नेह, प्रेम एवं वात्सल्य की अजस्र धारा प्रवहमान नहीं हो सकती। अस्तु, जिस व्यक्ति के जीवन में और हृदय में परिवार, समाज, धर्म एवं राष्ट्र के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है, सच्चा स्नेह नहीं है, सच्ची सद्भावना नहीं है, सच्ची सहृदयता नहीं है—वस्तुतः वह व्यक्ति मुर्दा है। इसी तरह जिस परिवार, समाज, संघ, एवं राष्ट्र के जीवन में प्रेम, सौजन्य एवं सहयोग की अभिनव ज्योति नहीं जग रही है—वह परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र भी मुर्दा है ! निर्जीव है !! निष्प्राण है !!!

जीवन का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि—आप खड़े हैं, आप चल रहे हैं, और आपके शरीर में रक्त की प्रक्रिया चालू है ! जीवन का वास्तविक अर्थ है—जिन्दा दिली; अर्थात्—आपके हृदय में अपने परिवार, समाज, एवं राष्ट्र के दायित्व को निभाने की क्रियाशील भावना !!

भारतवर्ष आपसे यह नहीं पूछता कि—आपने कितना काम किया ? चाहे वह भारतवर्ष ऋषभ युग का हो—तो क्या ? महावीर युग का हो—तो क्या ? बुद्ध और राम के युग का हो—तो क्या ? कर्मयोगी कृष्ण के युग का हो—तो क्या ? वह काम के विषय में यह कभी नहीं पूछता कि—तुमने कितना काम किया ! कितना दान दिया !! कितना जप-तप या सामायिक की ? वह तो केवल एक ही बात पूछता है— तुमने कितनी निष्ठा से काम किया ! कैसी निष्ठा से जप-तप या सामायिक की !!

आज आप धर्म के क्षेत्र में दौड़-धूप कर रहे हैं, और क्रिया-काण्ड का हिसाब भी लगा रहे हैं। परन्तु भारतीय चिन्तन-धारा तो आपसे केवल

यह जानना चाहती है कि—आपने धर्म के क्षेत्र में जो कुछ किया है, जो क्रिया-काण्ड और जप-तप का ढेर लगाया है, उसमें कितनी चमक है? धार्मिक निष्ठा के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तकों ने 'तोल' को नहीं, अपितु 'मोल' को ही महत्त्व दिया है। यद्यपि एक मन भर का पत्थर आकार और भार की दृष्टि से नाप-तौल में भले ही बड़ा दिखलाई दे, परन्तु आलोक की रश्मियों से प्रकाशमान नन्हे से हीरे के सामने वह एक मन का विशाल काय पत्थर कोई मूल्य नहीं रखता। तोल की दृष्टि से पत्थर भारी-भरकम है, और अपने विस्तृत आकार के द्वारा वह हजारों-लाखों हीरों की जगह भी रोक सकता है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से वह हीरे से परास्त हो जाता है। अस्तु, दुनिया में 'तोल' का महत्त्व बड़ा नहीं, बल्कि 'मोल' का महत्त्व बड़ा है। मोल का वास्तविक अर्थ है—उसमें पानी कितना है; अर्थात्—जितना अधिक पानी है, उतना ही वह पदार्थ मूल्यवान् है।

हाँ तो, आप भी अपने जीवन में झाँककर देखिए कि—आप जो क्रिया-काण्ड कर रहे हैं, उसमें पानी कितना है! चेतना कितनी है!! और परिवार, समाज, संघ, तथा राष्ट्र के प्रति दायित्व निभाने की भावना कितनी है!!! बस, इस विशुद्ध भावना के पीछे ही उसका वास्तविक मूल्य है।

मैं पूछता हूँ—आपके ज्ञान का केन्द्र—मस्तिष्क बड़ा है, या हृदय? कर्म के केन्द्र—हाथ-पैर बड़े हैं, या हृदय? इसका उत्तर होगा—'हृदय बड़ा है।' हृदय का अर्थ है—श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा, प्रेम तथा स्नेह। अस्तु, आप जहाँ भी रहें, और चाहे जैसी स्थिति में रहें—प्रेम को विस्मृति के गहन अंधकार में न ढकेलें। भले ही आप परिवार में रहें, समाज में रहें, राष्ट्र में रहें; कहीं भी रहें ··सभी जगह प्रेम के साथ रहें। यदि घर-गृहस्थी के छोटे-से दायरे में रहें, तब भी प्रेम को न भूलें। आपके अन्दर प्रेम ही एक ऐसी शक्ति है, जो आपके जीवन को—परिवार, समाज, धर्म एवं राष्ट्र के साथ जोड़े हुए है। प्रेम के

अतिरिक्त दुनिया में ऐसा कोई कानून नहीं है, जो आपके मन और मस्तिष्क पर नियंत्रण रख सके।

कानून के सम्बन्ध में यह शाश्वत सत्य भी प्रकट करना चाहूँगा कि—कानून की प्रतिक्रिया व्यक्ति के हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों पर प्रतिबन्ध लगा सकती है, और उस के अनुसार व्यक्ति के हाथ-पैर भी बाँधे जा सकते हैं, किन्तु हृदय को बाँधने की शक्ति कड़े-से-कड़े कानून में नहीं है। इतिहास साक्षी है कि जिन व्यक्तियों ने जिनके परिवारों को कत्ल कराकर राज-सिंहासन प्राप्त किए, उनके वंशज उन क्रूर आततायियों को सम्राट् अवश्य मानते रहे, उनके सामने विनत भी होते रहे; परन्तु उनके हृदय के घाव अन्त तक भरे नहीं। उनके अन्तस्तल में प्रतिशोध की आग प्रतिपल धधकती ही रही। भावार्थ यही है कि—किसी भी शासन-तंत्र की कड़ी-से-कड़ी कानूनी शक्ति से केवल शरीर पर ही अधिकार किया जा सकता है, हृदय पर कदापि नहीं। हृदय पर शासन करने के लिए प्रशासकीय कानून की आवश्यकता नहीं; अपितु शाश्वत प्रेम चाहिए! स्नेह चाहिए!! एवं वात्सल्य भाव चाहिए!!!

अस्तु, अभिप्राय यही है कि—यदि परिवार, समाज, पंथ तथा राष्ट्र के जीवन में जागृति तथा प्रगति लाना है, और साथ ही अपने जीवन को भी गतिशील बनाना है, तो पहले मन को माँजिए। हृदय को माँजिए। शौच से लौटने के बाद आप लोटा माँजने बैठते हैं, तो उसे बाहर से खूब रगड़ते हैं, उसके ऊपरी हिस्से को चमकाते रहते हैं, परन्तु भीतरी भाग को उतना साफ नहीं करते। बाहर से रगड़ते-रगड़ते, कभी-कभी एक-दो हाथ भीतर फेर देते हैं, इससे ज्यादा नहीं। इसी तरह घरों में बहनें भी बर्तन साफ करती हैं, तो उन्हें बाहर से भव्य बना देती हैं। परन्तु बाहर की अपेक्षा वस्तुतः अन्दर के हिस्से को अधिक माँजने की जरूरत है, क्योंकि आखिर वस्तु तो अन्दर ही रखना है न ?

किन्तु दुर्भाग्य है कि—आज मनुष्य वाहरी जीवन को चमकाने में लगा हुआ है। आपके रहन-सहन में चमक आ रही है, बँगले की वनावट में भी चमक आ रही है। और आप साज-सजावट में चमक लाने में प्रयत्नशील हैं, विवाह-शादी में भी नित नई चमक ला रहे हैं। इस प्रकार वाहरी क्रिया-काण्ड में चमक लाने का भरसक प्रयास चल रहा है। परन्तु जरा अन्तस्तल में झाँक कर तो देखो कि—अन्दर का जीवन कितना चमक रहा है ? किन्तु अन्दर झाँकने का कौन कष्ट करे, क्योंकि इतना समय भी तो नहीं है ! वाहरी झगड़ों में उलझे हुए आज के मानव को आत्म-दर्शन की फुरसत भी तो नहीं है !!

परन्तु याद रखिए ! संसार में दो चीजों में से एक ही रहने वाली है—प्रेम या द्वेष । एक छोटी-सी घटना है—एक नन्हा-सा वच्चा, जिसका मन खेल-कूद के लिए मचल रहा था, वह इधर-उधर भागने का मौका देख रहा था ।अपने पिता की दृष्टि वचा कर भागने के लिए उसने कदम उठाया ही था, कि—पिता ने उसे देख लिया, और गर्जते स्वर में पूछा—कहाँ जा रहा है ?

पुत्र ने भय से काँपते हुए धीमे से कहा—अमुक साथी के यहाँ खेलने जा रहा हूँ।

पिता ने डाटते हुए कहा—वह लड़का वहुत वदमाश है, शैतान है, गुण्डा है, और अवारा है; अतः उसके साथ खेलने कभी मत जाना !

इस ताड़ना से लड़के के कदम वहीं रुक गए, परन्तु कुछ देर खड़ा रहकर वह फिर चल पड़ा ।

पिता ने फिर पूछा—कहाँ भगे जा रहे हो ? तो इस वार पुत्र ने साहस के साथ कहा—उस वदमाश लड़के से लड़ने जा रहा हूँ।

आप ही कहिए—इस साहस पूर्ण उत्तर का क्या अर्थ निकला ?

यही कि—यदि वह भला है, तो उसके साथ प्रेम से खेलूँगा; और यदि वह बुरा है, तो उससे लड़ूँगा।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि—मनुष्य के सामने दो विकल्प हैं—एक प्रेम का, और दूसरा द्वेष का। दुनिया में घृणा और द्वेष के विकल्प परखे गए हैं। प्रत्येक काल में और प्रत्येक परिस्थिति में उनका परीक्षण होता रहा है, और आज भी हो रहा है। उससे मानव-जाति का आज तक कोई भी हित नहीं हुआ, और आगे भी होने वाला नहीं है। उसने मानवता को बर्बाद किया है और धर्म को कुचला है। आज का अभावग्रस्त मनुष्य घृणा और द्वेष की आग जलाकर सुख और शान्ति का स्वप्न देखता रहा है, पर वह उन्हें अभी तक पा नहीं सका। क्या आग कहीं आग को बुझा सकती है ? नहीं ! वह तो बुझती हुई को और भी अधिक प्रदीप्त कर देती है। अतः भगवान् महावीर के उत्तराधिकारियों ने स्पष्ट आघोष किया है—

"हम आग बुझाने वाले हैं,
हम आग लगाना क्या जानें।"

हाँ तो, द्वेष के दावानल को बुझाने वाले ही यदि आग बरसाने लगें, तो फिर क्या उपाय करें। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा है—"जब कहीं आग लगती है तो मनुष्य उसे बुझाने के लिए कुए, नदी, या तालाब से पानी लाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश जब पानी में ही आग की ज्वाला प्रज्वलित हो उठे, तो फिर उसे कैसे बुझाया जाए ?

आज विश्व में काम, क्रोध, घृणा, लोभ, मोह और भेद-भाव की आग जल रही है। इसी धधकते हुए दावानल में मनुष्य स्वयं भी जल रहा है, परिवार भी जल रहा है, समाज भी जल रहा है, तथा राष्ट्र भी जल रहा है ! और उस आग को बुझाने वाले हैं—धर्म गुरु, धर्मोपदेशक, और धर्मोपासक !! परन्तु जब पंथ और धर्म में ही आग लग जाए, तो उसे कौन बुझाए ?

कथन का भावार्थ यही है कि—धर्मगुरु; अर्थात्—साधु-साध्वी जब आपस में लड़ने-झगड़ने लगें, प्रतिद्वन्द्वी के रूप में संघर्ष के मैदान में उतर आएँ, और एक-दूसरे की मान-प्रतिष्ठा पर निस्संकोच प्रहार करने लगें, तो उस आग को कैसे बुझाया जाए ? जब धर्म-शास्त्रों में ही व्यक्तिगत विषय-विकारों की आग लग जाए; अर्थात्—जैनागम, वेद या त्रिपिटक आदि धर्म-शास्त्र ही आग के शोले बरसाने लगें, तो उसे बुझाने कहाँ जाएँगें। मैं यह बात केवल ऊपरी दृष्टि से और भावावेग में नहीं कह रहा हूँ, बल्कि आत्म-निरीक्षण के आधार पर हृदय के कण-कण से कह रहा हूँ। आज तो चारों तरफ, जिधर भी देखो आग ही आग जल रही है, कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं रहा है। यहाँ तक कि अहिंसा और शांति के प्रसारक 'श्रमण-संघ' में भी आग की ज्वालाएँ निर्बाध गति से प्रज्वलित हो रही हैं।

ऐसी तप्तावस्था में आज आप भगवान् से तो प्रेम करना चाहते हैं; परन्तु अपने सहोदर भाई से, पड़ौसी से, और समाज से प्रेम करना नहीं चाहते। प्रातः उठते ही पत्नी से महाभारत शुरू कर देते हैं। यदि किसी दिन रोटी जरा नर्म बन गई, तो दिमाग गर्म हो जाता है; और रोटी जरा-सी कड़ी बन गई, तब भी क्रोध भभक उठता है। मिट्टी के छोटे-से घरौंदे के लिए भाई का खून बहाने को तैयार हो जाते हैं। इस मिट्टी के घर का छोटा-सा टुकड़ा यदि इधर या उधर रह जाए, तो आप उसका फैसला स्वयं नहीं कर पाते। कौम के छोटे-छोटे झगड़े तथा दस्से-बीसे के जरा-से विवाद को आपस में हल नहीं कर सकते। एक धर्म को मानने वाले एक-साथ बैठकर बात नहीं कर सकते ? धर्म के पवित्र स्थान में भी जातीय एवं सामाजिक अहंकार की दुर्भेद्य दीवारें खड़ी कर देते हैं और नारा लगाते हैं—सम्पूर्ण विश्व में धर्म की अखण्ड ज्योति जगाने का ! दुनिया को आर्य बनाने का !! और संसार में जैनत्व फैलाने का !!!

सारांश में यही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि अच्छा तो यही होगा, कि—"पहले आप अपने जीवन में प्रेम की, धर्म की, और जैनत्व की दिव्य ज्योति जगा लें। अपने मन और मस्तिष्क में एक रूपता ले आवें। जब आपके अन्तर्जीवन में धर्म का प्रभास्वर आलोक चमक उठेगा, तो फिर बाहर में उसकी प्रभा स्वतः ही प्रकाशमान हो उठेगी, और फिर जन-जन का मन सहज ही उस दिव्य ज्योति से जगमगा उठेगा।"

दिनांक
९-१२-५६

लाल भवन (जयपुर)